डॉ. दीपक सिंह

वर्तमान में राजीव गांधी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय अम्बिकापुर में सहायक प्राध्यापक हिन्दी के पद पर कार्यरत हैं। शुरुआती शिक्षा गांव से लेने के बाद उन्होंने स्नातक से लेकर पीएचडी तक की अपनी पढ़ाई इलाहाबाद विश्वविद्यालय से की है। अध्ययन-अध्यापन में गहरी रुचि।

डॉ. उमेश कुमार पाण्डेय

राजीव गांधी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय अंबिकापुर में हिंदी के असिस्टेंट प्रोफेसर हैं। प्रारंभिक शिक्षा गांव और रीवा से। आगे की पढ़ाई इलाहाबाद विश्वविद्यालय से। जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली से पीएचडी की उपाधि। आदिवासी जीवन के विभिन्न पहलुओं पर कई शोध आलेख प्रकाशित। आदिवासी जीवन और संस्कृति पर गंभीर अध्येता की छवि।

मूल्य : ₹ 350/-

ISBN 978-81-19335-59-6

रुद्रादित्य प्रकाशन
190 एच/आए/3-ए, ओ.पी.एस. नगर, बक्शिपुरा,
इलाहाबाद (उ.प्र.) पिन-211011 फोन 8187937731

साहित्य और पर्यावरण

डॉ. दीपक सिंह | डॉ. उमेश कुमार पाण्डेय

साहित्य और पर्यावरण

संपादक
डॉ. दीपक सिंह
डॉ. उमेश कुमार पाण्डेय

साहित्य और पर्यावरण

सम्पादक
डॉ. दीपक सिंह
डॉ. उमेश कुमार पाण्डेय

रुद्रादित्य प्रकाशन
प्रयागराज

ISBN : **978-81-19335-59-6**

RUDRADITYA PRAKASHAN
109, H/R/3-N, O.P.S. Nagar,
Kalindipuram, Prayagraj—211011
Mobille : 8187937731, 8175030339
Email : rudraditya00@gmail.com

Branch : Kaushambi Road, Jhalwa, Prayagraj

Edition : 2023

© Writer

Type Setting : Rudraditya Prakashan D.T.P. Unit

Cover Design : Raj Bhagat

Bhargava Printer

Price : ₹ 450.00

साहित्य और पर्यावरण

भूमिका

प्रकृति से मनुष्य का संबंध द्वंद्वात्मक रहा है। प्रकृति से संघर्ष और उसके संरक्षण के बीच ही मनुष्य ने साहित्य, संगीत व विविध कलाओं का सृजन किया है। लहरों, झरनों, पक्षियों के कलरव के बिना क्या किसी संगीत की कल्पना की जा सकती है? इसी तरह चित्रकला हो या वास्तुकला अथवा भौगोलिक-वैज्ञानिक अनुसन्धान, प्रकृति सबकी मूलाधार रही है। अपनी अस्तित्व रक्षा हेतु एक तरफ हमने प्रकृति से संघर्ष किया तो वहीं दूसरी ओर देवता की तरह उसकी पूजा कर उसके प्रति अपनी कृतज्ञता भी प्रकट की। आज प्रकृति से हमारा यह संबंध विछिन्न हो चुका है।

बीसवीं सदी विकास और पर्यावरण संरक्षण के अंतर्द्वंद्व से संचालित रही है। दुनिया के तमाम विकसित और विकासशील देशों ने आर्थिक उन्नति प्राप्त करने के नाम पर विकास के ऐसे मॉडल को अपनाया जिसमें पर्यावरण का विनाश अनिवार्य था। विकास की इस अवधारणा ने वैज्ञानिकों, पर्यावरणविदों और आम जनमानस की चिंताओं को विकास विरोधी बताकर हाशिये पर डाल दिया है। आज जहाँ हम खड़े हैं वहाँ प्रकृति का अतिशय दोहन प्राणिमात्र का संकट बन चुका है। तमाम जीव-जंतु विलुप्त हो चुके हैं या विलुप्ति के कगार पर हैं। प्रकृति का अपना सफाई कर्मी गिद्ध धरती से गायब हो चुका है। ऋतुक्रम में अनियमितता सामान्य बात हो चुकी है। संसार की अधिकांश नदियों की जैव विविधता, जल की निर्मलता अनियंत्रित विकास की भेंट चढ़ चुकी है। भारत में गंगा नदी इसका ज्वलंत उदहारण है। जब कोई नदी मरती है तो सिर्फ नदी नहीं मरती उसके साथ एक सभ्यता मरती है। बोल्गा से गंगा तक हो या नील से अमेजन तक मनुष्य के फलने-फूलने का इतिहास नदियों से जुड़ा हुआ है।

बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में बड़े पैमाने पर साहित्य का लोकतंत्रीकरण हुआ है। स्त्री, दलित, आदिवासी जैसे हाशिये के स्वरों ने साहित्य में अपनी मजबूत उपस्थिति दर्ज की है। पर्यावरणीय दृष्टि से देखा जाय तो आदिवासी साहित्य ने (आदिवासियों और गैर आदिवासियों द्वारा लिखित) जल-जंगल-जमीन को प्राणिमात्र के अस्तित्व के साथ जोड़कर देखे जाने की व्यापक दृष्टि साहित्य को प्रदान की है। आदिवासी जीवन दर्शन प्रकृति और मनुष्य के बीच संतुलन का शानदार उदहारण प्रस्तुत करता है वह प्रकृति से सिर्फ आवश्यकता भर ग्रहण करने का हिमायती है। प्रकृति उसके स्व में निहित है, वह किसी भी तरह प्रकृति को अन्य नहीं मनाता और न ही मनुष्य की सर्वश्रेष्ठता का पक्षधर है। प्राचीन भारतीय वांग्मय में भी पृथ्वी को माता कह कर उसे चेतन स्वरूप में स्वीकार किया गया है। रवीन्द्र नाथ टैगोर का गीत 'अमार सोनार बांग्ला' प्रकृति के चेतनामय स्वरूप की विराट अभियक्ति है। लालच की सभ्यता ने मनुष्य और प्रकृति के सहयोगी रिश्ते को छिन्न-भिन्न कर मानवता के समक्ष अभूतपूर्व संकट खड़ा कर दिया

है। बीसवीं शदी के तीसरे दशक में ही जयशंकर प्रसाद ने अपनी कालजयी कृति कामायनी के माध्यम से समूची मानवजाति को भोग और विलास की संस्कृति के खतरे के खिलाफ चेतावनी देते हुए प्राकृतिक जीवन-दर्शन की रूप-रेखा हमारे सामने प्रस्तुत की थी लेकिन हमारी सत्ता संरचना ने उसका संज्ञान नहीं लिया—

बधी महावट से नौका थी, सूखे में अब पड़ी रही
उतर चला था वह जल-प्लावन, और निकलने लगी मही
निकल रही थी मर्म वेदना करुण विकल कहानी सी,
वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही, हँसती सी पहचानी सी !

अतिशय भोग और लालसा ने ही देव सभ्यता का विनाश किया था। यह त्रासदी ही कही जाएगी कि हमने कामायनी जैसी बौद्धिक उपलब्धि से कुछ नहीं सीखा। साथ ही गाँधी जी द्वारा प्रस्तावित आर्थिक ढांचे और लालच की संस्कृति से बचने के प्रस्ताव को भी विकास के रास्ते में बाधा के रूप में देखा गया। स्थिति यहाँ तक आ पहुंची है कि न हवा साफ बची है न पानी। हमारे पूर्वजों ने कभी सोचा भी नहीं होगा कि एक दिन ऐसा भी आयेगा जब पानी, हवा, बाजार से खरीदे जायेंगे। विकास की तमाम ऊँचाइयाँ लांघ कर भी हम एक तितली का जीवन संरक्षित कर पाने में नाकाम हैं। आज पर्यावरण का जो संकट हमारे सामने खड़ा है वह अतिशय भोग और लालसा की ही उपज है।

प्रकृति से साहित्य का सम्बन्ध हवा-पानी की तरह है। पूरी दुनिया की लोक कथाओं, गीतों और प्रर्थानाओं में प्रकृति विविध रूप में अभिव्यक्त हुई है। प्रकृति की शक्ति, सौन्दर्य गान से शुरू हुई यह यात्रा आज पर्यावरण संकट से रूबरू है। एक युद्ध जैसी स्थिति हर समय हमारे समक्ष बनी हुई है। 'नई कॉलोनी' कविता में दिनेश कुमार शुक्ल लिखते हैं—

'अरावली पर्वतमाला फिर हार मानकर
आज और कुछ ज़्यादा पीछे खिसक गयी है
भय से आँखें बन्द किये मैं देख रहा हूँ
इन्द्रप्रस्थ के पास खांडव-वन को खाता
छिड़ा हुआ इक घमासान है–
जिसमें धरती हार रही है'

धरती की हार प्राणी-मात्र की हार होगी। धरती के संघर्ष में हम सभी को भागीदार बनना होगा और लौटना होगा प्रकृति की ओर। प्रस्तुत पुस्तक 16-17 मार्च 2023 को राजीवगांधी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय अंबिकापुर में 'साहित्य और पर्यावरण' विषय पर आयोजित अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार में पढ़े गए पर्चों का संकलन है। उम्मीद है कि पुस्तकाकार रूप में यह पर्यावरणीय सरोकारों को बढाने और हिन्दी क्षेत्र में एक सार्थक बहस को संचालित करने में मददगार होगी।

●●●

अनुक्रम

भूमिका 5

1. आदिवासी साहित्य और प्रकृति का सह-अस्तित्व —डॉ. विश्वासी एक्का 9
2. मनुष्य का जीवन और पारिस्थितिकी तंत्र —नीलाभ कुमार 15
3. समकालीन साहित्य में पर्यावरणीय चिन्तन —डॉ. के. आशा 22
4. लोक गीतों में प्रकृति के विविध रूप —अजय कुमार तिवारी 26
5. डॉ. श्यामसुन्दर दुबे के साहित्य में पर्यावरणीय चिन्तन —जीतन राम पैकरा 34
6. केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में प्रकृति एवं खेती-किसानी —डॉ. बृजेश कुमार पाण्डेय 45
7. Climate Change and Water Crisis in Eco-films *Kadvi Hawa* and *Turtle* —Dr. Bhanupriya Rohila 51
8. Ecocritical Reading of Literature : Understanding the Silencing of Nature —Dr. R.P. Singh 60
9. टिकाऊ कृषि तंत्र एवं स्मार्ट कृषि-एक सैद्धांतिक विश्लेषण —डॉ. अनिल कुमार सिन्हा, दीपिका स्वर्णकार 68
10. पर्यावरण व पारिस्थितिकी का स्वरूप एवं अंतःसंबंध —वी सुगुणा 81
11. राजस्थानी चित्रकला में प्रकृति —कमल किशोर कश्यप 88
12. साहित्य में पर्यावरण संरक्षण एवं संचेतना : एस आर हरनोट —संजीव कुमार मौर्य 92
13. पर्यावरण व गहन पारिस्थितिकी : गाँधी एवं अंबेडकर की नजर से —गोपाल 104
14. बोधकथा साहित्य एवं पर्यावरण चिंतन —सुशील कुमार तिवारी 112
15. यह नरम-हरा-कच्चा संसार —ऋचा वर्मा 122
16. मानव और प्रकृति का अंतर्संबंध तथा समकालीन हिंदी उपन्यास —प्रियंका जायसवाल, डॉ. उमेश कुमार पाण्डेय 129
17. हिंदी उपन्यासों में व्यक्त पर्यावरणीय प्रदूषण एवं खतरे —अक्षतानंद पाण्डेय 135
18. प्राकृतिक संसाधन का दोहन और पर्यावरणीय संकट —डॉ. क्रेसेन्सिया टोप्पो, डॉ. सुशील कुमार टोप्पो 142
19. पर्यावरण संरक्षण : हड़प्पा और वैदिक सभ्यता —डॉ. अजय पाल सिंह 147
20. आदिवासी साहित्य में जल-जंगल और जमीन का संघर्ष —डॉ. कुसुम माधुरी टोप्पो 150
21. कालिदास के साहित्य में पर्यावरण रक्षा के उपाय —राजीव कुमार 157

22. फाँस उपन्यास में अभिव्यक्त पर्यावरण संकट और किसान जीवन
—श्रीमती स्नेहलता खलखो, डॉ. उमेश कुमार पाण्डेय 163
23. महाकवि कालिदास के काव्यों में प्रकृति का स्वरूप —महेश कुमार अलेंद्र 170
24. आदिवासी कविता में पर्यावरण चिंतन —मनोरमा पाण्डेय 181
25. छत्तीसगढ़ी उपन्यास 'पखरा ले उठे आगी' में व्यक्त प्रकृति और संस्कृति का
समन्वय —डॉ. (श्रीमती) अलका पंत, श्रीमती वंदना रानी खाख़ा. 189
26. हिंदी साहित्य में प्रकृति और पर्यावरण : विजय राठौर के काव्य के
संदर्भ में —गोवर्धन प्रसाद सूर्यवंशी, डॉ. पुनीत कुमार राय 197
27. ऋषि दयानंद के साहित्य में पर्यावरण चिंतन —डॉ. अजय आर्य 208
28. भारत में पूँजीवाद और जलवायु संकट —धवल गुप्ता 214
29. पर्यावरण एवं राजनीतिक चिंतन —मुकेश कुमार सिंह 220
30. प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन —डॉ. कमलेश दुबे 225
31. आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल में प्रकृति —कसीरा जहाँ 234
32. छायावादीयों कवियों के काव्य में प्रकृति चित्रण-निराला के
संदर्भ में —शिवशंकर राजवाड़े 243
33. सत्यभामा आडिल की आधुनिक कविताओं में प्रकृति —सीमा मिश्रा 250
34. पर्यावरण संरक्षण में समकालीन हिन्दी साहित्य एवं मीडिया
की भूमिका —रश्मि पाण्डेय 254
35. आधुनिक काल में प्रकृति —प्रियंका मिश्रा 260
36. मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियों में प्रकृति —अफीफा फातिमा शेक,
डॉ. पूर्णिमा श्रीनिवासन 270
37. डॉ. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग' का रचना संसार और
प्रकृति के विविध रंग —श्रीमती संगीता शर्मा 275
38. प्रेमचंद की कहानियों में प्रकृति वर्णन—सतीश कुमार धीवर 287
39. आदिवासी साहित्य में जल, जंगल और जमीन का संघर्ष —कल्पना सिदार 293
40. अज्ञेय के काव्य में प्रकृति —ज्योति कमल 299
41. मंगलेश डबराल की कविताओं में जल, जंगल और ज़मीन
—श्रीमती रामेश्वरी दास 306
42. गांधीवादी दर्शन और पर्यावरण संरक्षण —श्रीमती निशा शर्मा 314
43. तुलसीदास के काव्य में प्रकृति चित्रण —नेहा विश्वकर्मा 319
44. Ecopoetry and Sustainable Development —Dr. Nidhi Mishra 324
45. Conservation of some Medicinal Plants in Balrampur, C.G.
—Laxmi Singh 330
46. पर्यावरण असंतुलन : 'जहाँ बाँस फूलते हैं' उपन्यास के सन्दर्भ में
—लक्ष्मी के. एस. 337

●●●

आदिवासी साहित्य और प्रकृति का सह-अस्तित्व

डॉ. विश्वासी एक्का

सहायक प्राध्यापक-हिन्दी

राजमोहिनी देवी कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अम्बिकापुर

आदिवासी लेखन, उल्लास और प्रतिरोध के साहित्य के साथ-साथ प्रकृति के साथ सहअस्तित्व का भी साहित्य है। आदिवासी साहित्य लेखन में गैर आदिवासी समाज से संबंध रखने वाले साहित्यकार हैं तो आदिवासी समाज से आनेवाले साहित्यकार भी साहित्य सृजन कर रहे हैं। दूसरे वर्ग से आनेवाले साहित्यकारों की कृतियां इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि उसमें विषय वस्तु की गहरी समझ दिखाई देती है जिससे पाठकों में विश्वास पुख्ता होता है। पाठकीय रुचि जागृत होती है। मानव ही नहीं मानवेतर जगत से सहअस्तित्व ही जीवन का आधार है यह आदिवासी साहित्यकार समझता है। अतः उनके साहित्य में सह-अस्तित्व का भाव दृष्टिगोचर होता है।

प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य आदिवासी साहित्य में मानव और प्रकृति के सहजीविता की पहचान के साथ सम्पूर्ण मानव जाति में सह-अस्तित्व की भावना का विकास करना है। उनमें प्रकृति के संरक्षण और संवर्धन का भाव जागृत करना है। मानव और मानवेतर जगत की पारस्परिकता से ही जीवन का विकास होता है।

प्रकृति के साथ छेड़छाड़, घटते जंगल, प्रदूषित होती नदियाँ, विलुप्त होती जीव प्रजातियां, जलवायु परिवर्तन केवल आदिवासियों के अस्तित्व का संकट नहीं वरन सम्पूर्ण मानवता और मानवेतर प्राणी जगत के लिए भी खतरा है। आदिवासी साहित्य इस खतरे की बात करता है, उसकी चिंता प्रकृति को अपने वास्तविक रूप में बनाये रखने की है, यह तभी संभव होगा जब मानव और मानवेतर जगत के बीच सहअस्तित्व का भाव हो।

आदिवासी जनजीवन पर केन्द्रित साहित्य एक विशिष्ट साहित्य है, उसकी एक विशिष्ट पहचान ही साहित्य की विभिन्न विधाओं को रूपायित कर रहा है। अलिखित वाचिक परम्परा को स्रोत बनाये हुए आदिवासी साहित्यकारों ने साहित्य लेखन की शुरूआत की।

लोकगीतों, लोककथाओं लोकोक्तियों-मुहावरों के रूप में विगत पाँच हजार वर्षों की धरोहर उनके आदिवासी जीवन में सन्निहित है।

आज आदिवासी साहित्य 90 भाषा और बोलियों में लिखा जा रहा है।[1]

आदिवासी साहित्य में प्रकृति के सह-संरक्षण और संवर्धन की चिंता दिखाई देती है। पेड़-पौधों और समस्त जीवों के प्रति संवेदना आदिवासी साहित्य को एक अलग पहचान देती हैं। आदिवासी साहित्य लेखन में आदिवासी और गैर आदिवासी दोनों वर्गों के सहित्यकार रचनारत हैं, लेकिन आदिवासी साहित्यकारों की रचनाओं में आदिवासियत जो सहजीविता पर आधारित है कहीं अधिक दिखाई पड़ती हैं, वह आरोपित नहीं वरन् सहजता लिये हुए, भाषायी आडंबर से मुक्त आदिवासी जनजीवन की तरह नैसर्गिक सौन्दर्य से पूरित है।

आदिवासियों के टोटम पेड़-पौधों, पक्षियों, मछलियों और जानवरों पर आधारित होते हैं। अपने टोटम से संबंधित पेड़ों और जीवों से उनका अगाध लगाव दृष्टिगोचर होता है, वे उनके संरक्षण और संवर्धन में तत्पर दिखाई देते हैं, वे अपने टोटम के प्रति आस्थावान दिखाई देते हैं और यहीं से उनके मानवेत्तर जगत से भी सह-अस्तित्व की भावना का विकास होता है।

कवि सी.एल.सांखला की पंक्तियाँ है—

''और तुम बार-बार 'जंगली' कह कर दुत्कारते रहो उन्हें/मगर मैं गाली नहीं आशीष मानता हूँ।''[2] 'जंगली' कहाना/एक जंगल ही है मेरा घर।

ग्रेस कुजूर लिखती है—

''कहाँ है वह फुटकल गाछ/जहाँ चढ़ती थी मैं साग तोड़ने और गाती थी तुम्हारे लिए फगुआ के गीत/जाने के किधर है कोमल पत्तियों वाला गाछ/जिसके नीचे तुम बजाया करते थे। मांदर और बाँसुरी।''[3]

कवि प्रभात, प्रकृति के विघटन से आहत है वे कहते हैं—

''क्या प्रकृति की गंध जैसी चीज भी उड़ जायेगी हमारी धरती से/चील की तरह।''[4]

वन संरक्षण अधिनियम के तहत मध्यप्रदेश के एक वनांचल को संरक्षित क्षेत्र घोषित करके किसी भी प्रकार के पेड़ या अन्य वनस्पति को काटने पर रोक लगाई गई। वहाँ के आदिवासियों में यह तर्क देकर सीमित विरोध जताया गया कि उस जंगल में पैदा होने वाली 'महाल' नाम की बेल, जिससे वे लोग रस्सी बनाकर जीवनयापन करते हैं, यदि उसे समय-समय पर नहीं काटा गया तो उनकी आर्थिक दशा पर तो विपरीत प्रभाव पड़ेगा ही, साथ ही अन्य पेड़ पौधों को भी नुकसान होगा, चूँकि महाल अधिक फैल जाने से अन्य पेड़-पैधों

को जकड़ लेती है जिससे उनकी वृद्धि रूक जाती है, जंगल पेड़-पौधों के संरक्षण-संवर्धन के लिए अनिवार्य है कि कुछ अवधि के जंगल से महाल की कटाई की जाये। यहाँ यह महत्वपूर्ण है कि एक ओर आदिवासियों की अजीविका की तो परवाह नहीं की गई, साथ ही जंगल से संबंधित पुश्तैनी ज्ञान से जितना लाभान्वित हुआ जा सकता था, उसे भी दरकिनार किया गया।''[5]

आज भारत ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व के सामने दूसरी बड़ी कोई समस्या है तो वह है पर्यावरण संतुलन की। भारतीय संस्कृति ही क्या, विश्व की प्राचीन संस्कृतियों में पर्यावरण संतुलन के सूत्र खोजे जा सकते हैं। ऐसे सूत्रों के होने का आधारभूत कारण उन संस्कृतियों के आदिम सरोकार हैं जो आदिवासियों का प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण का ही प्रमाण है। देखने वाली बात यह है कि ऐसी संस्कृतियों को महान और गौरवशाली माननेवालों के मन में पर्यावरण संतुलन के प्रति चेतना कितनी है। आदिवासी समाज में आज भी वह चेतना जीवित है। भारतीय संदर्भ में, भौतिक दृष्टि से सर्वाधिक पिछड़े और आदिम शैली का जीवन जीने वाले अण्डमान के आदिवासियों का दृष्टांत देखा जा सकता है। जारवा और सेंटेनली जैसी दो प्रजातियाँ हैं वहाँ। अलग-अलग जंगलों में रहते हैं वे लोग। गैर आदिवासियों को वे शत्रु मानते हैं क्योंकि इतिहास बताता है कि उन्हें पहले बहुत सताया गया है। सन्न 1859 की अबेर्रीन की लड़ाई ऐतिहासिक वास्तविकता है। वे आदिवासी अभी भी पका हुआ खाना नहीं खाते, कपड़े नहीं पहनते, कृषि या बागवानी या कोई और कुटीर उद्योग उत्पादन नहीं करते, झोपड़ी नहीं बनाते, संचय की अवधारणा से कोसों दूर हैं। लेकिन जो बहुतायत से प्रकृति में उपलब्ध है उसे इस्तेमाल करते हैं और जो कमतर हो उसका संरक्षण। उदाहरणार्थ हिरण कम है। तो उसमें मृतक बुजुर्गों की आत्मा का वास मानते हैं'। सुअर अधिक हैं तो उन्हें खाते हैं, हरियल (हरा कबूतर) कम है तो उनमें, पैदा होने वाले शिशुओं की आत्मा का वास मानते हैं—इसलिए पवित्र दृष्टि से देखते हैं। प्रकृति के संकेतों को वे समझते हैं। प्रकृति के सगे हैं वे इसलिए पर्यावरणीय चेतना उनके भीतर है।[6]

आदिवासी साहित्यकार के भीतर पर्यावरणीय चेतना है, उसके प्रति संवेदना है। अतः उनके कहन की मूल प्रवृति आदिवासियत है। बिना लाउड हुए सच को सच कहना बड़ी बात होती है। अनुज लुगुन की प्रस्तुत कविता इसका सटीक उदाहरण है—

इससे हास्यास्पद और क्या हो सकता है कि/मेरे घर की मुर्गियाँ खो गई हैं/ सुअर दड़बों सहित गायब है/ हल जोतते बैल या तो खेतों में समा गए हैं/ या खेत दब गये होंगे गोबर से/ नदी अपना रास्ता बदलकर गाँव में घुस गई होगी/या पूरा गाँव, गाँव सहित नदी में डूब गया होगा।[7]

प्रकृति के साथ छेड़छाड़, घटते जंगल, जलवायु परिवर्तन, प्रदूषित होती नदियाँ, विलुप्त होती जीव प्रजातियाँ केवल आदिवासियों के अस्तित्व का संकट नहीं वरन् संपूर्ण मानवता और मानवेतर प्राणी जगत के लिए भी खतरा है। आदिवासी साहित्य इस खतरे की बात करता है, उसकी चिंता प्रकृति को अपने वास्तविक रूप में बचाये रखने की है। अतः कई बार आदिवासी साहित्य में प्रतिरोध और उग्रता भी उभर आती है। महादेव टोप्पो की पंक्तियाँ हैं—

वह धनुष उठायेगा/ और जंगल के हरेपन की खातिर जंगल का कवि मांदर
बजायेगा/बांसुरी बजायेगा/ चढ़ाकर प्रत्यंचा पर कलम।

वहीं ग्रेस कुजूर कलम की ताकत को बंदूक की ताकत से भी बड़ा मानते हुए कहती हैं—

क्या कर लेगी उनकी बंदूक ओर गोलियाँ
लाँघते ही देहरी हजारों कहानियाँ
नस-नस हो गई कमान
सब लहू तीर/देखना बाकी है
कलम को तीर होने दो।

आदिवासी किसी भी कीमत पर जल, जंगल को बचा लेना चाहता है क्योंकि उसे पता है कि उनका अस्तित्व उन्हीं पर आधारित है।

एलिस एक्का, पहली महिला आदिवासी कथाकार हैं। रोज केरकेट्टा की कहानियाँ आदिवासियत की ताजगी से परिपूर्ण है। वाल्टर भेंगरा तरूण के उपन्यास और कहानियाँ प्रकृति के सह-अस्तित्व पर केन्द्रित हैं। फादर पीटर पॉल एक्का के उपन्यास और कहानियों के शीर्षक ही प्रकृति के प्रति लगाव और बचाव को स्पष्ट करते हैं जंगल के गीत, पलाश के फूल, सोन पहाड़ी, खुला आसमान बंद दिशायें, क्षितिज की तलाश, परती जमीन उनकी महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं।

आदिवासी सदियों से जंगल में रहते आये हैं, अतः वे जंगल को नष्ट करना नहीं वरन बचाये रखना चाहते हैं। वे अपनी आवश्यकता के हिसाब से पेड़ काटते हैं, अक्सर सूखे पेड़ों से वे अपनी जरूरतें पूरी करते हैं। कुछ पेड़ों को काटकर या जलाकर खेती योग्य भूमि तैयार करते हैं फिर कुछ सालों बाद उस जमीन को छोड़कर दूसरी जमीन तैयार कर खेती करते हैं इस तरह जंगल पूरी तरह नष्ट नहीं होते वरन् फिर पनपते हैं यह प्रकृति के साथ सहअस्तित्व का एक उदाहरण है।

मंगल सिंह मुंडा की कहानी 'महुआ का फूल' के प्रस्तुत अंश से आदिवासियत को समझा जा सकता है—"हमारे पास उत्पादन के नाम से क्या है, पहाड़ी नदियों से खेत पटे तो दो कौर भात मिल जाये। नहीं तो कंदमूल, फल फूल खा कर, रात अंधरे में लंबा हो जाओ। हाँ प्रकृति की ओर से एक वरदान मिला हुआ है हमें, महुआ, कुसुम तथा सखुए की बहुतायत है यहां। आधे से अधिक आबादी इन्हें ही बेच-खा कर गुजर-बसर करती है। मुर्गा बाग दिया कि नहीं—औरतें, बच्चे-बच्चियाँ, खांची, टोकरी लेकर बाघ, भालू, साँप, बिच्छू तथा संत मूलचंद के गुडों की परवाह न करते हुए जंगल की ओर निकल पड़ते हैं और टोकरी भर महुआ, कुसुम तथा सखुए आदि फूल बीन लाते हैं, फिर इन्हें शहर जा कर बेच आते हैं। बस यही हमारी जीवन चर्या है जो सदियों से अविराम चली आ रही है।"[8]

आदिवासियों के कहन में कल्पनाशीलता होती है उनकी कल्पना में प्रकृति के सह-अस्तित्व को समझा जा सकता है। उनके कल्पनाओं के मिथकीय पात्र प्रकृति के विविध अंगों से संबंधित है। सूरज, चाँद-तारे से लेकर नदियाँ, पहाड़ पशु-पक्षी, वनस्पतियों से उनका गहरा लगाव होता है। आदिवासी प्रकृति से विलग होकर जीवन की कल्पना ही नहीं कर सकते। उनकी कल्पना में पृथ्वी और आकाश दो प्रेमी हैं। जब आकाश, पृथ्वी से प्रणय करता है तो पेड़-पौधे, पशु पक्षी जन्म लेते हैं। लेकिन प्रेमियों को तो अलग होना ही है। यदि वे आलिंगनबद्ध रहेंगे तो बच्चों के लिए जगह कहाँ मिलेगी? मिनियोग कथा के अनुसार पृथ्वी सदैव अपने आकाश से मिलने के लिए छटपटाती है किन्तु जैसे ही वह अपने प्रियतम से मिलने के लिए ऊपर की ओर उठने को होती है तो उसके दोनों बच्चे चाँद और सूरज आकाश और पृथ्वी के बीच आ जाते हैं और पृथ्वी शरमाकर रूक जाती है, वह आगे नहीं बढ़ पाती। पृथ्वी का जो भाग आकाश की तरफ उठ रहा था, वह सदा के लिए जस का तस उठा ही रह जाता है, वही हिस्सा आज पहाड़ कहलाता है।[9]

आदिवासी लोककथाओं में पशु-पक्षी मानव हित में मनुष्य का रूप लेकर मनुष्य की मदद करते हैं। कहीं-कहीं इसके उलट वे मनुष्य बन कर मनुष्य को धोखा भी देते हैं। सभी जनजातियों में ऐसी मिथक कथायें मिलती हैं। आदिवासियों के लोकगीत और लोकोक्ति-मुहावरों में भी इन संवेदनाओं को देखा जा सकता है। जब आदिवासी साहित्य वाचिक से लिखित रूप में परिणित होने लगा तो अपने मूल स्रोत में निहित प्रकृति का सह अस्तित्व विविध रूपों में कविता एवं कथाओं में चित्रित होने लगा। एलिस एक्का, रोज केरकेट्टा, महादेव टोप्पो, वाल्टर भेंगरा तरुण, विनायक तुकाराम, वाहक पोनवणे, भुजंग मेग्राम, स्वर्ण प्रभा चैनारी, रूपम कुमार राभा, वंदना टेटे, अनुज लुगुन, जसिन्ता केरकेट्टा, हरिराम मीणा, रणेन्द्र, संजीव बख्शी, राकेश कुमार सिंह, संजीव, निर्मला पुतुल, चन्द्रमोहन किस्कू, जमुना बीनी तादर, तुम्बम रीबा लिली, जोराम यालम नाबाम, स्ट्रीमलेट डखार, फादर पीटर पॉल एक्का, ग्रेस कुजूर जैसे साहित्यकार उल्लेखनीय हैं।

आदिवासी साहित्य प्रकृति के सह अस्तित्व का साहित्य है, वह ऊँच-नींच, छल-कपट से दूर जीवन का साहित्य है। उसके सह-अस्तित्व भाव में मानव ही नहीं-मानवेतर जगह भी आते हैं। आदिवासी साहित्य अन्याय का विरोधी और सामाजिक न्याय और समरसता पक्षधर है। प्राणिमात्र के जीवन की समस्यायें और प्रकृति से लगाव आदिवासी साहित्य का आधार है।

संदर्भ :

1. आदिवासी साहित्य यात्रा-संपा. गुप्ता रमणिका, प्रथम संस्करण 2008, पृ.सं.-संपादकीय पृ., राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002
2. समकालीन आदिवासी कविता, संपा-मीणा हरिराम प्रथम संस्करण-2013-पृ.सं. 41 अलख प्रकाशन, 31 शिवशक्ति नगर, किंग्स रोड़, अजमेर हाइवे, जयपुर-302019
3. वही पृष्ठ सं.-18
4. वही पृष्ठ सं.-64
5. आदिवासी दुनिया-संपा-मीणा हरिराम, प्रथम संस्करण 2013 निदेशक, राष्ट्रीय पुस्तक-मास, भारत, नेहरू भवन, 5 इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज-II वसंतु कुंज, नई दिल्ली-110002
6. वही पृष्ठ सं.-100-101
7. लोकप्रिय आदिवासी कवितायें—संपा-टेटे वंदना, प्रथम संस्करण 2017, प्रभात प्रकाशन 4/19 आसम अली रोड़, नई दिल्ली-110002
8. आदिवासी कहानियां, संपा-मीणा केदार प्रसाद प्रथम संस्करण-2013, पु.सं.-81, अलख प्रकाशन, 31 शिवशक्ति नगर, किंग्स रोड़, अजमेर हाइवे, जयपुर-302019
9. पूर्वोत्तर आदिवासी सृजन मिथक एवं लोककथायें-संपा एवं संकलन-गुप्ता रमणिका, पृ. संपादकीय पृंष्ठ, पहला संस्करण-2010, निदेशक, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास भारत, नेहरू भवन, 5 इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज-प्प् वसंत कुंज, नई दिल्ली-110002

■

मनुष्य का जीवन और पारिस्थितिकी तंत्र

नीलाभ कुमार

सहायक प्राध्यापक हिंदी,

शासकीय स्वामी आत्मानंद उत्कृष्ट महाविद्यालय अंबिकापुर

अनुपम मिश्र ने अपनी पुस्तक 'आज भी खरे हैं तालाब' में पानी के संकट को लेकर हमारे द्वारा की जाने वाली लापरवाही की वजह से तालाबों, पोखरों और जलाशयों को सूखते चले जाने की ओर इशारा किया है, वह बड़ा मौजू है। इकाई, दहाई सैकड़ा हज़ार बनाने वाला शून्य तक पहुँच जाने की स्थिति में आ गया है। यह हम सबों के लिए विचारणीय है। यह विचारणीय अधिक और भी हो जाता है कि इसके पीछे जिसका हाथ है, वह थोड़ा-सा पढ़ गया है। वह 'विकास' को कदमों में नहीं, डगों में नहीं, सेंटीमीटर, मीटर में भी नहीं किलोमीटर में मापने का आकांक्षी बन गया है। अपनी ऐसी ही आकांक्षा में वह हमारे सैंकड़ों हजारों को शून्य में परिवर्तित कर देने से हिचक नहीं रहा है। यदि हम इस पर ठीक ढंग से विचार नहीं करते हैं, तो आने वाले दिनों में हमें कई संकटों का सामना करना पड़ सकता है।

सैकड़ों, हजारों तालाब अचानक शून्य से प्रकट नहीं हुए थे
इनके पीछे एक इकाई थी बनवाने वालों की तो दहाई की बनाने वालों की
यह इकाई, दहाई मिलकर सैकड़ा, हजार बनती थी
पिछले दो सौ बरसों में नए किस्म की
थोड़ी-सी पढ़ाई पढ़ गए
समाज ने इस इकाई, दहाई, सैकड़ा हजार को
शून्य ही बना दिया।

(अनुपम मिश्र– 'आज भी खरे हैं तालाब' से)

पानी की समस्या को लेकर अफरा-तफरी, मारपीट, छिनैती आदि का जो चित्रण सुषमा मुनीन्द्र अपनी कहानी 'जल के लिए जालसाजी' में करती दिखाई देती हैं, वह भले

ही प्रथम दृष्ट्या हास्यास्पद लगे, पर बड़ा विचारणीय है। आज हम जिस सोच के साथ जी रहे हैं, उसमें पानी के लिए चोरी जैसी बात किसी के गले नहीं भी उतर सकती है। ऐसा लग सकता है कि भला ऐसा भी हो सकता है क्या कहीं? लेकिन पानी सहित ट्रैक्टर-टैंकर की चोरी और उस टैंकर से पानी की एक-एक बूँद चुरा लिया जाना, भविष्य की उस आहट में हमें जीने को मजबूर करता और साथ में रास्ता दिखाने का भी काम कर रहा जान पड़ता है कि यदि यही स्थिति बनी रही, हम पानी को लेकर इतने ही लापरवाह बने रहे, तो आज जो बात हमें प्रथम दृष्टया हास्यास्पद लग सकती है, कल वही हमारे लिए सिरदर्द बनकर, हिंसक रूप धारण कर सामने खड़ी दिखाई दे सकती है।''

शहरों में रहने की आपाधापी ने लोगों का गाँवों से पलायन शुरू कर दिया है। शहर सुविधाओं का नाम है। इसी सुविधा के उपभोग की चाहत लिए गाँववाले शहरों की ओर अपना मुँह किए जा रहे हैं। स्थिति ऐसी है कि लोगों में होड़ भरी हुई है कि हम जल्दी-से-जल्दी सुविधापूर्ण जीवन का उपभोग करने के लिए शहरों में बसें। बच्चों को अच्छी शिक्षा कही जाने वाली शिक्षा मिले, बेहतर स्वास्थ्य की आपूर्ति आसानी से हो सके फैशन की चीजों तक पहुँच आसान हो जाए आदि-आदि चाह ने लोगों को शहर की ओर खींचा है। इस खिंचाव में लोगों को कभी दर्द भी महसूस होता है क्या? अपना घर छूटने का दर्द, अपने गाँव के लोगों से बिछुड़ने उनसे न मिल पाने का दर्द, यदि ऐसा महसूस भी होता होगा तब भी लोग इसे छोड़ उस चीज को अपनाने पर आमादा है जो शहरों में रहकर ही पाया जा सकता है। इस पहुँच को आसान बनाने के लिए लोग गाँव के एकडों तक जमीन बेचकर शहर में डिसमिल में खरीदनें को तैयार हैं। जिस शहर को हम सुरक्षित मान, सुविधाओं का खजाना समझ, रहने की होड़ किए बैठे हैं, वह कितना सुरक्षित है, यह कह पाना बड़ा कठिन है। प्रदूषण अपनी लपेटे में शहरों को लिए हुए है। दिल्ली और दूसरे बड़े शहरों में प्रदूषण का हाल यह है कि लोग अपने घरों में एयर प्यूरीफायर का इस्तेमाल करने लगे हैं। घरों के साथ-साथ गाड़ियों और ऑफिसों में भी इसका इस्तेमाल होने लगा है। स्थिति यह बन गयी है कि लोगों को साँस लेने में कठिनाई होने लगी है, फिर भी लोग बड़े शहरों की इस दमघोंटू आबो-हवा में ही जीने की कामना किए बैठे हैं। यदि प्रदूषण का यही स्तर रहा तो एक दिन आएगा जब ग्लेशियर पूरी तरह पिघल जाएंगे। मालद्वीव जैसा छोटा टापू युक्त देश जिसको इस बात का अंदाजा होने लगा है कि यदि प्रदूषण का यही स्तर बना रहा तो हम पूरी तरह से पानी के भीतर समा जाएंगे। अपनी इसी चिंता की ओर पूरे विश्व का ध्यान आकृष्ट कराने के लिए मालद्वीव के संसद सदस्यों ने पानी के भीतर अपनी बैठक की ताकि पूरी दुनिया का ध्यान आकृष्ट हो सके।

मनुष्य विकसित होने की जिस चाह में विकास के मार्ग पर अग्रसर दिखाई दे रहा है, उस विकास की दिशा कैसी होगी? यह बड़ा विचारणीय है। इस विकास ने अपनी गतिकी के बल पर लोगों में एक ऐसी भावना को विकसित किया है जिसमें हम सभी डूबते-उतराते चले जा रहे हैं। आए दिन मानवीय सभ्यता पर होने वाले संकटों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया और कराया जा रहा है, लेकिन अफ़सोस कि जो लोग ध्यान आकृष्ट कराने में लगे हैं, वे भी इस विकास की अंधी दौड़ में अपने को विकसित बनाने के चक्कर में बहुत तेजी से जल जंगल, जमीन का सफाया करने में लगे हैं। जब पर्यावरण को लेकर होने वाले सम्मेलन में एक अल्पवय स्वीडिश लड़की ग्रेटा थनबर्ग ने सभी हुक्मरानों की बोलती बंद कर दी थी, तो सारे हुक्मरान भौंचक्के-से रह गये थे। हम किस अंधी सुरंग की यात्रा कर रहे हैं, करते चले जा रहे हैं। हमें भी नही पता है। हमारे सामने लक्ष्य के मार्फत बस एक ही चीज दिखाई देती है और वह है 'विकास'। हमें यह भी पता नहीं है कि यह विकास है या विनाश। बस ! करते चले जा रहे हैं। गति दिखाई देती है, पर प्रगति कितनी है, यह समय के गर्त में छिपा है। जब वंदना टेटे अपनी कविता ''पैरों को धरती ही दुलारती है'' में लिखती हैं और जब विकसित सभ्यता की तरह सोचती हूँ तो दिल्ली महानगर का कभी न छूटने वाली जानलेवा विषैला धुंध हो जाती हूँ।'' तो वह जैसे हम मनुष्यों पर पड़े पर्दे को जार–बेजार करती नजर आती हैं.

वंदना टेटे यहीं नहीं रुकती हैं। वह महानगरों में हमारे बसाहट के पीछे के उन किंचित सुविधाओं को भी ध्यान में रखती हैं जिनकी वजह से हम महानगरों की ओर कूच करते चले जा रहे हैं—

''हालांकि वहाँ वह सब कुछ है जिसके बगैर आज कोई इंसान जीने की कल्पना नहीं कर सकता।''

जहाँ मनुष्यों के लिए इस 'विकास' ने सबकुछ की उपलब्धता सुनिश्चित करा रखी है, वहीं परिंदों और तितलियों को महानगर कभी नहीं लुभा पाया, की स्थिति भी हमारे सामने नमूदार हो रही है। कहानी 'तालाब कहो या पोखर' जिस समस्या को उठाती है, वह समस्या जल, जंगल को समाप्त कर मनुष्य द्वारा अपने लिए घर बनाने की जदोजहद है। हमें यह लगता है कि चाहे जैसे भी हो, हमारे लिए सबसे जरूरी हमारा घर है। इसके लिए प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष जो भी कीमत चुकानी पड़े हम चुकाने के लिए तैयार हैं। मनुष्य अपनी कथित सुविधाओं के विस्तार के लिए जंगल को काटे जा रहा है। वृक्षों को लेकर हमारी संवेदनशीलता समाप्त होती जा रही है, सरकारी योजना से लगाये जा रहे यूकेलिप्टस के वृक्ष जो पर्यावरण हितैषी के रूप में लगाये गये थे आज वही पर्यावरण के लिए दुश्मन घोषित

किये जा चुके हैं। प्रकारांतर से यह हमारी सरकारी योजनाओं की अक्षमता को भी दर्शाता है। सरकारी योजनाएँ ऐसे ही बिना सोचे-समझे अधूरी जानकारी लेकर लागू होती दिखाई देती हैं, जिसका यही हस्र होता है। पर्यावरण हितैषी, पर्यावरण दुश्मन साबित हो जाता है। जिस तेजी से हम अपनी कथित सुविधाओं के लिए जंगलों की अधाधुंध कटाई करने में लगे हैं, उससे प्रदूषण का स्तर बढ़ता जा रहा है। कुछ ही दिनों पहले सामाचार चैनलों पर एक समाचार प्रसारित हो रहा था कि देश की करीब 88 प्रतिशत बीमारियाँ वायु प्रदूषण की वजह से हो रही हैं। जंगलों को काटकर हम अपनी सुविधा के लिए नई इमारते बनाने में लगे हैं। हमें यह पता नहीं था पता है भी तो अनदेखा किए जा रहे हैं कि जंगलों की तीव्र गति से की जाने वाली कटाई की शर्त पर घरों का निर्माण विनाशकारी साबित हो रहा है। पेड़ों की लगातार कटाई से पारिस्थितिकी विषमता की स्थिति उत्पन्न होती जा रही है। मौसम में अचानक परिवर्तन दिखाई देने लगा है। मौसम इस कदर अपना 'मूड' बदलने लगा है जिससे हमारी परेशानी बढ़ गयी है। कहीं अतिवृष्टि तो कहीं अनावृष्टि। बे-मौसम बारिश। मौसम में अचानक परिवर्तन। ये सारी स्थितियाँ पारिस्थितिकी असंतुलन को बढ़ा रही हैं। इस पारिस्थितिकी असंतुलन के लिए हमारे वृक्षों के संवर्द्धन हेतु जो संवेदनशीलता है, उसमें लगातार ह्रास हो रहा है। हम जल जंगल के लिए सकारात्मक कदम उठाने के अभ्यस्त हों तो वह बेहतर होगा ऐसा नहीं हो कि चाहे जो भी स्थिति हो, नकारात्मक ही क्यों न हो, हम उसी के अभ्यस्त हो जाएँ। नकारात्मकता हमें पीछे ले जाती है। यदि चीजें नकारात्मक हैं तो उसके सकारात्मक होने के लिए अभ्यस्त होना पड़ेगा। जंगल की सुरक्षा और नये पेड़.पौधों को लगाए जाने को लेकर हमें सचेत होना होगा, दूसरे को जागरूक भी करना होगा। इसी जागरुकता से नागचंपा भी जीवित रह पाएगी, जो गाँवों से शहरों, महानगरों तक दिखाई देगी। फिर हमें नागचंपा के न होने के लिए अभ्यस्त नहीं होना पड़ेगा। ''पता नहीं इस शहर में या पास-पड़ोस के किसी शहर में नागचंपा का एक भी पेड़ है या नहीं। पर धीरे-धीरे सब कुछ का अभ्यास हो जाएगा। नागचंपा के कहीं न होने का भी अभ्यास हो जाएगा।'' (कहानी 'तालाब कहो या पोखर' से।)

मनुष्य अपनी करतूतों से नदियों को सूखने पर मजबूर कर रहा है। जल, जंगल से जैसे दूर होता जा रहा है। जीवन में जल का महत्व कितना अधिक है, यह समझकर भी जैसे नासमझी करता जा रहा है। जल तभी सुरक्षित रह पाएगा, कम होता पानी का स्तर तभी दुरुस्त रह पाएगा जब हम जंगल को सुरक्षित रख पाएँगे, लगाए जाने वाले पेड़ों का संवर्द्धन करते रहेंगे। वृक्ष रहेंगे तो जल की समस्या का भी बहुत हद तक समाधान हो पाएगा और यदि जल की पर्याप्त उपलब्धता हो जाएगी तो जल के बिना होने वाले नुकसानों से बचा जा

सकेगा। साथ ही हमारी पारिस्थितिकी भी सुधर जाएगी। पारिस्थतिकी के सुधार से मनुष्य और दूसरे पशु-पक्षियों का जीवन भी बेहतर हो सकेगा। 'जल ही जीवन है' के स्लोगन को पूरा करने पर आधारित कहानी 'सूखी नदी के घाट पर' हमें उस बियावान में ले जाती है, जहाँ से हमारा उबर पाना तभी संभव है जब जल की उपलब्धता संभव हो सके, नहीं तो 'जल बिन सब सून' दिखाई देगा। हरियाली की जगह मरुस्थली दिखाई देगी।

मनुष्य हमेशा अपने लाभ-लोभ में ही जीने का आदी हो गया लगता है। अपने लाभ के लिए यदि किसी दूसरे की जान भी चली जाए तो उसे कोई दिक्कत नहीं, कोई तकलीफ नहीं। कहानी 'जिनावर' की तांगे में जुतने वाली सखरी जो असलम की आजीविका का एकमात्र साधन है मनुष्य के हाथों बेरहमी से कुचल दी जाती है और उसके प्राण पखेरु उड़ जाते हैं। कुचले जाने के पहले भी वह लगातार कुचली जा रही थी, अपने मालिक द्वारा ही। सखरी का मालिक अपने लोभ में सखरी की चिंता करना भूल बैठा था। सखरी से वह सिर्फ माल कमाना चाहता था। असलम के लिए सखरी सिर्फ माल कमाने का साधन मात्र बनकर रह गई थी। इस माल कमाई की चाह में असलम एक हद तक अंधा हो चुका था। सखरी की तकलीफ उसे दिखाई नहीं देती थी। यह संवेदनहीनता मनुष्य जाति की एक बड़ी समस्या बनकर इस उदारीकरण के युग में हमें दिखाई दे रही है।

मनुष्य को इस धरा धाम पर बने रहना है तो जरूरत है कि वह अपने साथ-साथ पारिस्थितिकी पर भी ध्यान दे। मनुष्य का जीवन पूरे पारिस्थतिकी तंत्र से जुड़ा हुआ है। पशु-पक्षी, पेड़-पौधों का जीवित रहना प्रकारांतर से मनुष्य के जीवित रहने की गारंटी भी प्रदान करती है। हम अपने लोभ-लाभ में इस कदर निमग्न हो चुके हैं कि अपने जीवित रहने का मतलब सिर्फ स्वयं से ही लगाते हैं, पारिस्थितिकी तंत्र को इसमें कोई स्थान नहीं प्रदान करते। इसका दुष्परिणाम तो एक-न-एक दिन भुगतना ही पड़ेगा। यदि हम सावधान न हुए तो निकट भविष्य में हमें इसका खामियाजा भुगतना पड़ सकता है।

कहानी 'जंगल में आग' प्रकारांतर से मनुष्य के दिलों में लगने वाली आग और उससे उठने वाली हूँक की दास्तान बताती है। हमारे जल, जंगल जिस गति से समाप्त हो रहे हैं, हमसे जैसे दूर होते जा रहे हैं, वह पूरी मनुष्य जाति के लिए चिंता की बात है। ''लगी हो आग जंगल में कहीं जैसे हमारे दिल सुलगते हैं।'' 'कहानी जिनावर से'।

कहानी 'पानी 2075' में कहानीकार नीरज वर्मा ने इस बात की ताकीद की है कि हम जितना जल्दी हो सके, उतना जल्दी पानी की गंभीरता को समझने लगें। कहानीकार की प्रोटेक्टिव मिनरल को अगले 50-60 वर्षों में राष्ट्रीय संपत्ति घोषित कर दिए जाने की सोच उस दूरदृष्टि को हमारे सामने लाती है जिसमें पानी की अहमियत बहुत-बहुत बढ़ जाएगी।

इसके लिए हमें वेस्ट वाटर ट्रीटमेंट प्लांट लगाने की भी जरूरत पड़ेगी। ऐसे ट्रीटमेंट प्लांट की शुरुआत तो हो चुकी है और कहानीकार की बात से इत्तेफाक रखा जा सकता है कि यदि अभी इसकी नौबत इक्का-दुक्का की है, तो आने वाले वर्षों में बहुत अधिक बढ़ सकती है। इसके मद्देनजर हम सबों को अभी से इसकी तैयारी कर लेने की जरूरत है, ताकि भविष्य में पानी को लेकर होने वाली समस्या से हमें निजात मिल सके।

हृषीकेश सुलभ अपनी कहानी 'नदी' में जब लिखते हैं—"मैं चाहता हूँ कि मेरे जीवित रहते मेरा पोता एक बार धरती की अतल में बहती नदी का गीत-नाद सुन ले, तो ऐसा लगता है कि उन्हें इस बात की आशंका मन में है कि पता नहीं, आगे उसे नदी का गीत-नाद सुनने को मिल पाएगा या नहीं! आज जिस तरह से हम नदी-नालों के साथ बर्ताव कर रहे हैं गोया खिलवाड़ कर रहे हों, उससे आगे आने वाली पीढ़ी नदियों के आर्तनाद को दादा-दादी के किस्से में ही सुन सकेगी!

हमें यह जरूर लगता है कि नदी सूख रही है, मरती जा रही है पर वास्तव में ऐसा नहीं होता। एस. आर. हरनोट इस बात की इतिल्ला देते जान पड़ते हैं कि वास्तव में नदी मरती नहीं, दुश्मनों से छिप जाती है। दुश्मनों के गंदे इरादों और कृत्यों से दूर भागती रहती है। नदियों पर बनने वाले बाँधों से नदियाँ लगातार सूखती चली जा रही हैं। नदियों के पानी के रोके जाने से आसपास के गाँव के लोग बेहाल होते जा रहे हैं। नदियों की धार को रोक देने से नदियाँ आगे न बढ़कर सूखी, परती, ऊसर, बंजर में तब्दील हो जाने की विवशता से गोया प्रेत का रूप धारण कर लेती हैं। इसी रूप की मुक्ति का सवाल संजीव की कहानी 'प्रेत मुक्ति' गढ़ती है। यह एक बहुत बड़ा सवाल है कि आज हम जिस क्षुद्र स्वार्थवश अपने लाभ-लोभ के लिए अपने रसूख का इस्तेमाल नदियों की धारा तक को प्रभावित करने और नदियों को बंजर बनाने में इस्तेमाल कर रहे हैं, उसका हस्र वही होना है, जो प्रतमुक्ति के सुरेंदर की मुक्ति में हुआ। सुरेंदर की पार्थिव मुक्ति एक तरह से उस प्रेत से मुक्ति थी, जिसने नदियों की धार को अपने रसूख के बल पर न सिर्फ रोक दिया था, बल्कि एक बड़े वर्ग के जीवन को भी बहुत हद तक प्रभावित कर रखा था।

मनीष वैश की कहानी 'सरवर तमारो हिलोरा यो खाय' की बाला और हरकुंवर के बलिदान ने उस तालाब को पुनः जिंदा कर दिया, जिससे पूरा इलाका हरियाली में कभी डूबा रहता था। वर्षो पहले की चमक आज फिर से जैसे बहाल हो गई है। लोगों के चेहरे खिल उठे हैं। चिडियों की चहचहाहट फिर से सुनी जाने लगी है। चिड़ियाँ तालाब के बीच बने बाला और हरकुंवर के कीर्ति स्तंभ पर इस कदर चहचहा रही हैं गोया पूरी प्रकृति का गान हमारे सामने गुंजरित होने लगा है। चिड़ियों का यह गान जैसे 'बिन पानी सब सून' था।

चिड़ियों के गान से ही उस सुंदर दुनिया की परिकल्पना संभव है, जिसमें हम मनुष्य जीने की इच्छा रखते हैं। बिना चिड़ियों के गाँन के सरवर तमारो हिलोरा यो नहीं रख सकता।

मनुष्य अपनी उन कारगुजारियों से अपने क्षणिक लोभ-लाभ खातिर उस पूरे तालाब को समतल कर देने पर आमादा है, जिससे पूरा गाँव-इलाका पानी की किल्लत से सुरक्षित रहता आ रहा था। मनोज पांडेय की कहानी 'पानी' के मगन ने जैसे पूरे गाँव-इलाके को पानी से महरूम कर दिया था। पानी से महरूम किए गए लोगों के सामने जो दूसरी बड़ी चुनौती आई थी, वह कि उसने पानी का व्यावसायीकरण कर दिया। अब तक पानी बिकाऊ है, इस सोच के लिए मनुष्य के पास जगह नहीं थी आज उसे उसका सामना करना पड़ रहा है। पानी के व्यावसायीकरण के बाद पानी की किल्लत जिस तेजी से बढ़ी थी, उससे पूरा गाँव-इलाका प्रभावित हुआ था। बहुत सारे लोगों की जानें चली गईं, वह भी असमय। जो कुछ लोग बचे थे, उनके भीतर की जीजिविषा उन्हें जीने के लिए न सिर्फ रास्ता मुहैया करा रही थी, वरन् उस रास्ते पर चलने का इल्म भी जैसे दिए जा रही थी। मनुष्य की वह आत्मशक्ति जिससे सारे दुर्गम से दुर्गम रास्तों को भी वह अपने अनुकूल बना सकता है। पानी की समस्या से निजात पाने के लिए एक साहसी 'वाटरमैन' की जरूरत है जो न सिर्फ लोगों को पानी के संबंध में सचेत कर सके, बल्कि पानी को सुरक्षित किए जाने वाली तरकीबों से लोगों की आत्मशक्ति को जागृत कर उसकी शक्ति से परिचित कराने का साहस रख सके। यदि ऐसा कर पाने में हम सक्षम हो पाते हैं तो न सिर्फ मनुष्य बल्कि संपूर्ण चराचर जगत के समस्त प्राणी भी पानी की आवश्यकता को पूरा कर पाने में सफल होते रह सकेंगे। जीवन के सूने राग को पुष्पित-पल्लवित होते देख सकने के लिए नदी प्रेम का होना अति आवश्यक जान पड़ता है।

यदि हमने अपनी आदत नहीं सुधारी, जंगलों को बचाने का प्रयत्न नहीं किया तो हमारी 'स्लीप वेल' की कामना सिर्फ कामना बनकर ही रह जाएगी। तीस बरस पहले मेरी खिड़की से रोज हिमालय दिखाई देता था तुमने हमारी आँखों में धूल ही धूल झोंक दी तुमने हमारा पानी पाताल पहुँचा दिया जो भी आया उसे हमने अपनी छाती पे बिठाया हमी उल्लू के पट्ठे थे हवा-पानी के सिवा यहाँ रखा ही क्या था उसे भी मिट्टी में मिला दिया (कहानी 'जंगल में आग' से)।

रहिमन पानी राखिए, बिन पानी सब सून।

■

समकालीन साहित्य में पर्यावरणीय चिन्तन

डॉ. के. आशा
असिस्टेंट प्रोफेसर
एन.एस.एस हिंदू कॉलेज चांगनाचेरी, केरल

एक सजग और संवेदनशील साहित्यकार अपने चहुँ ओर दृष्टि रखता है। केवल अपने समय और समाज को ही नहीं बल्कि अपने परिवेश, पर्यावरण और बदलती हुई भौगोलिक परिस्थितियों को भी वह बहुत गंभीरता से देखता है और ये सभी बातें उसे व उसकी संवेदनशीलता को प्रभावित करती हैं। उसकी संवेदनशीलता केवल मनुष्यों या समाज तक ही सीमित नहीं होती बल्कि उसमें प्रकृति भी समाहित होती है। यही कारण है कि सभी महान साहित्यकार किसी न किसी रूप में प्रकृति को अपनी रचनाओं में अवश्य लेकर आते रहे हैं। आदिकवि वाल्मीकि तो प्राकृतिक घटना से प्रभावित होकर ही कवि बने थे। परवर्ती कवियों ने भी प्रकृति और पर्यावरण को अपनी रचनाओं में विभिन्न रुपों में अभिव्यक्त किया है। वस्तुतः साहित्यकार की दृष्टि जितनी व्यापक होती है, उसकी रचनाओं में उतनी ही बातें समाती जाती हैं भले ही वह चरित्र प्रधान रचना कर या घटना प्रधान रचना करे पर्यावरण उसमें किसी न किसी रूप में अवश्य आता है। यह अलग बात है कि आवश्यकता के अनुसार उसकी मात्रा न्यूनाधिक हो सकती है।

समकालीन साहित्य में भी यदि हम देखें तो कविता, कहानी, उपन्यास, यात्रा वृत्तांत, रेखाचित्र, संस्मरण, निबंधों आदि में पर्यावरणीय चिन्तन की छटा दिखाई देती है। इसका कारण है कि भारतीय चिन्तनधारा प्रकृतिपरक रही है। प्रख्यात निबंधकार डॉ. मिथिलेश दीक्षित के शब्दों में, ''भारत की प्राचीन चिन्तनधारा प्रकृतिपरक रही है। हमारे ऋषियों ने प्रकृति की सदैव आराधना की और वृक्षावेष्टित रम्य प्राकृतिक स्थलों पर तपश्चर्या की। प्रकृति के हरे-भरे स्थलों को तपस्थली बनाकर उन्होंने वृक्षों के महत्त्व का प्रतिपादन किया। भारत की सांस्कृतिक परम्परा में वृक्षों का दिव्य और गौरवपूर्ण स्थान रहा है। भारतीय काव्य-परंपरा में वृक्षों के प्रति श्रद्धा व्यक्त की गई है। विश्व साहित्य में भी भारतीय साहित्य ही ऐसा

साहित्य है, जिसमें शस्यश्यामला वसुंधरा की महिला का सर्वाधिक गान हुआ है और वृक्षों (कुंज, पुष्प, कली, पत्र आदि रूपों) के साथ मानव का संभाषण विविध प्रसंगों में और व्यक्तियों में दिखाया गया है।''[1]

प्रख्यात निबंधकार कुबेरनाथ के अनेक निबंध ऐसे हैं जिनमें न केवल प्रकृति के विभिन्न उपादानों का वर्णन है बल्कि पर्यावरण के प्रति गंभीर चिन्तन भी दर्शाया गया है। कुबेरनाथ राय अपने समय के सशक्त ललित निबंधकार हैं। उनके निबंधों में न केवल प्रकृति, पर्यावरण और समसामयिक विषय होते हैं बल्कि एक संवेदनशील लेखक की पूर्ण सजगता के साथ अपने समय की अभिव्यंजना भी होती है। उनके एक निबंध कीचड़ से कमल से एक उदाहरण द्रष्टव्य है, ''बरसात हुई, अन्य दस ताल-तलैया की तरह यह अपावन कुत्सित गड्ढ़ही भी भर गयी, भर क्या गयी प्राण और जीवन का दुर्गन्धमय गर्भ-कोष बन गयी। चारों ओर दुर्गन्धमयी मृत्तिका। इतनी सड़ी हुई कि नाक नहीं दी जाती। धरती तो स्वभाव से ही गन्ध-गुण वाली है। परन्तु यह गन्धवती मृत्तिका और बरसात के मारे बजबजाती हुई, अपवित्र और फूहड़। पैर धँस जायें तो रोमरोम गनगना उठे। सबकुछ कुत्सित, वीभत्स। यहाँ कहीं भी किसी दिव्य के लिए, किसी सुन्दर के लिए, किसी सौम्यकान्त के लिए अस्तित्वमान होने की गुंजाइश नहीं।''[2]

वर्तमान समय में पर्यावरण संरक्षण की महती आवश्यकता है। उसके लिए साहित्यकारों को भी सजगता के साथ अपने साहित्य में पर्यावरण संरक्षण को स्थान देना होगा। हालांकि समकालीन साहित्यकारों ने इस ओर भी अपनी दृष्टि घुमायी है तथा अपनी रचनाओं में पर्यावरणीय चिन्तन को प्रकट किया है। सच्चाई यह है कि पर्यावरण की समस्या को टुकडों में बाँटकर या स्थान-विशेष की समस्या मानकर सुलझाया नहीं जा सकता। यदि कहीं पर भी, एक भी प्राणी को, किसी प्रकोप का शिकार होना पड़ता है, तो उसकी जिम्मेदारी केवल उसी पर नहीं आती है, यह निश्चित है। आज मानवीय धरातल पर सोच करते हैं कि जल-स्रोत सूखते चले जा रहे हैं। वायुमंडल में लगातार कार्बन-डाई-ऑक्साइड बढ़ती जा रही है और धरती के ताप में वृद्धि होती चली जा रही है। ये सभी विभीशिकाएँ वनों के विनाश के कारण उत्पन्न हो रही हैं और आगे भी हो सकती हैं। आज अगर पश्चिम चिन्तित है, तो हम सब भी चिन्ता करने लग जाते हैं। विडम्बना यह है कि हम वास्तविक चिन्तनधारा को समझने का प्रयास नहीं करते हैं। हम अपने प्राचीन दिव्य पुरुषों की दिव्य वाणी पर फिर से अपनी सोच को केन्द्रित करें और वृक्षों की अपार क्षमता, शक्ति तथा उपादेयता पर दृष्टिपात करें, क्योंकि वनों से हमें न केवल फल-फूल, ईंधन, औषधियाँ आदि ही प्राप्त होते हैं, अपितु अधिकांश रूप में पर्यावरणीय शुद्धता प्राप्त होती है। जल-संरक्षण और वायु के शुद्धीकरण के साथ-साथ भूक्षरण रोकने में भी वनों का विशेष महत्त्व है।

यह एक अच्छी बात है कि समकालीन हिन्दी साहित्य में पर्यावरणीय चिन्तन दृष्टिगोचर होता है। सर्वप्रथम कविता के विविध रूपों यथा नवगीत, कविता, दोहे, समकालीन गजल आदि में भी पर्यावरण चिन्तन के स्वर सुनाई पड़ते हैं। प्रख्यात नवगीतकार माहेश्वर तिवारी के कई गीत प्रकृतिपरक होने के साथ-साथ पर्यावरणीय चिन्तन के स्वर भी समाए हुए हैं। उनके एक गीत का उदाहरण द्रष्टव्य है जिसमें पेड़ों के माध्यम से बढ़ते हुए प्रदूषण से पर्यावरण को होने वाले खतरों को बहुत मार्मिकता के साथ अभिव्यक्त किया गया है—

कुहरे में सोये हैं पेड़।
पत्ता-पत्ता नम है,/ यह सबूत क्या कम है,
लगता है लिपट कर/ टहनियों से
बहुत-बहुत रोये हैं पेड़।
जंगल का घर छूटा/ कुछ-कुछ भीतर टूटा,
शहरों में बेघर होने / जीते-सपनों में
खोये हैं पेड़।[3]

हमारे समय के प्रख्यात कवि रमेश गौतम अपने दोहों और नवगीतों के लिए साहित्य जगत में जाने जाते हैं। उनके प्रकृति परक दोहों में पर्यावरण चिन्तन के विविध रूप दिखाई पड़ते हैं। किसी दोहे में वे पर्यावरण को बचाने का आग्रह करते हैं तो किसी दोहे में पर्यावरण संरक्षण को जीवन संरक्षण मानते हैं। पर्यावरण के साथ छेड़-छाड़ या खिलवाड़ करने पर प्रकृति किसी न किसी रूप में अपना रौद्र रूप दिखाती ही है। पर्यावरण असंतुलन के कारण ही सूखा, बाढ़, अतिवृष्टि, सूनामी, भूकम्प जैसी प्राकृतिक आपदाएँ होती हैं—

सूखे सरवर, कूप सब, सूख गए हैं घाट।/पानी के हर प्रश्न का, उत्तर दो सम्राट।[4]

गौतम जी नदियों को अविरल बहने देने के पक्षधर हैं। उनका मानना है कि जाल डालकर या फिर बाँध बनाकर नदियों की अविरल धारा को रोकने से नदी का अस्तित्व संकट में पड़ता है और जब नदी क्रुद्ध होकर अपनी चाल बदलती है तब बाढ़ जैसा भीषण संकट आता है। वे लिखते हैं—

बहने दो कल-कल उसे, मत डालो अब जाल।
नदी बदलती चाल जब, हो जाते बेहाल।।[5]

हमारे समय के कई कथाकारों ने भी अपनी रचनाओं में पर्यावरणी चिन्तन विविधरूपों में दिखाई देता है। चित्तरंजन गोप की लघुकथा हज़ार साल बाद में लेखक ने पानी के समाप्त होने की परिकल्पना की है तथा नदियों, तालाबों, सरोवरों के सूखने के बाद बने गड्ढों के विषय

में बहुत व्यंग्यात्मक ढंग से बताया है, ''रात हुई। भगीरथ कहानी सुनना चाहता था। मम्म को उन गड्ढों के नाम भी याद आ गया था। वह प्रेम से अपने बेटे को कहानी सुनाने लगीं— 'बेटा भगीरथ। एक थी नदी। उसका नाम था...।''[6] इसी प्रकार प्रख्यात लघुकथाकार सुकेश साहनी की अनेक लघुकथाएँ पर्यावरणीय चिन्तन को केन्द्र में रखकर लिखी गयी हैं। ओए बबली लघुकथा पानी की किल्लत को दर्शाती है, ''कुएँ की चर्खी पर रस्सी की रगड़ से उत्पन्न चूँएएचूँएए फिर बाल्टी का कुएँ के पानी में छप्पाक्एएए! बाल्टी बाहर आती है, बर्फ़ के ढेलों के बीच कोल्ड ड्रिंक्स की बोतलें लिए। उसे निराशा घेर लेती है।''[7]

इसमें कोई संदेह नहीं कि समकालीन साहित्य विमर्शों का साहित्य हो चुका है। आज साहित्य में रोज़ ही कोई-न-कोई नया विमर्श सुनाई और दिखाई पड़ता है। इन सबके बीच जो सबसे महत्त्वपूर्ण है वह है पर्यावरणीय चिन्तन क्योंकि यदि पर्यावरण ही सुरक्षित नहीं रहा तो किसी भी विमर्श का कोई महत्त्व नहीं रह जाता। यह सुखद बात है कि भारतीय परंपरा में प्रकृति के विभिन्न रूपों को पूजा जाता है और कहीं-न-कहीं साहित्य में भी उसका महत्त्वपूर्ण स्थान है तभी तो विभिन्न विधाओं के तत्वों में प्राकृतिक चित्रण एक महत्त्वपूर्ण तत्व है। उसी प्राकृतिक चित्रण का दूसरा रूप पर्यावरणीय चिन्तन है जो समकालीन साहित्य में प्रायः प्रत्येक विधा में दिखाई पड़ रहा है। कहीं प्राकृतिक चित्रण के रूप में तो कहीं पर्यावरण संरक्षण के रूप में। हमें आशा है कि आने वाले समय में भी साहित्य में पर्यावरणीय चिन्तन के स्वर मुखर होते हुए दिखाई देंगे।

संदर्भ :

1. डॉ. मिथिलेश दीक्षित, आस्थावाद एवं अन्य निबंध, पृ. 107
2. कुबेरनाथ राय, मराल, पृ. 27
3. डॉ. माहेश्वर तिवारी, फूल आये हैं कनेरों में, पृ. 13
4. रमेश गौतम, बादल फेंटे ताश, पृ. 37
5. वही, पृ. 61
6. दस्तक (लघुकथा संग्रह), संपादक सुकेश साहनी, पृ. 67
7. सुकेश साहनी, साइबरमैन (लघुकथा संग्रह), पृ. 53

■

लोक गीतों में प्रकृति के विविध रूप

अजय कुमार तिवारी
सहायक प्राध्यापक
शासकीय महाविद्यालय सिलफिली
जिला–सूरजपुर, छत्तीसगढ़

''प्रकृति संगीतमय है। ग्रह गण एक नियत कक्षा में फिरकर उस संगीत का कोई स्वर सिद्ध कर रहे हैं। झरनों का अविराम नाद, पत्तों की मर्मर ध्वनि, चंचल जल का कलकल, मेघ का गरजना, पानी का छमाछम बरसना, आंधी का हाहाकार, कलियों का चटकना, विक्षुब्ध समुद्र का महारव, मनुष्यों की भिन्न-भिन्न भाषाएँ और विचित्र व्याकरण, खग, पशु, कीट-पतंग आदि की बोलियाँ, यह सब उस संगीत के सहायक मंद्र और तार स्वर और लय हैं। वज्रपात थाप है और नदियों का प्रवाह मूर्छना। ग्राम गीत प्रकृति के उसी महा संगीत के अंश हैं।''[1]

प्रत्येक ऋतु के आगमन को मनुष्य के साथ-साथ सभी जीव महसूस करते हैं। पावस के आगमन पर केकी का नृत्य, झिल्लियों की झंकार, पपीहे की पुकार बूँदों, नदियों और पत्तों के शब्द, वर्षा के आनंद को दर्शाते हैं, पर मनुष्य सबसे जुड़ता चला जाता है। वह सभी को आत्मसात करता है, वह प्रकृति के स्वरूप के साथ एकाकार हो जाता है। उसका साधारणीकरण जब उत्कर्ष पर पहुँचता है और अपने भावों को जब अपने अनुभावों द्वारा व्यक्त करने में सक्षम होता है तो उसकी कसमसाहट, उसकी बेचैनी, गीत रचने को विवश करती है। उसका यह रचाव प्रकृति में एकीभूत होने का परिणाम है। इसीलिए लोकगीत कभी भी एक का नहीं होता, वह समष्टि का होता है, लोक का होता है। लोक गीत की रचना मनुष्य के बार-बार हार कर जीतने के उल्लास की अभिव्यक्ति है। बार-बार जीत कर हार जाने की व्यथा कथा है। पंडित विद्यानिवास मिश्र लिखते हैं—

''साहित्य केवल जलना नहीं जलकर सार या सत्त बनना है। सत्त बनकर ही वह संतुष्ट नहीं, वह म्रियमान मानवीय संवेदना का संजीवन भी होना चाहता है। वह मनुष्य का अकल्पित रिश्तो के मोह-छोह का आँसू भी बनना चाहता है। वह अतार्किक हर्ष की हिलोर

और अनुद्दिष्ट अमर्ष की लहर भी बनना चाहता है। वह व्यक्ति के भीतर से निरव्यक्ति का अंकुरण बनना चाहता है।''[2]

मनुष्य सदा से प्रकृति प्रेमी रहा है। एक समय वह पूर्णतः प्रकृति की गोद में पलता था, जन्म भी वहीं लेता था और मरता भी वहीं था। इसीलिए उसका उठना-बैठना, सोना-जागना, सपने और फेंटेसी सभी में प्रकृति विद्यमान थी। वह बेहद सरल, स्वाभाविक तथा स्वच्छंद था। जो स्वच्छंदता मलयानिल में, सरोवरों में, नदियों में, बनफूलों में थी, वही सरलता, वही स्वच्छंदता मनुष्यों में, उसके व्यवहार में, उसकी वाणी में, उसके रोम-रोम में थी और उसी का अवशिष्ट लोकगीतों में मिलता है। विभिन्न अवसरों पर गाए जाने वाले लोकगीत आचार-विचारों, संस्कारों के प्रकृति के साथ घालमेल से ही मिलते हैं। कृत्रिमता लोकगीतों से कोसों दूर है। लोक की वाणी में ही लोकगीतों की बसाहट थी, इसलिए लोकगीत न तो लिपिबद्ध करने की आवश्यकता महसूस की जाती थी, न ही उसके रचयिताओं का पता लगाने की कोशिश की जाती थी। उसकी आवश्यकता लोगों की चिंता का विषय ही न थी, क्योंकि लोकगीत तो उनके चरित्र का हिस्सा था। धर्म या संस्कार के गीत लोकगीत ही थे, प्रकृति उसमें गहरे रची बसी मिलती है क्योंकि वे स्वयं भी प्रकृति के अंग ही थे, उनका रहवास ही उसी के सानिध्य में था। लोकगीतों की यह खासियत है कि वह मर्म को चीरकर भीतर प्रवेश करता है। वह एक व्यक्ति का उद्‌गार नहीं, वरन समष्टि का हृदय उसमें उतरा हुआ दिखाई देता है। उसमें उपस्थित लोकानुभव कृत्रिमता से कोसों दूर होता है। स्वाभाविकता उसकी खास विशेषता होती है। प्रकृति लोक गीतों के केंद्र में है। वर्तमान पीढ़ी जिस प्रकार से कथित आधुनिकता की अंधी दौड़ में शामिल है वह अपने विरासत से दूर होती जा रही है। लोक गीतों और प्रकृति से उसका संबंध टूटने कि कगार पर है। ऐसे में लोक गीतों के संरक्षण की महती आवश्यकता है। लोक गीतों के संरक्षण से प्रकृति के प्रति हमारा रुझान स्वाभाविक रूप से बढ़ता जाएगा।

''ग्राम गीत प्रकृति का बहुत उद्यान है, जो जंगलों में, पहाड़ों पर, नदी तटों पर, स्वतंत्र रूप से विकसित होता है। वह अकृत्रिम है। सिद्ध कवियों की कविता किसी बंगले का वह फूल है, जिसका सर्वस्व माली है। पर ग्राम गीत वह फूल है, झरने जिसको पानी पिलाते हैं, मेघ जिसे नहलाते हैं, सूर्य जिसकी आंखें खोलता है, मंद-मंद समीर जिसे झूले में झूलाता है। चंद्रमा जिसका मुँह चूमता है और ओस जिस पर गुलाब जल छिड़कते हैं। उसकी समता बंगले का कैदी फूल नहीं कर सकता।''[3]

उद्योग नहीं, फैक्ट्रियाँ नहीं, धुआँ नहीं, धूल नहीं, तब आलोकित होता था प्रकृति का खुशमिजाज चेहरा, तब कलियां बेखौफ खिलती थी, पेड़ों के हरे-भरे पत्ते मुस्कुराते थे, नदी

कल-कल के शोर से आनंदित करती थी, झरने की आवाज दूर-दूर तक सुनाई देती थी। कोई मौसम विज्ञानी नहीं, मौसम का कोई टेलिकास्ट नहीं, फोरकास्ट नहीं, परंतु मौसम की पूरी जानकारी होती थी। वर्षा कब होगी? लक्षण क्या होंगे? प्रकृति की हलचलों का प्रभाव क्या होगा? सूर्य, चंद्रमा, तारे, बादल, वर्षा, गर्मी, सर्दी की स्थिति की पूरी जानकारी, प्रतिदिन के मौसम से, महीने की विभिन्न तिथियों की स्थिति से भविष्य में वर्षा के होने, न होने की जानकारी होती थी। प्रकृति के साथ रचा बसा आलोकित मन प्रकृति के साथ इतना घुला मिला था कि कोयल कूक कर, उल्लू और बगुले बोल कर, आम बौर लाकर, मौसम के बदलाव की, वर्षा की स्थिति की सूचना देते थे। ''बादल वायु विजू बरसात/ कल के गाजर उप्पल परत/ धनुष और परिवेश से भान/ हेम पड़े दस गर्भ प्रमान'' (बादल का होना, हवा बहना, बिजली चमकना, पानी बरसना, आकाश का कड़कना, बादल का गरजना, ओले पड़ना, इंद्रधनुष दिखना, सूर्य की तीव्रता और ठिठुरन वाली ठंड या वर्षा के लक्षण हैं।)

कार्तिक एकादशी को बादल हो, बिजली चमके, माघ सप्तमी को बादल गरजे तो अगले वर्ष वर्षा होगी कार्तिक की अमावस्या रविवार, शनिवार, मंगलवार को पड़े तो अकाल पड़ेगा। यह उनका यूँ ही लगाया हुआ पूर्वानुमान नहीं था। आज यह बातें हमें भले ही बेबुनियाद और अंधविश्वास लगे पर उस समय लोगों के अनुसंधान का परिणाम था। ऐसे समय में जब तकनीकी का नामोनिशान न था, इतना अनुसंधान लोगों के मन में भविष्य के प्रति चेतना पैदा करता है। 'कातिक मेघ कटक बराबर' अर्थात कातिक की वर्षा खेती के लिए बेहद हानिकारक है, जैसी सेना लोगों के लिए हानिकारक होती है। 'मंगलवारी हुए दीवारी, हंसे किसान रोए व्यापारी' यदि दीपावली मंगलवार को पड़े तो फसल अच्छी होगी किसान प्रसन्न होंगे व्यापारी रोएंगे। यह संभावना कि कब अन्न अधिक होगा ? कब सस्ता होगा ? किन-किन नक्षत्रों व राशियों का क्या-क्या प्रभाव होगा ? उनके प्रभाव से कब फसल अच्छी होगी ? कब अकाल पड़ेगा? किस महीने में किस ओर से हवा बहने का क्या प्रभाव होगा? 'उल्टे गिरगिट ऊंचे चढ़े, बरखा हुई भूमि जल बूड़े' या 'टीले ऊपर चील जो बोले है, गली-गली में पानी डोले' उक्तियाँ लोगों के प्रकृति के साथ साहचर्य को व्यक्त करती हैं। 'चेना चोरी चाकरी, हारे करे किसान'। चेना (जेठ में होने वाला एक प्रकार का अन्न) की खेती चोरी और नौकरी किसान तभी करता है जब उसकी जीविका के लिए खेती का सहारा नहीं रहता। प्रकृति से साहचर्य के बिना गीत की पंक्तियां शुरू ही नहीं होती, संस्कार के गीतों में, भक्तों के गीतों में प्रकृति सर्वत्र विराजमान दिखाई देती है— 'बाय बहेले पुरवइया उतरही झकझोरेले हो/ए ललना रुकमिणी सुतेले रे ओसरवा त गोंदिया भतीज लेई रे।'

(पुरवइया बह रही है और उत्तरी हवा पेड़ों को हिला रही है। रुकमणी गोद में भतीजा लेकर बरामदे में सो रही है।) प्रकृति के बिना गीतों का कोई राग शुरू नहीं होता क्योंकि गीत वर्तमान होते हैं, तात्कालिक होते हैं, जीवन से जुड़े हुए होते हैं और लोगों का जीवन प्रकृति के बिना संभव ही नहीं है, बल्कि मनुष्य स्वयं भी प्रकृति का ही एक अंग है, इसलिए प्रकृति में रच बस कर उसे बेहद अपनापन का अनुभव होता है—

''एक सौ अमवा लगवली सवा सौ जामुन हो।
अहो रामा तबहूँ न बगिआ सोहावन, यक रे कोइलि बिनु।''[4]

(मैंने एक दो नहीं बल्कि पूरे सौ आम के पेड़ और जामुन के सवा सौ पेड़ लगाए हैं परंतु यह बगीचा केवल एक कोयल के बिना सुहावना नहीं लगता) खुशी के क्षणों में प्रकृति का जो रूप मुस्कुराता हुआ दिखाई देता है वही दुख के क्षणों में बेहद पीड़ा देता है। संयोग के क्षणों में जो पुष्प आनंद देते हैं, प्रिया को आकर्षित करते हैं, वही पुष्प वियोग में बेहद पीड़ादायक होते हैं। वे कांटे की भांति चुभे होते हैं, वे दुख पैदा करते हैं। प्रकृति हमारी सहचर है प्रकृति से हमारा इतना सरोकार है कि प्रसन्नता के क्षणों में हम प्रकृति के बीच जाते थे और दुख के क्षणों में भी। हम प्रकृति को याद करते थे, इसीलिए सौंदर्य की उपमा प्रकृति के उपादानों से दी जाती है क्योंकि सौंदर्य प्रकृति के भीतर समाहित है। प्रकृति के साथ साहचर्य का उदाहरण देखें, प्रकृति के साथ व्यक्तिगत संबंध कितना अनन्य है—

एक स्त्री का पति परदेस चला गया है। उसकी पत्नी व्यथित है, लेकिन व्यथा सिर्फ उसकी नहीं है। पत्नी अपनी व्यथा के साथ-साथ अन्य की व्यथा को भी व्यक्त करती है और कहती है कि घर में तुम्हारी पत्नी रोती है, बाहर हरिनी रोती है, तालाब में चकवा और चकवी रोते हैं। क्या तुम्हें तनिक भी दया नहीं आती? तुम कितने निर्मोही हो कि तुम परदेस में पड़े हुए हो—

''घरावा रोवे घरिनी ए लोभिया, बाहारबा राम हरिनिया।
दाहावा रोवे चाका चकइया, बिछोहवा कइले निरवामोहिया।''[5]

जब तक मनुष्य प्रकृति के सानिध्य में था, उस पर भावना पक्ष प्रधान था, हृदय पक्ष प्रधान था और उसकी छाप कविता पर दिखाई देती थी। वह शुद्धता और निर्मलता ही लोकगीत का सौंदर्य पक्ष था। जैसे-जैसे उस पर बुद्धि हावी होती गई, कृत्रिमता बढ़ती गई। शब्दों का चमत्कार हृदय के सौंदर्य पर हावी होता चला गया, वह प्रकृति से दूर होता चला गया। वर्तमान समय बनावटीपन का है, कृत्रिमता का है, यहाँ स्वभाविकता का ह्रास और कृत्रिमता का प्राधान्य दिखाई देता है। हृदय और मस्तिष्क में एकता की संभावना कम ही होती है, भाव विभोर होकर रची गई कविता अत्यंत रसमय होती है और मस्तिष्क का प्रयोग

कर रची गई कविता आलंकारिक। कविताओं का समय निश्चित है, गीतों का अनिश्चित। गीतों के रचयिता स्त्री-पुरुष दोनों हैं, जो गीत रचते थे, बिना कागज कलम के। यह भी निश्चित है कि स्त्रियों के गीत स्त्रियों द्वारा ही रचे गए इसलिए उसमें मार्मिकता अधिक है। एक बंध्या स्त्री की अकथनीय पीड़ा इस गीत में महसूस कर सकते हैं—

"सासु मोरे कहेली बँझिनिया ननंद ब्रजवासिनी हो
रामा जिनकी मैं बारी रे बियाही उई घर से निकारेनि हो
घर से निकरि बँझिनिया जंगल बिच ठाढ़ी हो
रामा बन से निकरि बघिनियाँ तो दुख सुख पूंछई हो
तिरिया कौनी विपत्ति की मारी जंगल बिच ठाढ़ी हो
सासु मोरे कहेली बँझिनिया ननंद ब्रजवासिनी हो
बाघिन! जिनकी मैं बारी रे बियाही उई घर से निकारेनि हो
बाघिन हमका जो तुम खाई लेतिउ हो विपत्तिया से छूटित हो
उहाँ से चलेलि बँझिनिया बिंबउरी पासे ठाढ़ी हो
रामा बिंबउरी से निकरेली नगिनिया तो दुख सुख पूंछई हो
तिरिया कौनी विपत्ति की मारी बिंबउरी पासे ठाढ़ी हो।"[6]

एक बंध्या स्त्री कथित संस्कृत और सभ्य समाज के नियमों के अधीन घर से निकाल दी जाती है। उसके पास कोई चारा नहीं बचा है, वह वन में चली जाती है। वह बाघिन से, नागिन से और अंततः धरती माता से आग्रह करती है कि वह उसके जीवन को ले ले। वह कहती है कि—मेरी सास मुझे बांझ कहती है। ननंद कहती है कि तू ब्रजवासिन है। बाल्यावस्था में जिनसे मेरा विवाह हुआ था, उन्होंने भी मुझे घर से निकाल दिया। स्त्री जंगल के बीच खड़ी है, एक बाघिन निकलती है, बाघिन उससे उसका सुख-दुख पूछती है—हे स्त्री! तुझ पर क्या विपत्ति पड़ी है, कि तू इस भयानक जंगल में अकेली खड़ी है। स्त्री कहती है—हे बाघिन! मेरी सास मुझे बांझ कहती है, ननद ब्रजवासिन कहती है, मुझे घर से निकाल दिया गया है। हे बाघिन! यदि तू मुझे खा लेगी तो मैं इस विपत्ति से छूट जाऊंगी। लेकिन बाघिन भी कथित सभ्य समाज के नियमों के झांसे में है। वह कहती है—यदि मैं तुझे खा लूँ तो मैं भी बांझ हो जाऊंगी। वहाँ से निराश होकर वह नागिन के पास जाती है। नागिन भी बांझ होने के भय से उसे खाने से मना कर देती है। तब वह धरती माता के पास जाती है और उससे निवेदन करती है कि वह उसे शरण दे दे लेकिन धरती कहती है कि यदि मैं तुझे स्वयं में समा लूँगी तो मैं भी बांझ हो जाऊंगी। कथित सभ्य हिंदू समाज की स्त्रियों

का बंध्या होना कितनी पीड़ा का विषय है कि उनसे प्रकृति के उपादान भी घृणा करने लगते हैं पर प्रकृति लोक की आश्रय स्थली तो है ही। लोक गीत वास्तव में ग्राम में जीवन को व्यक्त करते हैं। ग्राम में जीवन की पीड़ा के साक्षी हैं। उनके व्यक्तिगत दुख गीतों में उभर कर आते हैं। देवेंद्र सत्यार्थी लिखते हैं—

"गीत ही ग्राम जीवन के संघर्ष की महान गाथा के प्रतीक हैं, समस्त जीवन की अभिव्यंजना के गेय माध्यम। इनमें गाँव का जनजीवन गाता है, रोता है, हँसता है, खिल्ली उड़ाता है, मुँह चिढ़ाता है, व्यंग्य कसता है, प्रेम करता है, स्वच्छंद विहार करता है, रूप दर्शन पर रीझता है, कटाक्ष करता है, ऋतु पर्वों पर आनंद मनाता है, अपने दुखों की शिकायत करता है, स्थानीय महाजन, मुखिया, जमींदार, लगान, कर, बेगार, रोग, सूखा, बाढ़, टिड्डी आदि कष्टों पर दांत पीसता और हाथ मलता है, घर-खेत-खलिहान पर हर समय हर कार्य को गीतों की वाणी देता है।"[7]

कई स्थानों पर लोकगीत प्रकृति के माध्यम से सामंती अत्याचार की इंतहा को व्यक्त करते हैं। लाचार और बेबस प्रजा राजा के समक्ष सीधे जाकर प्रतिरोध नहीं कर सकती, न ही खुलकर अपनी पीड़ा को बता सकती है। तब गीत के रचयिता प्रकृति के उपादानों का उपयोग करते हैं और अपने मर्म आहत कर देने वाली पीड़ा को गीतों में व्यक्त करते हैं।

सामान्यतः राजा दशरथ का आदर्श राजा रूप और कौशल्या का ममतामयी माता का रूप ही उभर कर सामने आता है लेकिन लोकगीत का यह रूप देखें, जिसमें एक हिरनी की कातर पुकार हृदय को छू जाती है, लोक जीवन को बेचैन करती है, जो अपने पति को लेकर बेहद दुखी है—

"छापक पेड़ छिउलिया तौ पतवन गहबर
अरे रामा! तिहितर ठाड़ी हरिनियाँ त मन अति अनमनि हो।
चरतै चरत हरिनवाँ तौ हरिनी से पूँछई हो।
हरिनी! की तोर चरहा झुरान कि पानी बिन मुरझिउ हो।
नाही मोर चरहा झुरान न पानी बिन मुरझिउँ हो।
हरिना आजु राजा जी के छट्ठी तुहै मारि डरिहईं हो।
मचियै बैठी कौसिल्या रानी हरिनी अरज करइ हो।
रानी मसुआ तौ सिझही रसोंइयाँ खलरिया हमैं देतिउ।
पेड़वा से टँगवई खलरिया त मन समझाउब हो।
रानी हेरि हेरि देखवइ खलरिया जनुक हरिना जीतइ हो।

जाहु हरिनी घर अपने खलरिया नाही देबइ हो।
हरिनी! खलरी क खंजड़ी मिढ़उबइ त राम मोर खेलिहइ हो।
जब जब बाजइ खँजड़िया शबद सुनी अनकइ हो।
हरिनी ठाढ़ी ढिकुलिया के नीचे हरिन क विसूरइ हो।"[8]

(पलाश के एक छोटे से घने पेड़ के नीचे एक हिरनी खड़ी है, जो बहुत बेचैन है। हरिन हिरनी से पूछता है इतना उदास क्यों है? क्या तेरा चारागाह सूख गया या आसपास पानी की कमी हो गई है? हिरनी कहती है कि न मेरा चारागाह सूखा है, न पानी की कमी है। बात यह है कि आज राजा दशरथ के बेटे की छठी है और उनके आदमी आज तुम्हें मार देंगे। कुछ समय बाद राजा के सैनिक आते हैं। हिरनी उनसे विनती करती है कि वह हरिन को न मार कर, उसे मार डाले, लेकिन वे उसकी बात नहीं सुनते और हरिन को मार कर ले जाते हैं। हिरनी कौशल्या के पास जाकर विनती करती है कि रानी हरिन का मांस तो आपकी रसोई में सीझ रहा है, कम से कम उसका खाल ही दिलवा दो, मैं उसे पेड़ पर टांग दूंगी और उसे देख कर मन को समझा लूंगी कि मेरा हरिन जीवित है। कौशल्या उसे खाल देने से भी इंकार कर देती है। उससे राम के लिए खंजड़ी बनवाई जाते हैं। जब जब खंजड़ी पर थाप हरिनी आसपास मंडराती रहती है, विलाप करती है और बिसूरती रहती है।)

यह एक अद्भुत प्रेम की व्यथा-गाथा है। राजा या शक्तिशाली वर्ग द्वारा शोषित गरीब और दुखी प्रजा की पीड़ा भी है और शोषण की पराकाष्ठा भी, जहाँ प्रजा न संपत्ति को बचा सकती है न उसका अपना जीवन ही उसके वश में है। वह राजाओं के अत्याचारों को सहने को बाध्य है। शक्तिशाली वर्ग प्रजा को अपनी जागीर समझता है। प्रजा शक्तिहीन है, इतना लाचार है कि वह ठीक से उसका प्रतिकार भी नहीं कर पाती।

लोक गीत सीधे आत्मा से जुड़ते हैं—माँगलिकता हो, उल्लास हो या करुणा वे अंतरतम में पहुँचते हैं, वे उल्लास भी पैदा करते हैं और कुढ़न भी। पर लगभग हर गीत में लोक की सहयात्री प्रकृति उसके साथ दिखाई देती है। प्रकृति के बीच जन्म और प्रकृति के बीच लय हो जाना उसकी नियति नहीं, उसकी आदत है। प्रकृति के विभिन्न उपादानों की पूजा की परंपरा हमें विश्व के सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद से मिलती है। प्रकृति की पूजा एक तरह से उसके उपयोग की कृतार्थता भी है। प्रकृति की पूजा का विधान, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने का भी एक साधन है, जो विश्व के विभिन्न धर्मों-समुदायों के लोग करते हैं और उसके संरक्षण का उपाय भी। इसीलिए लोकगीत प्रकृति से विरत कहीं नहीं हैं या यों कहें कि प्रकृति को छोड़ देने से लोक का सिर्फ शरीर बचेगा आत्मा निकल जाएगी। पेड़ पौधों

के प्रति आकर्षण और प्रकृति से बिछोह से आत्मा की विकलता हमें गमले लगाने को या पशु पालने को विवश करती है।

संदर्भः

1. सं. त्रिपाठी रामनरेश, ग्राम गीतों का परिचय, कविता कौमुदी, पाँचवाँ भाग-ग्राम गीत, हिन्दी मंदिर, प्रयाग प्रथम संस्करण संवत-1986 पृष्ठ-01
2. संपादक दयानिधि मिश्र, पंडित विद्यानिवास मिश्र संचयिता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015 पृष्ठ 302
3. सं. त्रिपाठी रामनरेश, ग्राम गीतों का परिचय, कविता कौमुदी, पाँचवाँ भाग-ग्राम गीत, हिन्दी मंदिर, प्रयाग प्रथम संस्करण संवत-1986 पृष्ठ-07
4. सं. उपाध्याय कृष्णदेव, भोजपुरी ग्राम गीत, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, प्रथम संस्करण—संवत-2000, पृष्ठ-32
5. सं. उपाध्याय कृष्णदेव, भोजपुरी ग्राम गीत, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, प्रथम संस्करण—संवत-2000 पृष्ठ-39
6. सं. त्रिपाठी रामनरेश, ग्राम गीतों का परिचय, कविता कौमुदी, पाँचवाँ भाग-ग्राम गीत, हिन्दी मंदिर, प्रयाग प्रथम संस्करण संवत-1986 पृष्ठ-11-13
7. सत्यार्थी देवेंद्र, बाजत आवे ढोल, नवीन प्रेस, दिल्ली, संस्करण-1952 ई. पृष्ठ- 20
8. सं. त्रिपाठी रामनरेश, ग्राम गीतों का परिचय, कविता कौमुदी, पाँचवाँ भाग-ग्राम गीत, हिन्दी मंदिर, प्रयाग प्रथम संस्करण संवत-1986 पृष्ठ-48-49

■

डॉ. श्यामसुन्दर दुबे के साहित्य में पर्यावरणीय चिन्तन

जीतन राम पैकरा
सहायक प्राध्यापक—हिन्दी
षासकीय नवीन महाविद्यालय चांदनी बिहारपुर
जिला-सूरजपुर (छ.ग.)

विकास के वर्तमान दौर में न केवल भारतीय स्तर पर, बल्कि वैश्विक स्तर पर भी पर्यावरणीय चिंतन एक ज्वलंत विषय है। वैज्ञानिक, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, राजनीतिज्ञ, सामाजिक कार्यकर्ता, लेखक सभी के चिन्तन के केन्द्र में पर्यावरण संरक्षण और प्रदूषण का विकृत रूप समाहित है। साहित्यकार भी समाज का एक सदस्य होने के नाते नकारात्मक और सकारात्मक पक्ष को अपनी रचनात्मक अभिव्यक्ति में समाहित करता है। साहित्यकार की रचनाधर्मिता का मूल आधार ही प्रकृति है। प्रकृति से ही वह रचनात्मक सामग्री प्राप्त करता है तथा मानव प्राणी-जगत् और अन्य प्राणी-जगत् के अन्तर्संबंध को चित्रित करता है। समाज में प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से घटने वाली प्रत्येक घटना के अच्छे और बुरे प्रभाव से साहित्यकार प्रभावित होता है। वह जीवनगत अनुभवों, अनुभूतियों तथा संवेदनाओं को अपनी रचनाओं में प्रकट करता है। देशकाल तथा वातावरण सब कुछ सद्साहित्य में समाहित रहता है। इसीलिए कहा गया है—'साहित्य समाज का दर्पण' है।

प्रकृति से मानव की दूरी बढ़ती ही जा रही है और वह निरंतर कमजोर पड़ता जा रहा है। मनुष्य की बुद्धि और उसकी मानवीयता का विकास केवल संतुलित पर्यावरण में ही हो सकता है। पर्यावरणीय संतुलन के अभाव में मनुष्य अपनी शक्तियों के सही विकास की दिशा में सफल नहीं हो पाता है। पर्यावरण को शुद्ध रखने के लिए दृढ़-इच्छा शक्ति तथा सम्यक् संकल्पशक्ति की जरूरत है। पर्यावरणीय शिक्षा तथा पर्यावरण संरक्षण हेतु राज्य एवं केन्द्रीय सरकारें समय-समय पर कानून बनाती रही हैं, जिसमें पर्यावरण के प्रति हम अपने कर्तव्यों से अवगत हो सकें, किन्तु निर्मित कानूनों के प्रति समाज की प्रतिबद्धता कम दिखाई पड़ती है। पर्यावरण की सुरक्षा, स्वच्छता और हरीतिमा के आधिक्य का प्रावधान यद्यपि कानून करता है और इन सब बातों के लिए पर्यावरण मंत्रालय को सृजित किया गया है, किन्तु विकास की अंधी दौड़ में लोग कानूनों को धता बताने की आदत से बाज नहीं आते।

जल, जंगल, जमीन आदि सभी की शुद्धता, पवित्रता, सुरक्षा हेतु चलाये जा रहे सारे कार्यक्रम तभी अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकते हैं, जब हमारे स्वयं के अंदर मानवीय सुरक्षा की दृढ़ भावना हो। हम स्वयं पर्यावरण को शुद्ध करने के लिए अपनी तरफ से कितना योगदान कर पा रहे हैं, इस पर भी विचारों का आदान-प्रदान अत्यावश्यक है। इसके साथ-साथ बढ़ती जनसंख्या की रोक-थाम एवं बढ़ती जनसंख्या के अनुसार विकास के मॉडल का निरूपण भी जरूरी हो जाता है। अधिक-से-अधिक प्रकृति-पर्यावरण की सुरक्षा और अधिक-से-अधिक प्रकृति से सहयोग ही विश्व मानव के विकास के पथ प्रशस्त करने वाले तत्व हैं।

कवि, कथाकार, ललित निबंधकार, आलोचक, लोकविद् डॉ. श्यामसुन्दर दुबे का जन्म मध्यप्रदेश के दमोह जिले की हटा तहसील के अंतर्गत बर्तलाई नामक गाँव में 12 दिसम्बर, सन् 1944 में हुआ। छत्तीसगढ़ एवं मध्यप्रदेश के विभिन्न शासकीय महाविद्यालयों में उन्होंने प्राध्यापक के पद को सुशोभित किया और स्नातकोत्तर प्राचार्य के पद पर रहते हुए वे सेवानिवृत्त हुए। अब तक विभिन्न विधाओं में उनकी लगभग 45 कृतियाँ प्रकाशित हैं। राज्य एवं राष्ट्रीय स्तर के विभिन्न पुरस्कारों से सम्मानित हैं। डॉ. हरीसिंह गौर केन्द्रीय विश्वविद्यालय सागर (म.प्र.) में दो अलग-अलग कार्यावधियों में मुक्तिबोध सृजनपीठ के वे निदेशक रहे हैं। वर्तमान में वे भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय में हिन्दी सलाहकार समिति के मनोनीत सदस्य हैं। वे अभी भी साहित्य-सृजन में संलग्न हैं। उनकी कृतियों पर भारत के अनेक विशवविद्यालयों में दर्जनों पी-एच.डी. उपाधि हेतु शोध कार्य संपन्न हो चुके हैं और वर्तमान में शोध कार्य जारी है।

प्रकृति और पर्यावरण दुबे की प्रायः सभी रचना-विधाओं में विद्यमान हैं। उनका काव्य तो मानो प्रकृति की गोद में बैठ कर रचा गया है। उनकी लोकपरक रचनाएँ ग्रामीण अंचल और ग्राम्य-परिवेश से सराबोर हैं। उनके ललित निबंधों में लोक-जीवन का जीवंत प्रत्यक्ष हुआ है। उनके 'सोनफूला' उपन्यास में छत्तीसगढ़ राज्य के सरगुजांचल के लोक जीवन और आदिवासी जनजातीय जीवन का जीवन-दर्शन, प्रकृति के प्रति उनकी आस्था, उनका विश्वास, उनका साहचर्य, उनकी आशाओं, आकाक्षाओं को महसूस किया जा सकता है। डॉ. दुबे की प्रायः सभी रचनाएँ प्रकृति और पर्यावरण का संरक्षण और पोषण करती प्रतीत होती हैं। उनकी सभी रचनाएँ पाठक को संवेदनात्मक धरातल पर सहज रूप से प्रभावित करती हैं।

डॉ.कमोद सिंघई ने लिखा है—"डॉ.श्यामसुन्दर दुबे के प्रकृति से अंतरंग संबंध हैं। उनका रिश्ता गाँव से रहा। बचपन से उन्हें कर्म-क्षेत्र की ओर अग्रसर करने में प्रकृति का हाथ है। अतएव, उन्हें जिस प्रकृति ने कर्म-पथ पर बढ़ने के लिए प्रेरित किया, उसी को

अपने साहित्य में संजोया। प्रकृति से उनका प्रेम उनकी प्रत्येक विधा में प्राप्त होता है फिर चाहे वह उपन्यास हो, कहानी हो, निबंध हो या नवगीत।''[1]

डॉ. मंजरी चतुर्वेदी ने डॉ. दुबे की रचनाधर्मिता और उनकी कृतियों में प्रकृति की उपस्थिति का उल्लेख करते हुए लिखा है—''डॉ. श्यामसुन्दर दुबे का किसानी रचनाकार अपने ललित निबंधों में प्रकृति को उस तरह पाता है जैसे वानस्पतिक संसार को पाता है अविभाज्य, अटूट, अभिन्न, अखंड और आत्मीय। प्रकृति की संवेदनाएँ जीवन की गहराई में गोता लगाकर प्राची, भोर, सांझ, सूरज, चाँद, ऋतु, नदी, पहाड़ आदि को आत्मसात करती हुई विराट सत्ता के अस्तित्व में शरण और सुरक्षा की शाश्वत् अर्थान्विति पाती हैं। इन्हीं अर्थों में उनकी वाणी साहित्य रूप में एक प्रार्थना लगती है। यह प्रार्थना निजी होकर भी सामाजिक विस्तार में जातीय-स्मृतियों से जुड़ी है।''[2]

डॉ. श्यामसुन्दर दुबे के प्रकृतिपरक चिन्तन पर अपने विचार व्यक्त करते हुए डॉ.देवेन्द्र दीपक ने लिखा है—''डॉ. दुबे की प्रकृति में प्रकृति रची-बसी है—पूरा 'फ्लोरा', पूरा 'फोना'। वे प्रकृति से रस ग्रहण करते हैं- जीवन के गहन रहस्यों को समझने का खुलापन उनके यहाँ संप्रत्यक्ष होता है। सुख-दुख का, शुभ-अशुभ का विस्तार, और यह विस्तार आदमी प्रकृति से ही सीखता है। प्रकृति हमें विविधता का आदर करना सिखाती है। ड्राइंग में सजी प्रकृति हमें रस नहीं दे सकती है। डॉ. दुबे का कहना है, 'एक ही कमरे में नदी-तालाब-निर्झर, आकाश, जंगल, पशु-पक्षी उठाकर रख लीजिए, लेकिन रहेंगे ये खिलौने ही-बौने आदमी के बौने सहयोगी।''[3]

बुंदेलखण्ड अंचल की प्रकृति और सामाजिक परिवेश में क्रियारत जीवन की लयों की पर्तें खोलते हुए श्यामसुन्दर दुबे ने लोक-चेतना के स्वरूप को भली-भाँति स्पष्ट किया है। इनके साहित्य में तेजी से बदलाव के मुद्दे को चित्रित किया गया है। प्रकृति और लोक चेतना के सम्पृक्ति सरस को कवि ने उद्‌गार दिया है—

''दखिनैया ने छुआ
तो जागी रोम-रोम हुलफुली,
लाल पाग बांधे
मेला में छैला है,
पलास की हँसी में
कोई न अकेला है,
सरसों रंगरेजा की-
गेहूँ की बाल ने कमीज जो सिली है।''[4]

नवगीतकार डॉ. दुबे की संवेदना की जड़ें लोकचेतना और प्रकृति के साथ गहराई से जुड़ी हुई हैं। लोकजीवन की अनुभूतियाँ, सुख-दुख, आशा-आकांक्षा, विसंगतियाँ आदि रचनाकार की रचनाओं में प्राकृतिक संदर्भों के साथ सामाजिक सरोकारों की तरह गुम्फित हैं-

''फूल पीले
नकपुंरिया से
बबूलों के पहनकर
सांझ ने की दिया-बाती,
हलदी-हथेली
छपे चौखट-सातियों को
दे गयी सिन्दूरदानी
किरण-अहिवाती।''[5]

डॉ. दुबे के नवगीतों में सौंदर्यमूलक जिज्ञासाओं के चित्रण में प्रकृति और लोक-मानस की साझेदारी चित्रित हुई है। प्रकृति और मानव का साहचार्य अनादिकाल से ही रहा है। प्रकृति के बिना मानव जीवन का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है और मानव जीवन के बिना प्रकृति की सार्थकता नहीं। लोक की गतिविधियाँ और क्रियाकलाप प्रकृति की गोद में ही प्रारंभ होते हैं और आजीवन चलते रहते हैं तथा मानव जीवन का यही चक्र चलता आ रहा है। यही कारण है कि कवि-गीतकार चेतना का चित्रण करते समय प्रकृति-परिवेश से सम्पृक्त हो जाता है।

आधुनिकीकरण की प्रवृत्ति के दौर में औद्योगिक और वैज्ञानिक विकास की प्रक्रियाओं के कारण प्रकृति का स्वरूप बाधित हुआ है। युगीन विसंगतियों ने मानवीय संवेदनाओं को भी झकझोरा है। ऐसे में प्रकृति और मानवीय संवेदनाओं के संश्लिष्ट चित्रण अधिक हुए हैं। इन चित्रणों में लोक और प्रकृति की संवेदनात्मक दशा उभरकर आई है। वैश्विक बाजारवाद और आधुनिक जीवन-शैली ने मानव की भावनाओं को आहत किया है। लोक मानस की विक्षुब्ध स्थिति प्रकृति के सान्निध्य में कुछ शांति के पल खोजना चाहती है। इस चिन्तन से स्पष्ट होता है कि सम्पन्नता या विपन्नता, सुख या दुख दोनों ही स्थितियों में प्रकृति और मानव सहचर हैं। इस संबंध में डॉ. धनंजय वर्मा लिखते हैं—''समकालीन परिदृश्य में यह बात बखूबी देखी जा सकती है कि सर्वतोग्राही मशीन ने प्रकृति को रौंद डाला है और मनुष्य को प्रकृति से बेगाना बनाकर उसके स्वभाव को यंत्रवत बनाने का दुष्चक्र रचा जा रहा है। ऐसा कहकर हम औद्योगिक विकास रूपी रथ के चक्के को पीछे की ओर नहीं मोड़ना चाहते, बल्कि यह कहना चाहते हैं कि विश्वकाव्य की कोई भी बड़ी प्रतिभा प्रकृति के सौंदर्य से संवेदित हुए बिना न तो मानवीय सार्थकता पा सकती है और न रचनात्मक।''[6]

वैज्ञानिक चेतना के विकास के इस युग में भी मानव मन प्रकृति की गोद में अपनी चिन्ताओं और पीड़ाओं के बोध को भुला देने के लिए लौट-जाना चाहता है। डॉ. दुबे की रचनाओं में लोक-जीवन और प्रकृति के चित्रण बहुतायत मात्रा में पाये जाते हैं। डॉ. दुबे प्राकृतिक परिवेश से जुड़े हुए रचनाकार हैं—

"सूरज गरबीला
झीलों के चेहरों पर
लहरों के लोक-गीत बाँचने लगा
दहक उठी बाँहों पर
गालों की छुवन
छतनार हो गयीं याद अनबोने छिन की,
गोपन खत धूप के,
छाया ने नत्थी किये
अंगुली में चुभी बैठी
नोक आलपिन की!
सूरज शरमीला
दूबों के ओस लिखें
अनायास प्रश्नपत्र जाँचने लगा!"[7]

उद्धृत नवगीत में मानवीय संवेदनाओं को प्रकृति के संदर्भों में अभिव्यक्त किया गया है। सूरज, झील की लहरें, लहरों के लोकगीत, धूप के गोपनीय पत्र, दूब की ओस के रूप में लिखे प्रश्न-पत्रों का जाँचना, सभी प्रक्रियाएँ नवगीत को ताजगी देने वाली हैं। प्रकृति के उपादान वही हैं, जो पहले थे। लोक भी वही है, जो पहले होता था, केवल युगानुकूल संवेदनाओं के सृजन में प्रकृति के उपादानों का प्रस्तुतीकरण नवीनता लिए हुए है।

नये-नये प्राकृतिक प्रतीकों और बिम्बयोजना के द्वारा नवगीतकार ने लोक की अनुभूति को अत्यधिक संवेदनायुक्त बना दिया है। नवगीतकार ने ऋतु विशेष की प्रकृति के द्वारा भी लोक मानस की अनुभूतियों का जीवंत चित्रण किया है—

"टेसू के फूलों की
फीकी पड़ी मुस्कानें परबत की कनपटी आग सी दहकती,
घिर गई दिशायें
धूल के बवंडर में

शेष नहीं रही अब चांदनी महकती।
फिर अइहें रितु बसंत
बौर जो झड़े तो उदास नहीं होना—
कोयल अमराई के कानों में कह गई!
गलबांहीं डाले वे
चले गये दर्पण-दिन
स्मृति प्रतिबिम्ब शेष पलकों पर ठहरे,
कोटर में कैद सुआ
चोंच खोल धीरे से
बिदा हुए बसंत से राम-राम कह रे !"[8]

नवगीतकार ने जहाँ व्यक्ति और प्रकृति के संश्लिष्ट भावों का अंकन किया है, वहीं प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण मानवीकरण के रूप में भी किया है—

"जब से
बसंत की चिट्ठी
जंगल को मिली है!
रंगों के
सपनों में डूबा है;
एक एक पेड़
कि अजूबा है!
डाल-डाल
उजली-सी रोशनी खिली है!
गंधों के
तार खींचता है;
जंगल कभी हँसता
कभी आँख मींचता है
दखिनैया—रोम-रोम जगा रही हुलफुली है!"[9]

इस प्रकार से पूरे नवगीत में बसंत की प्रकृति का उल्लासमय चित्रण है। जंगल को बसंत की चिट्ठी मिलना, हर वृक्ष का रंगों के स्वरूप में डूबना, शाखाएँ फूलों की रोशनी से उजली, जंगल की मस्त हँसी, दक्षिण पवन से रोमान्स होना आदि पूरे चित्रण में मानवीय भावनाओं की साकार अभिव्यक्ति हुई है।

मानव शरीर जिन पाँच तत्वों से बना है, उनमें पृथ्वी का महत्वपूर्ण हिस्सा है। पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और वायु के सम्मिलन से ही शरीर का निर्माण हुआ है। प्रकृति और जीवन की लीलाएँ इन्हीं पाँच तत्वों का योग हैं। सृष्टि के इस योग को रचनाकार दुबे ने अपनी कविताओं में रूपायित किया है।

डॉ. श्यामसुन्दर दुबे के ललित निबंध संकलन 'आलोक अनवरत' में संकलित निबंधों की समीक्षा करते हुए डॉ. शिवाजी नामदेव देवरे लिखते हैं—''हमारा पर्यावरण इतना प्रदूषित हो चुका है कि हमारी सहज-चर्या में विच्छेप पैदा हो गया है।''[10] अवर्षा, अतिवर्षा, खण्डवर्षा, तूफान, बाढ़, भू-स्खलन, गर्मी, शीत आदि की अतिशय चपेट में मानव निरंतर रहता है। इससे अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। मनुष्य पहाड़ों को उजाड़ रहा है। जल का बेतहाशा दोहन कर रहा है। इन सबका असर मानव जीवन पर व्यापक रूप से पड़ रहा है। डॉ. देवरे ने निबंधकार के प्राकृतिक चिन्तन की समीक्षा करते हुए कहा है—''भारतीय चिन्तन दृष्टि में प्रकृति को देवता माना गया है।''[11] इस संकलन में कतिपय ऐसे निबंध हैं जो इस ओर संकेत करते हैं। पर्यावरण-संतुलन की दुश्चिंताओं का इजहार करते निबंधकार ने इस कृति के अंतरंग में अपनी आस्थावादी भविष्य-दृष्टि को भी समावेशित किया है।

प्रकृति और पर्यावरण से संबंधित अनेक निबंध 'आलोक अनवरत' में संकलित हैं- इनमें से 'ऋतु-पावस नियरानी', 'नव तुलसीदल मंगल मूला' और 'दुर्वा : पृथ्वी का मंगल-विधान' आदि प्रमुख हैं। मानव जाति को ज्ञात है कि प्रकृति के बिना मनुष्य खंडित मनुष्य है। प्रकृति निरन्तर मनुष्य की सुरक्षा की पहरेदार है। प्रकृति ही मानव जगत् को पोषित करती रही है और उसे आह्लादित भी करती है। विकास की अंधी दौड़ में मानव प्रकृति को तहस-नहस भी कर रहा है, उसे अपने स्वार्थों के कारण नष्ट करने पर उतारू भी है। निबंधकार ने प्रकृति के विविध रूपों-रंगों को अपने लेखन में रूपायित किया है। उनके निबंध तो जैसे प्रकृति की शोभा के केन्द्र ही हैं। उन्होंने अपने निबंधों में प्रकृति के मूल स्वरूप के नष्ट होने की चिन्ता को महत्वपूर्ण माना है।

ऋतुओं और प्रकृति का विकल्प हमारी टेक्नोलॉजी के पास नहीं है। निबंधकार के अनुसार—''अब बड़े नगरों में प्लास्टिक के पेड़ सड़कों पर लगाए जा रहे है। ये पेड़ एक ही दृश्य सज्जा में सदैव तैनात रहेंगे। न इन पर कोयल बोलेगी, न इन पर भौंरे डोलेंगे। ऋतु-परिवर्तन के बोधकारी पहचान चिह्नों से लोग अनभिज्ञ होते जायेंगे। कम-से-कम वे लोग तो अनभिज्ञ हो ही जायेंगे जो विशाल भवनों के संकुल में जन्म लेंगे और वे उन सड़कों पर तेज रफ्तार वाहनों में सवार होकर बड़े होंगे, जिन सड़कों पर धरती का वानस्पतिक साहचर्य उन्हें उपलब्ध नहीं हो पाएगा। ऋतु-भाषा से नितांत अपरिचित जन टेक्नोलॉजी के सहारे भले ही

अपनी इंद्रिय-संवेदनाओं की सुग्राह्यता और सामर्थ्य बढ़ा लें, लेकिन ये बढ़ी हुई सामर्थ्य उन्हें आस्वादन के धरातल पर प्राकृत नहीं रहने देगी।''[12]

'कोई खिड़की इसी दीवार से' निबंध संकलन में संकलित 'पहला दिन मेरे आषाढ़ का' में निबंधकार डॉ. दुबे लिखते हैं—''प्रकृति ही स्मृति को बार-बार लौटाती है। प्रकृति की नजदीकी मनुष्य को संवेदनात्मक संप्रसारण देती है, जो जितना प्रकृति से दूर पड़ता जाता है, उतना ही उसका स्मृति-कोश सिमटता जाता है।''[13]

इसी निबंध संकलन के निबंध 'जल को मुक्त करो' में दुबे लिखते हैं—''पानी जीवन का पर्याय है। पानी से ही जीवन जाग्रत होता है।''[14] डॉ. दुबे का मानना है कि मनुष्य को अपना मन पानी जैसा निर्मल बनाना पड़ेगा, पानी जैसा पतला बनाना पड़ेगा। मन का प्रदूषण ही पानी का प्रदूषण बनता है। पर्यावरण के बढ़ते प्रदूषण की चिन्ता व्यक्त करते हुए वे कहते हैं—''फैक्टरी की कमाई-धमाई से हम अपनी तिजोरी भरें और उसके मल-मूत्र से हम नदियों को बदल दें कुंभीपाक नरक में। धरती से पानी खींचकर हम फसलें लहलहाएँ और धरती के घावों को सहलाएँ तक न! अंधाधुंध तरीके से जंगल काटते जाएँ और जंगल के हरेपन को अपनी दीवारों पर पेंट करते रहें तो बादलों को कौन न्योता देगा? बेतहाशा तरीके से जनसंख्या का विस्फोट होता रहे और धरती का चेहरा और गंदा होता जाए तो पानी के बिना धरती की मलिनता कौन पोंछेगा? पहले अपने भीतर की सफाई जरूरी है।''[15]

मानव और अन्य प्राणियों के प्रकृति के साथ रागात्मक संबंधों को वैदिक मंत्रों में भी देखा सुना जा सकता है। उनमें प्रकृति के संदर्भ में शांति की कामना की गई है, परन्तु अंध-आधुनिकता के कारण मानव ने अपनी सुख-सुविधा के लिए पर्यावरण का इस प्रकार संहार प्रारंभ किया कि जीव-जंतुओं का अस्तित्व खतरे में पड़ गया है। प्रकृति पर विजय पाने के अहंकारपूर्ण अभियान में मानव अपने ही अस्तित्व को विनष्ट करने पर तुला हुआ है। भूमण्डलीकरण के इस दौर में मानव ने पर्यावरण-प्रदूषण के कारकों को समझा और पहचाना भी है, परन्तु व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा के कारण प्राकृतिक संतुलन को दरकिनार कर दिया है।

आँगन में लगे नीम के पेड़ के महत्व का प्रतिपादन करते हुए डॉ. दुबे लिखते हैं—''नीम स्मृतियों का केन्द्र वृक्ष रहा है। भले ही वह कड़वे फल देने वाला हो, किन्तु स्मृतियों की मिठास से वह सराबोर रहता है। नीम संभवतः गाँव का सबसे आत्मीय वृक्ष रहा है। इसीलिए उसके साथ आत्मीय प्रसंगों का जुड़ना स्वभाविक ही है।''[16] प्रचलित लोकगीत में एक लड़की अपने पिता से आग्रह करती है कि आँगन पर लगा नीम का पेड़ मत काटिए, इस पर चिड़िया बसेरा करती है—''निबिया के पेड़ जनि काटेव निबिया चिरैया बसेर।''[17] लड़की चिड़ियों जैसी उड़कर ससुराल चली जायेगी। गोपाल सिंह नेपाली ने कभी लिखा था-

''बाबुल हम तो चिड़िया तेरे आँगन की।''[18] यह चिड़िया आती जाती रहेगी यदि नीम का पेड़ अस्तित्व में रहा। नीम के पेड़ बिटिया के लिए मायके का प्रतीक है। नीम के पेड़ का कटना मायके की स्मृतियों का लोप होने जैसा है। डॉ. दुबे ने प्रकृति को निकट से जिया, देखा और अनुभव किया है। उन्होंने नीम पेड़ में निहित भाव को व्यक्त करते हुए लिखा है- ''नीम एक पेड़ नहीं है। वह गाँव का वैद्य है। वह पंचायत का अक्षतवट है। वह गम्मत और रामलीला का मंच है। वह दुपहरी बिलमाने का आश्रम-स्थल है।''[19]

वृक्ष के अस्तित्व और उसकी महत्ता पर विचार करते हुए डॉ. दुबे लिखते हैं—''वृक्ष, मात्र एक वानस्पतिक सत्ताधारी इकाई नहीं है, वह एक संपूर्ण संसार है। उसमें इतिहास, स्मृति और जीवनगत् अनुभूतियां का वृहत्तर संसार सदैव हरियाता रहता है।..... पेड़ जो आश्वस्ति दे रहा है- सचमुच वह मूल्यवान है। लोक-जीवन में वृक्ष संगी-साथी की भूमिका का सच्चा निर्वाह करते हैं।''[20]

प्रगति और विकास की दौड़ में जो होना चाहिए, वहाँ सब कुछ हो रहा है। ट्रेक्टर खेतों में भड़भड़ा रहे हैं। बिजली नियमित-अनियमित रूप से आ जा रही है। पेड़ों की हरियाली गायब हो रही है। नदी-नाले सूख रहे हैं। जो नहीं सूख पाये हैं, उनका पानी बदबू मार रहा है। आम्रकुंजों का अता-पता नहीं है। सुआ, पपीहा, मोर, गिलहरी, कोयल, कबूतर, यहाँ तक कि गिद्ध भी कम दिखाई दे रहे हैं। इनके आश्रय-स्थल मिट रहे हैं तो कहाँ और कैसे रहेंगे? इन सब वीरान होते प्राकृतिक चीजों से लेखक श्यामसुन्दर दुबे चिन्तित हैं और अपनी चिन्ता और चिन्तन को अपनी विभिन्न कृतियों के माध्यम से समाज के सम्मुख प्रस्तुत करते हैं। मनुष्येत्तर जीवों के प्रति मनुष्य में पूजा-भाव का आधार समाप्त होता जा रहा है। यह सह-अस्तित्व की विराट भावना को क्षत-विक्षत करने का सूचक ही है।

डॉ. श्यामसुन्दर दुबे नदियों के मूल स्वरूप को विकास के नाम पर विकृत किये जाने तथा उसके पानी के प्रदूषित होने की चिन्ता व्यक्त करते हुए कहते हैं—''नदियाँ सूख रही हैं, धरती पर से और उनकी स्मृति लुप्त हो रही है। हमारी चेतना से नदियाँ जैसी धरती पर भौतिक रूप से बहती है, वैसी ही वे हमारे भीतर भी बहना चाहिये। लेकिन ऐसा हो नहीं पा रहा। नदी के किनारे पिकनिक स्पॉट बन गए हैं, उनका सांस्कृतिक स्वरूप वहाँ निःशेष है। हमारा उपभोक्तावादी मन नदी से सब कुछ लेने के लिए प्रतिबद्ध है, किन्तु नदी की हिफाजत करने के लिए तैयार नहीं है। उल्टे नदी में अपनी सभ्यता का समूचा कूड़ा-करकट हम उड़ेलते जा रहे हैं। यह हमारी चिंता का केन्द्रीय विषय होना चाहिए कि नदियाँ अपने मौलिक और भौतिक रूप से बहती रहें।''[21]

छत्तीसगढ़ के सरगुजांचल के लोकजीवन से डॉ. दुबे का गहरा और जीवंत रिश्ता रहा है। वे लोक-जीवन में पसरती आधुनिकता के विद्रूप को 'सोनफूला' उपन्यास में एकदम

संवेदनात्मक धरातल पर प्रस्तुत करते हैं। उनका यह उपन्यास लोकजीवन के साथ किये जा रहे अनेकमुखी छद्म को एक सच्चाई की तरह अभिव्यक्त करता है। लोकजीवन को तहस-नहस होते देख उपन्यासकार व्यथित होता है। इस अंचल में कोयले की खुदाई से उत्पन्न विषम परिस्थिति पर उपन्यासकार लिखता है—''चिरई डोंगरी गाँव हटाया गया। बड़ी-बड़ी मशीनें आई धरती को खोदने वाली आकाश तक ऊँची-ऊँची उठी। इतना बड़ा फावड़ा उन मशीनों में फिट था कि एक ही बार में एक बैल गाड़ी भर मिट्टी खोदकर एक जगह से दूसरी जगह पर पटक दें। दिन-रात इसी विशाल फावड़े से खुदाई चलती। खोदी गई मिट्टी से पहाड़ बनने लगे। पहाड़ ही पहाड़ उठते जा रहे थे। कोट के कोट बनते जा रहे थे और धरती पोली हो रही थी, भीतर तक सुरंगे बनती गईं। कई मीलों भीतर ही भीतर धरती कटती गई। आदमी धँसते गए।''[22]

'सोनफूला' उपन्यास में पर्यावरणीय संकट की ओर संकेत करते हुए डॉ. दुबे लिखते हैं—''एक चिड़िया चिऊँ-चिऊँ करती घाटी में उड़ती है। घूम-घूमकर चक्कर काटती है। न घर न द्वार-न-रूख न विरख-न ताल न तलैया कहाँ बैठे—किस छाया में सुस्ताये बेचारी चिड़िया। चिऊँ-चिऊँ चारों कोनों में फैल रहा है। चिड़िया का स्वर फैलता जा रहा है। कौन है जो इस चिड़िया के स्वर को सुनेगा। इसके कंठ की प्यास को जानेगा। इसके परों को राहत देगा। चिड़िया उड़ती है, उड़ती जा रही है।''[23]

इसी तरह लोक जीवन और लोक संस्कृति पर बढ़ते हस्तक्षेप पर डॉ. दुबे चिन्तित हैं—''आदिवासी संस्कृति प्रकृति का ही एक अन्य रूप है। प्रकृति के चक्र से ही यह संस्कृति बंधी हुई है। यदि इस चक्र को थोड़ा-सा ही इधर-उधर घूमा दिया या ये हमारी गलतियों से थोड़ा-सा भी इधर-उधर हुआ, तो हमारी संस्कृति पर भी इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। इसलिए यह प्रश्न केवल जीवन का ही नहीं है। यह प्रश्न संस्कृति की रक्षा का भी है।''[24]

लोक आस्था-विश्वास के मूल आधार प्रकृति के प्रति उपन्यासकार बहुत संवेदनशील है। तभी तो वे 'सोनफूला' उपन्यास में लिखते हैं—''प्रकृति का संबंध संस्कृति से है। मानवता से है। लाखों वर्षों से मनुष्य जिस प्रकृति के साथ रह रहा है- वह उसकी स्वभाव बन गयी है। संस्कृति बन गई है। नीम, बरगद, पीपल हमारी संस्कृति के अंग हैं। ये वृक्ष ही नहीं हैं। इनमें देवताओं का वास है। इनके साथ मनुष्य की आस्थायें जुड़ी हैं।''[25]

डॉ.श्यामसुन्दर दुबे प्रकृति-परिवेश पर हिंसात्मक आचरण के भयानक रूप को अनेक स्थानों पर चित्रित करते हैं—''यह परिवेश, यह पर्यावरण हमारे द्वारा ही सुधारा जा सकता है, क्योंकि हमीं ने इसे बिगाड़ा है। अंधाधुंध रूप से जंगलों की कटाई, पहाड़ों की बेतहाशा खुदाई और बड़े-बड़े विकराल बांधों का निर्माण, इनसे खतरा है, ये प्राकृतिक गतिशीलता के विरूद्ध हमारे द्वारा उत्पन्न की गई रूकावटें हैं।''[26]

यद्यपि परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत् नियम है। यह परिवर्तन एक स्वाभाविक प्रक्रिया में ही अपना सुखद स्वरूप प्रस्तुत करता है; किन्तु जहाँ यह परिवर्तन प्रकृति पर जबरदस्ती लादा गया हो या मानवीय हस्तक्षेप से उपस्थित हुआ हो, वहाँ मनुष्य के लिए हानिकारक होगा। मनुष्य का विकास प्राकृतिक परिवेश का ही परिणाम है। हमारे शरीर और संस्कारों में प्राकृतिक परिवेश के गुण-धर्म अपनी पूरी क्षमता में समाये हुए हैं। पंच तत्वों से रचित हमारे शरीर में प्राकृतिक पाँच तत्वों का संतुलित अभिन्यास है। इस संबंध में डॉ. दुबे लिखते हैं— ''हमारा जीवन प्रकृति की क्रोड़ में ही पालित, पोषित और विकसित हुआ है। इसलिए प्रकृति से जीवन अभिन्न नहीं है। हमारी प्रमुख संवेदनाएँ प्रकृति के साथ ही क्रियाशील होती हैं। जीवन की प्रायः सभी आवश्यकताएँ प्रकृति के माध्यम से ही पूर्ण होती हैं। आवास, भोजन, वस्त्र आदि के अलावा मानसिक, भावात्मक और शारीरिक स्तर पर भी प्रकृति का जीवन से अटूट तथा अभिन्न रिश्ता है। इस संपूर्ण प्राकृतिक परिवेश को ही 'पर्यावरण' कहा जाता है।''[27]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि डॉ.श्यामसुन्दर दुबे बहुमुखी प्रतिभा के धनी रचनाकार हैं। उन्होंने काव्य, कथा, निबंध, समीक्षा, लोक आदि विविध विधाओं में साहित्य सृजित कर हिन्दी साहित्य जगत् में श्रीवृद्धि की है। ग्राम्य-परिवेश में उनका बचपन बीता और आज भी ग्रामीण जीवन से उनका नाता है। प्रकृति और ग्राम्य लोक-जीवन उनके सम्पूर्ण साहित्य का मानो आधार ही हैं। प्रकृति का आलम्बन और उद्दीपन दोनों रूप उनके साहित्य में विद्यमान हैं। उनके सम्पूर्ण साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रकृति डॉ.श्यामसुन्दर दुबे के साहित्य का पोषण करती है और उनका साहित्य प्रकृति का पोषण करता है। एक चिन्तक होने के कारण, प्रकृति के मूल स्वरूप में बदलाव और क्षरण होने पर साहित्यकार का चिन्तित होना, उनके सामाजिक सरोकार और सामाजिक प्रतिबद्धता को दर्शाता है। प्रकृति और पर्यावरण प्रदूषण पर डॉ. दुबे का चिन्तन उनकी सम्पूर्ण रचनाओं में अभिव्यक्त हुआ है। सामाजिक दिशा-परिवर्तनों में मानव समाज की भूमिका को उनका साहित्य प्रकृति और मानव की साझेदारी के संदर्भ में प्रस्तुत करता है। उनके बहुआयामी व्यक्तित्व को उनकी रचना-धर्मिता के माध्यम से शोध में समाहित करने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही मनुष्य और प्रकृति के अंतर्संबंधों को पर्यावरण के संदर्भ में आकलन किया गया है।

संदर्भ :

1. सिंघई, डॉ.कमोद- डॉ.श्यामसुन्दर दुबे : संवेदना एवं सृजन, विश्वभारती पब्लिकेषंस, नई दिल्ली, सं. 2004, पृ.83

■

केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं में प्रकृति एवं खेती-किसानी

डॉ. बृजेश कुमार पाण्डेय
सहायक प्राध्यापक हिन्दी
शा. रामानुज सिंह देव स्नातकोत्तर महाविद्यालय
बैकुण्ठपुर, कोरिया, (छ.ग.)

कवि केदारनाथ अग्रवाल हिन्दी की प्रगतिशील काव्यधारा के प्रमुख रचनाकार माने जाते हैं। कवि प्रतिभा इन्हें विरासत में प्राप्त हुई थी। इनके पिता श्री हनुमान प्रसाद 'मान' नाम से ब्रजभाषा में कविताएँ लिखा करते थे तथा उनकी कविताओं का संकलन 'मधुरिमा' नाम से प्रकाशित हुआ है। 1 अप्रैल 1911 को उत्तर प्रदेश के बांदा जिले की बबेरू तहसील के कमासिन नामक गाँव में केदार जी का जन्म हुआ था। वे पेशे से एक वकील थे लेकिन उनका हृदय एक कवि का था जिस कारण से उन्हें वकालत में अधिक सफलता प्राप्त नहीं हुई। इलाहाबाद में रहते हुए निराला, बच्चन, शमशेर, रामकुमार वर्मा आदि के संपर्क में आये जिससे उनकी अभिरूचि हिन्दी साहित्य के प्रति और बढ़ती गई। हंस, नया साहित्य जैसी पत्रिकाओं में इनकी रचनाएँ बराबर प्रकाशित होती थीं।

केदारनाथ अग्रवाल बुंदेलखण्ड की धरती से जुड़े हुए कवि हैं, जिनकी रचनाओं में उस मिट्टी की महक और वहाँ के निवासियों का जन-जीवन अपनी समूची विशेषताओं के साथ उपस्थित है। वे पाखंड से दूर सहजता के कवि हैं। उनका जीवन दर्शन मार्क्सवाद है जिसके अनुसार आर्थिक आधारों पर वर्गों में विभाजित समाज तब तक गतिशील नहीं हो सकता जब तक उसमें समानता स्थापित न हो जाए। छायावादी कवियों की तरह वे कल्पनालोक में विचरण नहीं करते बल्कि आस-पास के जनजीवन से गहरा लगाव रखते हैं। उनकी कविताओं में प्रकृति के सौन्दर्य का वह रूप निर्मित हुआ है जो वहाँ की जनता के जीवन के साथ अभिन्न रूप से जुड़ी हुई है। इनके यहाँ प्रकृति मानव जीवन की सहचरिणी बनकर उसके जीवन के प्रत्येक पक्ष के साथ इस प्रकार एकाकार है कि उसका प्रत्येक क्रिया व्यापार प्रकृति के साथ जुड़कर ही अपना वजूद पाता है।

अग्रवाल जी भले ही वणिक वर्ग में पैदा हुए थे लेकिन इनका परिवार मुख्यतः खेती-किसानी ही करता था। किसान जीवन में प्रकृति का अपना गंवई स्वरूप होता है जो प्रकृति की नीति और नियति पर निर्भर करता है। केदारनाथ अग्रवाल की प्रकृति आभासी न होकर खेत-खलिहानों, बगीचों वाली वास्तविक प्रकृति है। चने के पौधों की शोभा अलसी के साथ कितनी खूबसूरत दिखती है इसका चित्रात्मक वर्णन कवि ने इन शब्दों में किया है—

एक बीते के बराबर। यह हरा ठिगना चना।
बांधे मुरेठा शीश पर। छोटे गुलाबी फूल का।
सज कर खड़ा है।
पास ही मिलकर उगी है।
बीच में अलसी हठीली।
देह की पतली कमर की है लचीली।1

एक जनवादी कवि होने के कारण खेतों और अपनी मिट्टी से इनका बहुत ही गहरा लगाव है। खासकर केन नदी का सौन्दर्य उनकी कई कविताओं में हमें देखने को मिलता है एक जगह तो उन्होंने केन नदी के सौन्दर्य का वर्णन मानवीकृत रूप में करके उसकी तुलना एक नौजवान ढ़ीठ युवती से की है—

"नदी एक नौजवान ढ़ीठ लड़की है
जो पहाड़ से मैदान में आई है
जिसकी जांघ खुली और हंसों से भरी है।"[2]

इस प्रकार केदारनाथ अग्रवाल प्रकृति के सूक्ष्म मानसिक सौन्दर्य के स्थान पर उसके व्यावहारिक रूप को चित्रित करते हुए मानवीय स्वभाव से जोड़ते हैं। इनके यहाँ प्रकृति मानव-सापेक्ष रूप में ज्यादा दिखाई देती है। प्रकृति कवि को मानव मुक्ति की प्रेरणा देती है।

केदारनाथ अग्रवाल किसानी प्रकृति के रचनाकार हैं। फलस्वरूप उनकी कविताओं में फसलों से संबंधित चित्र अधिक मिलते हैं। वे गाँव में पले-बढ़े हैं। इनके जीवन का अधिकांश भाग गाँव में ही बीता है। कृषकों द्वारा उपजाई गई फसल से देश की जनता का पेट भरता है तथा अच्छी फसल होने पर देश की अर्थ व्यवस्था में भी प्रगति होती है। किसानों की लहलहाती फसलों से भरी धरती की अद्भुत छटा कवि को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है—

"अबकी धान बहुत उपजा है। पेड़ इकहरे दुगुन गये हैं।
धरती पर लद गई फसल है। रत्ती भर अब जगह नहीं है।
खेत काटने की इच्छा से। खेतिहर प्रिय जन साथ समेटे।
काछा मारे-देह उघारे। आ धमका है आज सवेरे।"[3]

यह धरती किसान की है। चाहे बरसात हो, चाहे घाम हो लेकिन वह किसान बैलों के कंधे पर अपने भाग्य का जुआ रखकर, खून चाटती हुई वायु में भी खेत को जोतकर उसमें नयी फसल उगाता है। सामान्यतः लोग यही कहते देखे जाते हैं कि यह धरती राम की, या कृष्ण की या ईश्वर की है लेकिन अग्रवाल जी इस धरती को न तो राम की मानते हैं, न कृष्ण की, न ईश्वर की बल्कि वे इस धरती को किसान की धरती मानते हैं जिसको बादल भी आसमान में गरज-गरज कर मोल न ले पाये वह धरती केवल और केवल किसान की है क्योंकि वही इस मिट्टी का पूर्ण पारखी है—

"यह धरती है उस किसान की,
जो मिट्टी का पूर्ण पारखी,
जो मिट्टी के संग साथ ही,
तपकर,
गलकर,
जीकर,
मरकर,
खपा रहा है जीवन अपना,
देख रहा है मिट्टी में सोने का सपना।"[4]

अपने प्रथम प्रकाशित काव्य संग्रह 'युग की गंगा' की भूमिका में केदारनाथ अग्रवाल जी ने वर्तमान समय की हिन्दी कविता और किसान पर अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहा है कि—"अब हिंदी की कविता न रस की प्यासी है, न अलंकार की इच्छुक है, और न संगीत की तुकान्त पदावली की भूखी है। भगवान अब उसके लिए व्यर्थ है। आज जिसके कि राजा शासक हैं, पूंजीपति शोषक हैं। अब वह चाहती है - किसान की वाणी, मजदूर की वाणी और जन-जन की वाणी।"[5] इस प्रकार उन्होंने प्रकृति का किसानी चित्रण किया है।

प्रकृति चित्रण में ऋतुओं का सौन्दर्य भी अनेक कवियों ने चित्रित किया है। कवि केदारनाथ अग्रवाल भी इसके अपवाद नहीं रहे हैं। ऋतुओं में बसंत ऋतु उनकी प्रिय ऋतु रही है जिसके अनेक चित्र उन्होंने अपनी कविता में उकेरे हैं—

"यह बसंत जो
धूप, हवा, मैदान, खेत, खलिहान, बाग में
निराकार मन्मथ मदांध-सा रात-दिवस सांसे लेता है।
जानी-अनजानी सुधियों के कितने-कितने संवेदों से,
सरवर, सरिता,
लता गुल्म को, तरू-पातों को छू लेता है।"[6]

केदारनाथ अग्रवाल जी ने अपनी प्रकृति संबंधी रचनाओं में अनेक प्रतीकों का भी प्रयोग किया है लेकन इससे कोई उन्हें प्रतीकवादी कवि कहे यह बात कवि को सहन नहीं है। कविता में प्रतीकों की व्यवस्था कोई आज की देन थोड़े ही है बल्कि यह तो भारतीय साहित्य की चिरकालीन पूँजी है। अपनी बात को स्पष्ट करते हुए 'लोक और आलोक' की भूमिका में वे लिखते हैं कि—''मैने अपनी कई कविताओं में प्रकृति को नये रंग-रूपों से रूपायित किया है। वह प्रयोग नहीं प्रगति का सूचक है। इसके अतिरिक्त प्रतीकों के माध्यम को भी मैंने ग्रहण किया है, इस माध्यम की उपेक्षा नहीं हो सकती किन्तु प्रयुक्त करते समय इस माध्यम की न्यूनताओं को बखूबी समझ लेने में ही कवि की कुशलता होती है। प्रतीक किसी नये कवि ने नहीं निकाले। प्रतीकों को सदैव भारतीय साहित्य में सम्मानित स्थान दिया गया है। आज तो हम उस विरासत को आगे बढ़ा रहे हैं और समर्थ कर रहे हैं।''[7]

''चंद्रगहना से लौटती बेर'' नामक कविता में कवि एक पोखर के किनारे खेत की मेढ़ पर बैठा है और प्रकृति के आश्चर्यजनक रूपों को देख रहा है। वास्तव में यह कविता विविधतामय प्रकृति का एक गतिशील चित्र हमारे सामने उपस्थित करती है। इसमें गुलाबी रंग के फूलों से सजे मुरैठा की तरह दीखता चने का पौधा साधारण व्यक्ति की गरिमा का उद्घोष बन जाता है। यहाँ भी वे एक जीवन-स्पर्शी बिम्ब की रचना करते हैं और वह है हिल-मिलकर उगे अलसी के पौधों की एकता का बिम्ब। 'खेत का दृश्य' नामक कविता में उन्होंने धरती को राधा के रूप में तथा किसान को कृष्ण के रूप में चित्रित किया है। इसमें आसमान इसका दुपट्टा और धानी फसल इसकी घंघरिया है—

''आसमान की ओढ़नी ओढ़े।
धानी पहने फसल घंघरिया।।
राधा बनकर धरती नाची।
नाचा हंसमुख कृषक संवरिया।।''[8]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बिम्ब का मूल आधार संवेदना होती है और मूर्तिमत्ता इसका अनिवार्य धर्म होता है, जिसका सफल निर्वाह अग्रवाल जी ने किया है।

प्रकृति चित्रण केदारनाथ अग्रवाल ने भी किया है और छायावादी कवियों ने भी खूब किया है। लेकिन दोनों में पर्याप्त अंतर है। इस अंतर को बताते हुए डॉ. बच्चन सिंह लिखते हैं कि—''केदार की प्रकृति सहज और आत्मीय है जबकि छायावादी काव्य की प्रकृति में नागर कोमलता तथा भयंकरता है और कवि प्रायः उनकी शरण में पनाह खोजता रहता है।''[9] केदारनाथ अग्रवाल की प्रकृति में किसानों का श्रम जनित सौन्दर्य पूर्ण रूप से अनुस्यूत है, साथ ही लोक परिवेश की भूमिका भी उसमें समाहित है।

अपनी लेखन की यात्रा चौथे दशक से प्रारंभ करने वाले कवि केदारनाथ अग्रवाल ने प्रारंभ में प्रेम और सौन्दर्य की कविताएँ अधिक लिखी हैं। लेकिन कालान्तर में उसमें किसान, मजदूर और प्रकृति ने भी अपना स्थान बना लिया। इन्होंने किसानों और श्रमशील जनता पर बहुत अधिक लिखा है इसलिए डॉ. शिवकुमार मिश्र इन्हें मूलतः किसानी संवेदना का कवि मानते हैं। विश्वनाथ प्रसाद मिश्र केदार की प्रकृति संबंधी कविताओं के आधार पर उनकी कविता को ''प्रकृति के साहचर्य में मुक्ति की तलाश'' की कविता मानते हैं। आलोचकों का यह भी मानना है कि केदारनाथ अग्रवाल रूढ़िबद्ध प्रगतिशीलता के पक्षधर नहीं हैं, उनकी कविता का दायरा सीमित नहीं है बल्कि उनके काव्य का सरोकार व्यापक धरातल पर हमें दिखाई देता है जिनमें—प्रकृति, प्रेम, किसान, मजदूर आदि सब आ जाते हैं।

उनकी एक बहुत ही प्रसिद्ध कविता है—''बसंती हवा'' जिसमें मुक्ति की कामना बड़े ही उदात्त ढंग से अभिव्यक्त हुई है और वह भी प्रकृति के साथ अन्तर्भुक्त होकर -

अनोखी हवा हूँ, बड़ी बावली हूँ
बड़ी मस्तमौला, नहीं कुछ फिकर है
बड़ी ही निडर हूँ, जिधर चाहती हूँ
उधर घूमती हूँ, मुसाफिर अजब हूँ
न घर-बार मेरा, न उद्देश्य मेरा
न इच्छा किसी की, न आशा किसी की
न प्रेमी, न दुश्मन
जिधर चाहती हूँ, उधर घूमती हूँ
हवा हूँ, हवा मैं बसंती हवा हूँ।

इन सब कविताओं की सबसे बड़ी बात यह है कि ये केवल कोरे वर्णन ही प्रस्तुत नहीं करतीं बल्कि इनमें जो सबसे बड़ा गुण है वह है संप्रेषणीयता का। इनके काव्य का कथ्य सम्पूर्ण मानव जीवन और प्रकृति की वैचारिकी को संवेदनात्मक धरातल पर ग्रहण करके अभिव्यक्ति देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि केदारनाथ अग्रवाल का काव्य प्रकृति, खेती, किसानी आदि से जुड़ा हुआ है। इसका कारण संभवतः यह है कि वे स्वयं भी उस परिवेश से जुडे रहे हैं जिसकी यथार्थ अभिव्यक्ति हम उनके काव्य में पाते हैं। उनकी कविताओं में बुंदेलखण्ड की जनता और जीवन के साथ जुड़ी प्रकृति का चित्रण ही अधिकांशतः हुआ है। बुंदेलखण्ड की जीवनदायिनी नदी केन का सौन्दर्य और प्राकृतिक वातावरण उन्हें काफी प्रभावित करता है। इनकी कविताओं के प्राकृतिक दृश्य कृत्रिम सौन्दर्य की शोभा न होकर गंवई स्वरूप का

सहज सौन्दर्य हैं। प्रगतिशील कवियों ने प्रकृति को एक नए दृष्टिकोण से देखा जो कि छायावाद से सर्वथा भिन्न दृष्टि थी। प्रगतिशील कवियों की निगाह प्रकृति के अछूते सौन्दर्य की ओर भी गई। इन्होंने प्रकृति को प्रेरणा के रूप में ग्रहण किया और उसे सामान्य जन-जीवन से संयुक्त करके एक उदात्त स्वरूप प्रदान किया। इनकी कविता में प्रकृति तथा सामाजिक परिवेश और सामान्य जन अंतर्गुंफित है। केदार जी के लिए कविता हमेशा जीवन-साधना रही। कोई उन्हें ग्रामीण चेतना का कवि कहता है, कोई संघर्ष का, कोई श्रम का, कोई प्रकृति का, कोई सौन्दर्य का। पर केदार जी इनमें से केवल किसी एक धरातल के कवि नहीं हैं। वे जीवन की संपूर्णता के कवि हैं। इन्होंने खेती-बारी से जुड़े कार्यकलापों पर कई गीत और कविताएँ लिखी हैं जैसे—कटुई, निरौनी, ओसौनी आदि। इन्होंने "किसान-स्तवन" भी लिखा है। केन नदी केदार जी के लिए केवल जल-प्रदायिनी ही नहीं है उनकी कविताओं में वह चेतना की भी नदी है।

संदर्भ :

1. अग्रवाल केदारनाथ—युग की गंगा, पृष्ठ 9
2. त्रिपाठी डॉ. अशोक—संचयिता - केदारनाथ अग्रवाल, सम्पादक, पृष्ठ 188, महात्मा गांधी अन्तरराष्ट्रीय हिन्दी वि.वि. वर्धा के लिए प्रकाशित।
3. त्रिपाठी अशोक (सम्पादक)—प्रतिनिधि कविताएँ केदारनाथ अग्रवाल, पृष्ठ संख्या 40-41,
4. अग्रवाल केदारनाथ—गुलमेंहदी, पृष्ठ - 56, साहित्य भंडार प्रकाशन - इलाहाबाद, प्रथम संस्करण - 2009
5. वही, पृष्ठ 198 (युग की गंगा की भूमिका से)
6. अग्रवाल केदारनाथ - फूल नहीं रंग बोलते हैं, पृष्ठ 39
7. गुलमेंहदी, पृष्ठ 202, (लोक और आलोक की भूमिका से)
8. त्रिपाठी अशोक (सम्पादक)- फूल नहीं रंग बोलते हैं, प्रथम संस्करण - 2009 साहित्य भंडार प्रकाशन इलाहाबाद, पृष्ठ 31
9. सिंह बच्चन—आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास - लोक भरती प्रकाशन इलाहाबाद, संशोधित संस्करण-2003, पृष्ठ 252

■

Climate Change and Water Crisis in Eco-films *Kadvi Hawa* and *Turtle*

Dr. Bhanupriya Rohila
Assistant Professor
Department of English
Mohanlal Sukhadia University
Udaipur.

Abstract:

With the progressing times, humans are making scientific and technological advancements, yet the intellectually empowered species is not able to keep the world away from the environmental crisis and rather is playing the pivotal role in this disbalance in nature. Destabilization of the ecological balance is severely alarming. Literature in all its possible forms has been using nature for expressing deepest emotions of human life and has been sensitizing the masses to protect it too. Films as literature are a powerful medium to address these ecological concerns. The present paper discusses two Indian films *Kadvi Hawa* (2017) and *Turtle* (2018) to understand how eco-cinema is portraying critical situations caused by the rampant callousness of human activities towards nature making humans both the 'agent' and the 'victim' of the environmental injustice. The irresponsible attitude of humans is putting the whole humanity in danger. The two films mainly project the response of nature against the wrongs done to it and showcase the economic, social, and psychological impacts of ecological crisis.

Introduction

Films and media have been instrumental in voicing out concerns related to various issues. With the ever-increasing urbanization and industrialization, the issues of climate change and its consequences are affecting lives adversely and films across the globe are attempting to bring about a favourable change. Indian cinema has also been making efforts to accentuate the need of saving ecology. The present paper analyses two Indian films *Kadvi Hawa* (2017) and *Turtle* (2018) which belong to the genre of ecocinema or eco films that address ecological concerns and their representation in films. The coinage of the term 'ecocinema' is attributed to Roger Anderson, however, he used the term to signify special theatre for nature lovers with simulated conditions where the sights and sounds of nature are refined to produce a superior art form (Anderson 452). In the present context, the term signifies,

> film that has a conceptual content which more or less explicitly promotes ecological ideas, or, more generally, an ecological sensibility. This conceptual content is usually understood to heighten viewers' awareness of concepts such as ecocentrism and ecological interconnectedness. (Ingramd 44)

To put it simply, it can be said that ecocinema brings the environmental issues to the forefront in cinema. It spreads awareness and makes people conscious of the looming ecological dangers and sensitizes the society towards this. It is often treated as a part of ecocritical studies that study the connection between the human, nature and culture.

Highlighting the connection between nature and culture, Rust and Monani suggest that environment is not just the organic world. Rejecting the Kantian and Marxist thoughts about nature as something from which we have to find freedom or we have to fight for survival, they

opine that "it is the whole habitat which encircles us, the physical world entangled with the cultural. It is an ecology of connections that we negotiate to make our meanings and our livings." (1). They further call "cinema as a form of negotiation, a mediation that itself ecologically places as it consumes the entangles world around it, and in turn, is itself consumed." Quoting Paula Willoquet Marcondi, they state "documentaries and non-commercial cinema may be thought of as ecocinema because they are the most capable of inspiring progressive eco-political discourse and action among viewers" (Rust and Monani 3)

The two films under consideration portray water crisis due to climate change which is signalling fast at an apocalyptic future. Water is an essential resource of the ecosystem. The World Bank states, "As the climate continues to change, millions of poor people face increasing challenges in terms of extreme events, health effects, food, water and livelihood security, migration and forced displacement, loss of cultural identity and other related risks." It also associates the reason of their vulnerability that lies in several factors including geographical locations and their economic and cultural status. Through these two films, the paper highlights that climate change has majorly impacted the families shown and face displacement, loss of identities and other risks; all this has been shown through the issue of water crisis.

India is primarily an agrarian country and with the increasing climate change, farmer suicide is a common phenomenon which despite several efforts by the State and individuals has not decreased much. The films considered in the paper are set on the backdrop of Rajasthan and hence they can powerfully represent the life-threatening situations due to water crisis and how the characters respond to the problem.

Rajasthan, a state which was considered as one of the BIMARU states for decades, is though no longer economically and infrastructurally weaker but it is known to be the most water deficient arid region of India. It has had a history of survival through droughts and famines. The remote villages are mainly impacted by the problem

of water scarcity and hence the villagers live with limited resources. Now that it is important to understand how the crisis can be handled or its impact can be lessened. Scholars have come up with different approaches to interpret and analyse the problem. Scientists have provided water management systems and better tools to understand and resolve the problem but "it is also vital to understand how rural people perceive local water scarcity and how this is socially differentiated" (Singh *et.al*). Therefore, to understand different perception of water risk, intangible socio-cognitive aspects like experience, memory, definition, and expectations should be analysed so that people's notions of risk and response can be understood and used to manage future risks. Their vulnerability and adaptation management depends a lot on their perception which is shaped by their values system, socio-cultural norms, and their individual and collective memory of such past extreme events (Singh et al).

The film is *Kadvi Hawa,* written and directed by Nila Madhab Panda, is based on the social, economic, and psychological effects of climate change. The title of the film literally translates as 'Bitter Wind' but the filmmaker translates it as 'Dark Wind' and both justify the pathetic condition of the people of the barren land. The narrative is set in Mahua village of Rajasthan where farmers entangled with famine and debts are committing suicide. The story revolves around the protagonist Hedu, an old blind man retired from farming, and his encounters with Gunu Babu, a loan recovery agent. Hedu wants Gunu Babu to exempt his son from the repayment of debt fearing his suicide but Gunu Babu in exchange wants Hedu to help him recover loan from other villagers which is quite a task otherwise, especially when there have been no rains and no crop. Gunu Babu is from Odisha where the floods and cyclones are frequent. The flood has already taken away his father and his house and he is now trying to save his remaining family from it. The two contradictory situation of famine

and flood are woven together in the narrative to amplify the concerns towards climate change which is causing such dire conditions.

Another film *Turtle* is a Rajasthani film and has won a National Award. Directed by Dinesh Yadav, it is also a story of a drought-stricken village in Rajasthan. Due to the huge water crisis in the hamlet, the villagers lack water even for their basic needs and therefore they have to buy it from Shambhu who is selling it on an unreasonably higher price. The protagonist Ramkaran Choudhary has been a respectable and creditable man who had a stepwell that was used by the villagers for years. To bring back those times, he takes it upon himself to dig a well to find water for the villagers. He finds it even more obligatory because of his grandson who is called 'Akali' i.e. unlucky who has brough drought to the village since his birth, therefore, Ramkaran is determined to destigmatize his grandson. In a hope to find water underneath, he tells the villagers to dig the well as there is a hidden treasure of his forefathers so that they can use it to create another stepwell. The narrative, filled with anxiety about whether he would find water or not and the increasing despair with each failed attempt, progresses with several turns wherein Choudhary gradually loses people's trust and thereafter loses faith in himself. The initiative to bring back water taken by Ramkaran blowbacks and the irrational villagers in desperation eventually accuse Ramkaran of sorcery on Reena and decide to expel the whole family with comeback condition to bring back water. The tragic end shows children leaving the village and the young generations looking at several empty vessels falling to dry stepwell. The title of the film is a metaphor for Choudhary's attempts to find water as a turtle.

In both the films, the socio-economic framework of characters plays an important role in shaping their decisions for dealing with the situations. Hedu and Ramkaran initially try to make adaptations but the dire situations and helplessness make them extremely vulnerable and they end up surrendering to their fate. Ramkaran due to his family

repute takes the risk of digging up the well so that everyone can get water. However, his perception of the risk makes him and his family migrate from the village as expellees since he could not get the water due to lack of resources. Similarly, Hedu knows that his son could commit suicide like other men in the village since he cannot repay the debt in absence of rains. Therefore, Hedu decides to help Gunu babu. The climate change can largely be held responsible for the decline of their economic condition and their decisions, especially of Hedu's decision to help Gunu Babu which he knew that would lead to suicide of other fellow farmers, are a consequence of the same. The decisions made by him can be seen as unethical to some but the reason of this is certainly a struggle for survival.

The social and cultural practices of the villages portrayed also have been responsible for their fate. In *Turtle*, the moniker given to Ashok, Hedu's grandson, as 'Akali' reminds that Shambhu remembers Ashok's birth as the period when drought started in the village and he associates the child with this ill-omen. Undoubtedly, the personal grudges against Ramkaran and his family also makes him do this. It is said that 'memories, sometimes personal and sometimes borrowed, are closely associated with personal and political events' (Singh et al) and the characters shown also have impact of their past experiences and memories on their actions. In *Kadvi Hawa*, Gunu Babu's memories of flood in past and the associated loss of his father and his house, make him miserable when the situation arises again in Odisha and he becomes desperate for the wellbeing of his family, especially of his child. Also, witnessing the dying farmers, Hedu's fear for his son's wellbeing also denote his experiences as a farmer. These memories and past experiences not only impact their psychological state but also makes them desperate to act whatever they find best suitable for their survival from unwanted consequences.

Thus, all the characters in both the films live under constant fear, anxiety, and helplessness. In *Kadvi Hawa*, Gunu Babu and Hedu

both want to save their families; their uncertain futures increase their anxiety; both Gunu Babu and Hedu are tied to their circumstances that they cannot help each other yet they make reconciliations. Gunu Babu is known as the *Yamdut*, the call (messenger) of Death, in the village. Hedu's words to Gunu Babu "*Tum jab bhi yahan aate ho 4-5 logo ki zindagi saath le jaate ho*" (which means, whenever you come here, you take away 4-5 lives with you), show why is he known as the *Yamdut*. *Turtle*'s Choudhary also feels the fear and anxiety of the growing water shortage and feels helpless and cannot save the family's reputation or even their expulsion from the village.

The two narratives are depressing as all the characters are fighting for their survival. The characters are exhausted of life and ready to sacrifice it anytime. Lack of water is a continuous threat. On one hand, a person like Hedu wants a life where there is no fear of water crisis, on the other, people like Gunu Babu are under the fear of fierce water of sea.

For Hedu and Gunu Babu, the fate alone cannot be held responsible for their conditions, but poverty, corruption and government's apathy are equally responsible, whereas, in the case of Ramkaran, it is poverty and the social-political structure of the village that makes him miserable. The incidents of the two films show how the villagers who are both the 'agents' and the 'victims' of the social injustice, are putting humanity at stake. It also shows how their children and future generations are going to be resourceless. In an amusing scene from *Kadvi Hawa*, the teacher asks a student to name four seasons but the student can answer only two: "Summer and winter", this dark humour makes us think why the child is not able to name monsoon but we are suddenly aware of the answer.

Thus, both the films are great eye openers to the people who are still in denial of water crisis. Interestingly, in both the films, the lead roles have been performed by the actor Sanjay Mishra who is known for his roles in non-commercial films with different social causes. The

two films have received rave reviews and wider audience across the nation. *Kadvi Hawa* forces the masses to introspect since no single character can be held responsible as the antagonist in the narrative. The film *Turtle* reflects upon the social and cultural anxiety and as a result of water crisis. In an interview, describing the character of Ramkaran, the director Yadav relates that "he is always digging the dry ground to look for the source. Another metaphor that he talked about was that the only place in the film where he found water was in the eyes of Ramkaran" (Roy). In India, green cinema or ecocinema is still at a budding stage as most of the people and the filmmakers are busy with commercial and popular cinema. The two films have, thus, successfully taken up the critical issue of environmental crisis and water scarcity to sensitize people. At this alarming stage, the film *Kadvi Hawa* uses hashtags *#BringBackThe Seasons* and *#OpenYourEyes*. The barren, parched and soiled land as the landscape for both the films deepens the sense of deprivation and the poor people waiting for the raindrops to fall, accentuate environmental injustice. It is hoped that such films will help people understand the gravity of situation and act accordingly; also, India would have more such films to address ecological concerns. The paper can be concluded with Gulzaar's following lines that he composed for *Kadvi Hawa*:

Banjare lagte hain Mausam
Mausam beghar hone lage hain
Jungle ped pahad samandar
Insaan sab kuch kaat raha hai
Chheel chheel ke khaal zameen ki
tukda tukda baant raha hai
Asamaan se utre Mausam
saare banjar hone lage hain
Mausam beghar hone lage hain
Dariyaon pe bandh lage hain

Phodte hain sar chattaonon se
Baandi lagti hai ye zameen
Darti hai ab insaano se
Behti hawa pe chalne wale
Paaon patthar hone lage hain
Mausam beghar….

—*Gulzaar*

Works Cited :

Ingramd, David. "The aesthetics and ethics of eco-criticism." *Ecocinema Theory and Practice,* edited by S. Rust, S. Monani, & S. Cubitt, Routledge, 2013, pp 43-61.

Kadvi Hawa. Directed by Nila Madhab Panda, Drishyam Films, 2017.

Roger C. Anderson. "Reflections: Ecocinema: A Plan for Preserving Nature." *BioScience*, Vol 25, no 7, July 1975, p. 452, https://doi.org/10.1093/bioscience/25.7.452

Roy, Shovan. "In Conversation with Dinesh S. Yadav: Story Behind 'Turtle'." *filmfugitives.com.* 2022.

Rust, S., & Monani, S. "Introduction: Cuts to dissolves – defining and situating ecocinema studies." *Ecocinema: Theory and Practice,* edited by S. Rust, S. Monani, & S. Cubitt, Routledge, 2013, pp 1-13.

Singh, C., Osbahr, H. & Dorward, P. "The implications of rural perceptions of water scarcity on differential adaptation behaviour in Rajasthan, India." *Reg Environ Change* 18, 2018, pp 2417-32. https://doi.org/10.1007/s10113-018-1358-y

The World Bank. "Social Dimensions of Climate Change." https://www.worldbank.org/en/topic/social-dimensions-of-climate-change#:~:text=As%20the%20climate%20continues%20to,identity%2C%20and%20other%20related%20risks.

Turtle. Directed by Dinesh S. Yadav, Shivazza Films and Entertainment, 2018

■

Ecocritical Reading of Literature : Understanding the Silencing of Nature

Dr. R. P. Singh
Asstt Professor of English
RGG PG College,Ambikapur
Distt—Surguja (Chhattisgarh)

Abstract

The starting premise of this article is that the mere resource-status of the non-human nature is the consequence of its being silenced by the anthropocentric discourse centred on the idea that Man is the only 'speaker'. An attempt will be made here to map this discourse in terms of two interlinked discursive stages of Medieval exegesis and Renaissance humanism. It will be argued that the dominance of the humanist insistence on the human being the sole entity possessing articulate subject status still continues despite more than one set of evidences.

If one takes Rachel Carson's *Silent Spring* (1962) as the first 'earth-conscious' literary text, the time-distance the environmental ethics movement in art and literature, popularly known as ecocriticism, has travelled till now comes to a little over six decades. This period has produced a vast corpus of critical texts whose reading renders one safe to say that ecocriticism can be viewed as an ecological outgrowth of post-structural literary criticism. To take the simplest possible analogy, just as the feminist reading of literature examines texts from gender-conscious perspectives,ecocritics read them from earth-centred approaches. Starting from the 'power-political 'premise

that language reveals as well as conceals in the interest of serving certain discursive power-structures created and sustained by the socio-culturally privileged strata of the society, what post-structuralism has done for the human *others* like women, ethnic minorities, principled non-conformists of all kinds, ecocriticism does for the earth, or the natural world, treating it as another silenced *other* in our technological society. The silencing of nature by the privileged discourses of human civilization and progress is a loud cry heard in reading literature from an ecocritical perspective. Christopher Manes writes for the entire human world caught in the uni-directional competitive race of more and more commerce for more and more material human advancement,

'Nature is silent in our culture (and in literate societies in general) in the sense that the status of a speaking subject is jealously guarded as an exclusively human prerogative. …The language we speak today, the idiom of Renaissance and Enlightenment Humanism, veils the processes of nature with its own cultural obsessions,directionalities,and motifs that have no analogies in the natural world'. (Manes 15. Significantly, the parenthetical observation about the whole progress-conscious human world is in the original).

What if not silenced?

There are no two opinions about the identity of the silencing agent. It is the human beings. The question is: is there any discursive trajectory along which this silencing of nature can be understood with clarity, so as to strengthen the argument behind environmental ethics which undergirds ecocritical reading of literary texts? The answer is yes. This article will try to map that trajectory. But before going for that mapping it would be relevantly worthwhile to justify in brief why an understanding of the silence of nature, which is the result of its discursive silencing by man, is important. It is important because, in general sociological terms of power and powerlessness, one who speaks is not liable to be exploited. Hans Peter Duerr extrapolates this idea into the field of concern for conservation of nature and writes

in his *Dreamtime: Concerning the Boundary between Wilderness and Civilization*…. 'people do not exploit a nature that speaks' (Duerr 92).In the post-Foucault intellectual world it is a matter of general acceptance that social power operates through discourses. It is the discourses which give voice to someone/something or silences someone/something.It is they which make an entity a speaker or turns it mute. The network of privileged speakers identified throughout history as priests and kings,authors,intellectuals and celebrities has guided and controlled the socio-cultural behaviours of people who take their words seriously as opposed to the discourse of 'meaningless' and silenced entities like women,minorities,children,prisoners and the insane. The consequence of this practice of discourse and its acceptance-in-action has been that moral consideration regarding what to do and what not to do seems to fall only within a circle of speakers in communication with one another. This paradigm of the power of voice and the powerlessness of the voiceless has clear implications in the field of the concern for ecological disaster as pointed in Duerr's sentence-fragment quoted above. Speaking nature is not exploited because it is regarded alive and articulate. This 'regard' has implications as well as consequences in the realm of social practices of the humans. It determines what is nature, and conditions what is true knowledge about nature. As a natural corollary, it prescribes norms about how individuals and social institutions have to interact with nature in their search for the fulfillment of their various material needs. A confirmation of this fact comes from the observation of the state of the health of nature found in animistic societies where nature has not been silenced. The perspective of animism about nature which undergirds the day-to-day life in many contemporary societies is grounded in a set of beliefs that all the phenomenal world is alive in the sense that the spirit of life flows through everything including humans, natural entities, cultural artefacts; and that the non -human world is not just alive but is imbued with forces of articulation able to communicate with the human

beings. The result for all to see of these beliefs is that the animistic societies have, almost without exception, avoided the kind of environmental destruction that is the fate of the societies controlled by the Ideology of Man as the sole soliloquoist,where the humanistic-materialistic ideologies of reason and progress render the nonhuman world silent and voiceless.

Genealogy of the discourse of silencing nature

The Medieval Exegesis

The justification of humanity's domination of nature can be understood as a historical process of the successive erosion of the animistic attitude and approach toward nature. In a broad way, the temporal point of beginning of this process has been located in the medieval age style of interpretation of the Biblical texts, which came to be called as exegesis. In this exegetical view all the entities in the universe existed and should be understood in a three-levelled structure of the meaning of their existence --- the *littera* (the literal or the mundane),*moralis* (morally true), and *anagogue* (having a divine purpose which is beyond the common human intellect). In sum, exegesis established God as a transcendental subject speaking through natural entities which, like words on a page, had symbolic meanings without having any autonomous voice of their own. A commentator on environmental issues has succinctly simplified this view, and he needs to be quoted at some length,

According to medieval commentators, eagles soared higher than any other bird and could gaze upon the sun,undazzled,because they were put on Earth to be a symbol of St. John and his apocalyptic vision, not the other way round. From this hermeneutical perspective, it was inconceivable that eagles should be autonomous, self-willed subjects, flying high for their own purposes without reference to some celestial intention, which generally had to do with man's redemption. Exegesis swept all things into the net of divine meaning (Mane: 19).

The modern empiricism-loving thought has declared this view as unscientific and mystical, but what is important to note here is the fact that the mental legacy of this medieval exegetical view still continues as operative in another garb. The main point to consider is the search for 'transcendental' meanings or concerns behind natural entities. The modern scientific mind has replaced the search for divine meanings with the concern for finding out and establishing the evolutionary *telos* of humanity. Michel Foucault, in his *The Order of Things: An Archaeology of the Human Sciences*, calls this search 'the return of exegesis'. To repeat a little, for the medieval exegetical commentators God was the above-and-beyond hidden power speaking through natural entities, while the modern scientific aim of discerning the human being as the final point of zoological evolution seeks to establish scientific reason as a discourse the modern human society speaks with civilized pride.

It may sound as too sweeping an account of the medieval understanding about man's relationship with nature, and claim that every man and woman of the Middle Ages believed in it. But this much cannot be denied that for the Church and aristocracy, the institutions that dominated discourse of the time, the world of natural phenomena and entities was a symbol and source for the expression of God's orderliness and glory. This idea gave birth to its kindred cosmological model of the *scala naturae* or the Great Chain of Being. This model fixed the hierarchical positions of all lower and higher species of zoological forms in the chain of being with humankind's place higher than beasts and less than the angels; and then closed the door. As Arthur O. Lovejoy, in his *The Great Chain of Being: A Study of the History of an Idea*, quotes Thomas Aquinas praising the diverse multitude of species as 'a greater addition to the good of the universe than the multiplication of individuals of a single species', one can assume that at least in the Medieval monastic surroundings the concept of

scala naturae might have worked as a kind of theological restraint against abusing the natural world (Lovejoy 77).

The Renaissance Humanism

Renaissance inherited the idea of the Great Chain of Being from the Medieval exegetical commentators and added to it a new configuration of thought which later came to be called Humanism. From its original form as a curriculum with an emphasis on classical learning it ended up emphasizing a faith in human reason, progress and intellect that would become the pillar of modern technological culture in the post-enlightenment intellectual ethos which today rules modern mind in one way or the other. Humanism interpreted the humankind's position in the Chain of Being --- between the 'dumb' beasts and the speaking-articulate angels --- as the irrefutable confirmation of the ontological difference between the *homo sapiens* and the rest of biosphere. The direct discursive consequence of this insistence on the ontological difference was that rational thinking and discourse became the exclusive human faculty which the animals could not be thought to possess. Man became in Shakespeare's Hamlet's words (in act 2, scene 2 of the great eponymous tragedy) 'the beauty of the world! the paragon of animals!' It is notable that Shakespeare seems to be aware of the absurdity of this effusive claim about man's all-round lordship as he immediately follows this statement with the same Hamlet saying 'man delights not me: no, nor woman neither'. Francis Bacon had no qualm in expressing his view about the teleologically final destiny of mankind. At about the same time *Hamlet* was written he announced, 'Man, if we look to final causes, may be regarded as the centre of the world; inasmuch that if man were taken away from the world, the rest would seem to be all astray, without aim or purpose ….' (Ellis and Spedding 747).

The continuing dominance of Renaissance Humanism despite science and Deep Ecology

The subsequent advancement of scientific revolution has definitely dimmed the 'celestial' shine of the blunt literal truth of the superiority of Man as per the hierarchical positioning in the Chain of Being, but its mental-cultural residue still haunts our human and social sciences. The biological sciences do not recognize the humans as the 'goal' of evolution. For them we are no more than tyrannosaurs were during their period of sojourn on earth. The process of natural selection and the ability of biological adaptation have not exclusively favoured mankind. From the evolutionary perspective, there is nothing like 'higher' or 'lower' being. Elephants and earwigs and cabbages and kings have the same status. Scientific inquiry invites the intelligent human culture to come face to face with the fact that the observation and study of nature have not yet yielded any scrap of evidence that humans are superior to non-human beings. This fact of life and nature directly contradicts the idea of *scala naturae* and its use in humanist discourse. The environmental philosophy of Deep Ecology, which originated in the decade of 1970s from the writings of the Norwegian philosopher Arne Naess, takes inspiration from this very scientific position about zero-difference between the humans and the non-human natural world in evolutionary terms.Naess coined the term deep ecology to argue against what he called the shallow anthropomorphic environmentalism which concerns itself with conservation of the environment only for its exploitation by and for human material progress. Significantly , he hailed the publication of Rachel Carson's *Silent Spring* in 1962 as the beginning of the deep ecology movement as it sought to convincingly 'pull' the pesticide-using technology-driven modern industrial society from the anthropocentric view of nature, and take it toward the earth-centric one.Naess combines his ecological vision of the natural world as a complex web of inter-dependent relationships among organisms with Gandhian non-violence, and argues that non-essential exploitative interference with the natural world poses a threat not only to humans but to all organic beings constituting the natural order. All living beings are inherently worthy regardless of their instrumental utility to human needs.

But the traditional humanists are not yet willing to leave the field of environmental debate. Explicit or implicit references to the correctness and validity of the idea of *scala naturae* are still seen in the environmental discourse with an emphasis on the need to affirm the special subject status of Man. We come across ideas like the humans possessing a 'second nature' (culture) which gives them the right and the duty to deal with the 'first nature' (the non-human world) in a way they think it is rational. Who doesn't know that 'rational' dealing with nature through history has been just another name for altering, shaping and controlling the non-human world treating it as source of various resources? A noted modern humanist eco-philosopher writes with unshaken confidence, 'We are here … to maintain, to creatively transform, and to carry on the torch of evolution.(Skolimowski 68).

Works Cited

Duerr,Hans Peter. *Dreamtime: Concerning the Boundary Between Wilderness and Civilization*.Basil Blackwell, 1985

Ellis,Robert Leslie and James Spedding. *The Philosophical Works of Francis Bacon*. Books for Library Press,1970

Lovejoy,Arthur O. *The Great Chain of Being: A Study of the History of an Idea*. Harvard University Press, 1950

Manes,Chistopher. 'Nature and Silence' in *The Ecocriticism Reader: Landmarks in Literary Ecology* (eds.) Cheryll Glotfelty and Harold Fromm, University of Georgia Press, 1996.

■

टिकाऊ कृषि तंत्र एवं स्मार्ट कृषि-एक सैद्धांतिक विश्लेषण

डॉ. अनिल कुमार सिन्हा
भूगोल विभाग
राजीव गांधी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
अंबिकापुर, छत्तीसगढ़ .

दीपिका स्वर्णकार
सहायक प्राध्यापक–भूगोल
राजीव गांधी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
अंबिकापुर, छत्तीसगढ़

कृषि मानव सभ्यता के प्राचीनतम उद्यमों में से एक है। यह निर्विवाद विषय कि मानव विकास के साथ कृषि का भी सतत् विकास होता गया है। घुमंतू जीवन से निकलकर मानव गाँव बसाकर भोजन एवं आहार प्राप्ति के लिए खेती के महत्व को बहुत पहले समझ लिया था। तत्कालीन समय में समूची अर्थव्यवस्था की धुरी विशेष कर ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि के इर्द-गिर्द ही घुमती थी, और वर्तमान में भी किसी न किसी रूप में अभी भी विद्यमान है। सम्पूर्ण विश्व में बढती हुई जनसंख्या एक गंभीर समस्या है। बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ भोजन की आपूर्ति के लिए मानव द्वारा खाद्य उत्पादन की होड़ में अधिक से अधिक उत्पादन प्राप्त करने के लिए तरह-तरह की रासायनिक खादों, जहरीले कीटनाशकों का उपयोग, प्रकृति के जैविक और अजैविक पदार्थों के बीच आदान-प्रदान, मृदा व वातावरण को प्रभावित करता है, जिससे भूमि की उर्वरा शक्ति खराब हो जाती है, साथ ही वातावरण प्रदूषित होता है तथा मनुष्य के स्वास्थ्य में गिरावट आती है। प्राचीन काल में मानव स्वास्थ्य के अनुकूल तथा प्राकृतिक वातावरण के अनुरूप खेती की जाती थी, जिससे जैविक और अजैविक पदार्थों के बीच आदान-प्रदान का चक्र निरन्तर चलता रहता था, जिसके फलस्वरूप जल, भूमि, वायु तथा वातावरण प्रदूषित नहीं होता था।

टिकाऊ कृषि एक कृषि पद्धति है जो भविष्य की पीढ़ियों की अपनी जरूरतों को पूरा करने की क्षमता को संरक्षित करते हुए वर्तमान की जरूरतों को पूरा करने का प्रयास करती है। इसमें उन तरीकों का उपयोग करना शामिल है जो पर्यावरण के अनुकूल, आर्थिक रूप से लाभप्रद और सामाजिक रूप से सही है। सतत अथवा टिकाऊ खेती मृदा स्वास्थ्य को बढ़ावा देने, जल संरक्षण, अपशिष्ट को कम करने और जैव विविधता के संरक्षण पर जोर देती है।

अध्ययन का उद्देश्य

1. बढ़ती जनसंख्या के साथ-साथ भावी पीढ़ी की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना।
2. पर्यावरणीय गुणवत्ता और प्राकृतिक संसाधन को बढ़ाना जिस पर कृषि अर्थव्यवस्था निर्भर करती है।
3. मृदा की उर्वरा शक्ति को बनाए रखने के साथ-साथ रसायनों के अत्यधिक उपयोग को सीमित करना।
4. कृषि कार्यों की आर्थिक व्यवहार्यता को बनाए रखना।
5. किसानों के लिए बाहरी आदानों को कम करना तथा कृषि को आर्थिक रूप से लाभकारी बनाना।
6. स्मार्ट कृषि के आधुनिक प्रौद्योगिकी की समझ विकसित करना तथा सूचना तंत्र व डेटा प्रबंधन को बढ़ावा देना।
7. स्मार्ट कृषि के अनुप्रयोग से उच्च फसल उत्पादकता बढ़ाने के साथ-साथ अपव्यय को कम से कम करने का कौशल विकसित करना।

आजादी के बाद से ही भारत के सामने अनेकों समस्याएँ थी, इन्हीं समस्याओं में से एक समस्या थी भुखमरी। यद्यपि भारत एक कृषि प्रधान देश था पर आजादी के समय मात्र 36 करोड़ जनसंख्या को भोजन उपलब्ध कराना सरकार के लिए एक गंभीर समस्या बनी हुई थी। इस गंभीर समस्या से निपटने के लिए सरकार द्वारा देश में पहली पंचवर्षीय योजना में अपने मुख्य फोकस के रूप में कृषि विकास को रखा गया था। इसके बावजूद दूसरी पंचवर्षीय योजना के दौरान देश ने एक गंभीर खाद्य संकट का सामना किया,अतः सन् 1958 में भारत में खाद्य समस्या की कमी के कारणों की जाँच करने व उसे दूर करने के उपायों के लिए एक टीम का गठन किया। इस गठित टीम ने पूरे देश में अनेक शोध कार्य किया तथा सरकार को यह सुझाव दिया कि भारत को इस गंभीर समस्या से निपटने व खाद्यान्न उत्पादन बढाने के लिए उन क्षेत्रों में अधिक फोकस करना चाहिए जहाँ पर कृषि उत्पादन बढ़ाने की अधिक संभावना है। इसके परिणाम स्वरूप सरकार ने पहले से ही विकसित हुई कृषि क्षेत्रों को अधिक खाद्यान्न उत्पादन प्राप्त करने के लिए गहन खेती के रूप

में चुना गया। भारत में हरित क्रांति के दौरान फसल उत्पादन में आशातीत वृद्धि होने के कारण निरंतर फसल उत्पादन मात्रा बढ़ने लगी तथा सभी प्रकार के फसलों की उत्पादकता दर भी बढ़ने लगी।

तालिका क्रमांक 1

भारत : विभिन्न फसलों की उत्पादकता में वृद्धि

(उत्पादन- कि.ग्रा/हेक्टेयर)

फसल	l =~									
	1950–51	1965–66	1969–70	1975–76	1980–81	1984–85	1985–86	2000–01	2010–11	2017–18
गेहूं	663	827	1209	1410	1630	1870	2046	2708	2988	3368
चावल	668	–	1073	1235	1336	1417	1363	1901	2239	2576
ज्वार	353	429	522	591	660	713	633	764	949	956
बाजरा	288	314	426	496	458	569	344	688	1079	1231
मक्का	547	1005	968	1203	1139	1456	1146	1822	2542	3065
अनाज	522	–	865	1041	1142	1285	1323	1626	1930	2235
दलहन	441	438	531	533	473	526	544	544	691	853
मूंगफली	775	554	720	935	736	898	719	977	1411	1893
कपास	88	–	123	138	152	196	197	190	499	443
समस्त तिलहन	**481**	**419**	**522**	**627**	**532**	**684**	**570**	**810**	**1193**	**1284**

Source- Agricultural Statistics, At A Glance 2019, Govt. of India

3. रासायनिक उर्वरकों का खपत—देश में तीन प्रकार के उर्वरकों- नाईट्रोजन, फास्फोरस, एवं पोटेशियम के खपत की प्रवृति का आंकलन किया गया है, जिसमें स्पष्ट होता है कि स्वतंत्रता के पश्चात् 1950-51 में नाईट्रोजन 58.7 हजार टन, 1960-70 में 210 हजार टन, 2000-01 में 10920.2 हजार टन का खपत हुआ। फास्फोरस उर्वरक के खपत की प्रवृति भी निरंतर बढ़ती जा रही है। वर्ष 1950-51 में जहाँ मात्र 6.9 हजार टन 1970-71 में बढ़कर 462 हजार टन, 2010-11 में 8049.1 हजार टन तथा 2018-19 में घटकर 6967.9 हजार टन की खपत हुई।

तालिका क्रमांक - 2

भारत: प्रमुख रासायनिक उर्वरकों का खपत

(आंकडे हजार टन में)

o"kZ	ukbVªkstu ¼N½	QkLQksjl ¼P½	iksVkf'k; e ¼K½	dy
1950&51	58-7	6-9	&	65-6
1960&61	210-0	53-1	29-0	292-1
1970&71	1487-0	462-0	228-0	2177-0
1980&81	3678-1	1213-6	623-9	5515-6
1990&91	7997-2	3221-0	1328-0	12546-2
2000&01	10920-2	4214-6	1567-5	16702-3
2010&11	16558-2	8049-1	3514-3	28122-2
2015&16	17372-3	6978-8	2401-5	26752-6
2018&19	17628-2	6967-9	2779-1	27375-2

देश में पोटेशियम उर्वरक की खपत की प्रवृति निरंतर बढ़ती जा रही है। 1950-51 में इसके खपत का कोई रिकार्ड दर्ज नहीं है। 1960-61 में 29.0 हजार टन, तथा 2018-19 में 2779.1 हज़ार टन पोटेशियम की खपत हुई। मानव शरीर पर पड़ने वाले नकारात्मक प्रभावों के कारण रासायनिक उर्वरकों के खपत में धीरे-धीरे कमी हो रही है। देश में जैव उर्वरकों के प्रयोग की प्रवृति बढ़ने लगी है। देश में प्रति हेक्टेयर उर्वरकों के खपत की प्रवृति धनात्मक रही है। वर्ष 2001-02 में यह दर 92.33 कि.ग्रा./हेक्टेयर, 2005-06 में 105.53 कि.ग्रा./हेक्टेयर, 2009-10 में 140.15 कि.ग्रा./हेक्टेयर, तथा 2018-19 में 133.12 कि.ग्रा./हेक्टेयर, हो रही है।

4. जैविक खेती

मानव-जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए नितान्त आवश्यक है कि प्राकृतिक संसाधन प्रदूषित न हों, शुद्ध वातावरण रहे एवं पौष्टिक आहार मिलता रहे। इसके लिए हमें जैविक खेती की कृषि पद्धतियों को अपनाना होगा जोकि हमारे नैसर्गिक संसाधनों एवं मानवीय पर्यावरण को प्रदूषित किये बगैर समस्त जनमानस को खाद्य सामग्री उपलब्ध करा सकेगी तथा हमें खुशहाल जीने की राह दिखा सकेगी। जैविक खेती की विधि रासायनिक खेती की तुलना में बराबर या अधिक उत्पादन देती है अर्थात जैविक खेती मृदा की उर्वरता एवं कृषकों की उत्पादकता बढ़ाने में पूर्णतः सहायक है। वर्षा आधारित क्षेत्रों में जैविक खेती की विधि और भी अधिक लाभदायक है।

प्रमुख जैविक खाद एवं कीटनाशक-1 जैविक खादें 2 नाडेप 3 बायोगैस स्लरी 4 वर्मी कम्पोस्ट 5 हरी खाद 6 जैव उर्वरक (कल्चर) 7 गोबर की खाद 8 नाडेप फास्फो कम्पोस्ट 9 पिट कम्पोस्ट 10 मुर्गी का खाद 11 भभूत अमृतपानी 12 अमृत संजीवनी 13 मटका खाद 14 गौ-मूत्र 15 नीम- पत्ती का घोल/निबोली/खली 16 मट्ठा 17 लकडी की राख 18 नीम व करंज खली।

भूमि की उत्पादन क्षमता बढाने में जैव उर्वरकों का महत्व-रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग से उपज में वृद्धि तो होती है परन्तु अधिक प्रयोग से मृदा की उर्वरता तथा संरचना पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है, इसलिए रासायनिक उर्वरकों के साथ जैव उर्वरकों के प्रयोग की सम्भावनाएँ बढ़ रही है। जैव उर्वरकों के प्रयोग से फसल को पोषक तत्वों की आपूर्ति होने के साथ मृदा उर्वरकता भी स्थिर बनी रहती है।

जैव उर्वरक—जैव उर्वरक जीवाणु खाद है। खाद में मौजूद लाभकारी सूक्ष्म जीवाणु वायुमण्डल में पहले से विद्यमान नाईट्रोजन को पकड़कर फसल को उपलब्ध कराते हैं और मिट्टी में मौजूद अघुलनशील फास्फोरस को पानी में घुलनशील बनाकर पौधों को देते हैं। इस प्रकार रासायनिक खाद की आवश्यकता सीमित हो जाती है। वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया जा चुका है कि जैव खाद के प्रयोग से 30 से 40 किलोग्राम नाइट्रोजन प्रति हेक्टेयर भूमि को प्राप्त हो जाती है तथा उपज 10 से 20 प्रतिशत तक बढ़ जाती है। अतः रासायनिक उर्वरकों को थोडा कम प्रयोग कर के बदलें में जैविक खाद का प्रयोग करके फसलो की भरपूर उपज पाई जा सकती है। फास्फाबैक्टीरिया और माइकोराइजा नामक जैव उर्वरक के प्रयोग से खेत में फास्फोरस की उपलब्धता में 20 से 30 प्रतिशत की बढोत्तरी होती है। प्रमुख जैव उर्वरक एवं प्रयोग विधि निम्न है-

तालिका क्रमांक-3

जैव उर्वरक एवं उनका प्रयोग विधि

जैव उर्वरक	उपयुक्त फसलें	संस्तुत प्रयोग विधि	आवश्यक मात्रा
राइजोबियम	सभी दलहनी फसलों के लिए	बीजोपचार	200 ग्राम प्रति 10–15 किलोग्राम बीज
एजोबैक्टर	दलहनी फसलों को छोडकर अन्य सभी फसलों के लिए	बीजोपचार, जड उपचार, मृदा उपचार	200 ग्राम प्रति 10–15 किलोग्राम बीज या 5 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर
एजोस्पिरिलम	दलहनी फसलों को छोडकर अन्य सभी फसलों के लिए, गन्ने के लिए विशेष उपयोगी	बीजोपचार, जड उपचार, मृदा उपचार	200 ग्राम प्रति 10–15 किलोग्राम बीज या 5 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर
फास्फोबैक्टीरिया (पी.एस.बी)	सभी फसलों के लिए	बीजोपचार, जड उपचार, मृदा उपचार	200 ग्राम प्रति 10–15 किलोग्राम बीज या 5 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर

जैव उर्वरकों से लाभ—1. ये अन्य रासायनिक उर्वरकों से सस्ते होते हैं जिससे फसल उत्पादन की लागत घटती है। 2. जैव उर्वरकों के प्रयोग से नाईट्रोजन व घुलनशील फास्फोरस की फसल के लिए उपलब्धता बढ़ती है। 3. इससे रासायनिक खाद का प्रयोग कम हो जाता है जिससे भूमि की मृदा संरचना ठीक हो जाती है। 4. जैविक खाद से पौधों में वृद्धि कारक हारमोन्स उत्पन्न होते हैं जिनसे उनकी पैदावार पर अच्छा प्रभाव पडता है। 5. जैविक खाद से खेत में लाभकारी सूक्ष्मजीवों की संख्या में बढ़ोत्तरी होती है।

सावधानियाँ- नाइट्रोजनी जैव उर्वरकों के साथ फास्फोबैक्टीरिया का प्रयोग अत्यन्त लाभकारी है। प्रत्येक दलहनी फसल के लिए अलग राईजोबियम कल्चर आता है अतः दलहनी फसल के अनुरूप ही राइजोबियम कल्चर प्रयोग किया जा सकता है। जैव उर्वरकों को धूप में कभी नहीं रखना चाहिए। कुछ दिन के लिए रखना हो तो मिट्टी के घडे का प्रयोग बहुत अच्छा है। फसल विशेष के अनुसार ही जैविक खाद का चुनाव होना चाहिए। लगभग 20 साल के निरंतर व गहन अनुसंधान करने के पश्चात पहले टाटा एनर्जी रिसर्च इंस्टीट्यूट नाम से जाने वाली अनुसंधान संस्थान द्वारा माइकोराइजा को बनाने की तकनीक विकसित की गई। इसी संस्था के तीन निजी संस्थानों—कैडिला (गुजरात, 70 टन), के.सी.पी. शुगर इंडस्ट्रीज एण्ड कारपोरेशन, (वयूर, आन्ध्र प्रदेश, 250 टन) एवं मैजेस्टीक एग्रोनोमिक्स प्रा. लि. (ऊना, हिमाचल प्रदेश, 1400 टन) प्रतिवर्ष माइकोराईजा उत्पादित कर रहे हैं। इसी अनुसंधान की श्रृंखला में भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली के वैज्ञानिकों का अनुंसधान भी महत्वपूर्ण है।

जैविक खाद का फसल उत्पादन पर प्रभाव-मूँगफली एवं सूरजमुखी को छोड़कर प्रायः सभी प्रकार की फसलों पर इस जैविक खाद व जैविक फफूंदीनाशक के बहुत ही अच्छे परिणाम प्राप्त होते हैं। इनमें 92 प्रतिशत तक रोग से मुक्ति दिलाने की क्षमता है (गोभी एवं डैम्पीग ऑफ), 95 प्रतिशत तक की कमी उन सभी सूक्ष्म जीवाणुओं की जो जमीन में रोग पैदा करते हैं (फ्यू. आक्सीसपोरम मैलोनिस) और इन सभी के कारण फसल उत्पादकता 37 प्रतिशत तक बढ़ जाती है। इस तरह से यह न केवल रोगों को रोकने का एक जैविक योग है बल्कि फसलों की उत्पादकता बढ़ाने के लिए जैविक खाद भी है। आज के बदलते परिवेश में जब जैविक खेती को प्रोत्साहन दिया जाना आवश्यक है। औषधीय पौधों की खेती का क्षेत्रफल प्रति वर्ष बढ़ रहा है। अन्य जैविक खादों के साथ-साथ भारतीय वैज्ञानिकों द्वारा विकसित प्रोद्योगिकी को भारत के उद्योगपतियों द्वारा अपनाया जाना चाहिए। केवल एक कम्पनी पूरे भारतवर्ष की माँग को पूरा नहीं कर सकती है। अतः बेरोजगार कृषि स्नातकों, वैज्ञानिकों और किसानों के क्लबों को आगे आना चाहिए।

5. स्मार्ट कृषि की प्राथमिकताएँ -

खाद्य एवं कृषि संगठन (एफ.ए.ओ.) का अनुमान है कि वैश्विक स्तर पर भोजन एवं चारे की अपेक्षित माँगों को पूरा करने के लिए 2050 तक 60 प्रतिशत तक बढ़ाना पडेगा। कृषि पर पड़ने वाले प्रतिकूल प्रभाव तथा जलवायु परिवर्तन के आसन्न संकट के बीच यह कार्य और भी कठिन होता दिखाई दे रहा है। खाद्य सुरक्षा और कृषि विकास लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए बदलते परिदृश्य में जलवायु परिवर्तन के अनुकूलन तथा प्राकृतिक संसाधन आधार को क्षति पहुँचाये बिना हासिल किया जाना चाहिए। एफ.ए.ओ ने खाद्य सुरक्षा और जलवायु चुनौतियों को ध्यान में रखते हुए सतत विकास (सामाजिक, आर्थिक एवं पर्यावरण) के तीन आयामों के रूप में जलवायु स्मार्ट कृषि (सी.एस.ए.) को परिभाषित किया है। ये तीन है- 1.कृषि उत्पादकता और आय में लगातार वृद्धि।

2.जलवायु परिवर्तन का अनुकूलन और उसके प्रति लचीलापन।

3.जहां तक संभव हो ग्रीन हाऊस गैसों का न्यूनीकरण किया जाना या हटाना।

इन तीन परस्पर जुड़ी हुई चुनौतियों का सामना करने के लिए उत्पादन प्रणालियों को कृषि भूमि स्तर पर अधिक कुशल और लचीला होने की आवश्यकता है। संसाधन संरक्षण ओर नूतन कार्य प्रणालियों को संसाधन उपयोग में अधिक प्रभावी होना चाहिए। अधिक खाद्यान्न उत्पादन के लिए भूमि, जल और आगतों का कम उपयोग होना चाहिए और इसे बदलाव व आघातों को झेलने के लिए अधिक लचीला होना चाहिए। इन संसाधन संरक्षण प्रौद्योगिकियों (आरसीटी) और नवीन कार्यप्रणालियों को नियत-स्तर पर सर्वाधिक सटीकता के साथ प्रयोग किया जाता है, जिससे सूचना और संचार प्रौद्योगिकी निर्णय समर्थन प्रणालियों के साथ खेत-स्तर पर प्रयुक्त सामग्री जैसे बीज, उर्वरक, कीटनाशक, सिंचाई आदि में अधिक सटीकता प्राप्त हो सके और इसे ही 'स्मार्ट कृषि' माना जाता है।

हाल ही में कृषि उत्पादन में व्यापक नवाचार हुए है, जिससे न केवल उत्पादकता में सुधार हुआ है, बल्कि वे पर्यावरण की सुरक्षा के लिए भी उतने ही महत्वपूर्ण है। उर्वरक प्रबंधन के लिए सूचना प्रौद्योगिकी से संबंधित कई प्रणाली-अनुसंधान उपकरण उपलब्ध हो गए है। भौगोलिक सूचना प्रणाली (जीआईएस), ग्लोबल पोजिशनिंग सिस्टम (जीपीएस) और रिमोट सेसिंग (आरएस) की शुरूआत के साथ किसान अब प्रत्येक क्षेत्र की स्थान विशेष स्थितियों के लिए पोषक तत्वों से संबंधित सुझावों और जल प्रबंधन मॉडल को परिष्कृत कर सकते हैं। स्मार्ट कृषि में उत्पादन क्षमता और कृषि उत्पादों की गुणवत्ता बढ़ाने के लिए मौजूदा कृषि तकनीक में उन्नत प्रौद्योगिकियों का एकीकरण शामिल है। स्मार्ट कृषि जिसमें उत्पादन सामग्री का (जो आवश्यक है) जब और जहाँ आवश्यक हो, प्रयोग होता है, आधुनिक कृषि

क्रांति की तीसरी लहर बन गई है (पहली मशीनीकरण थी ओर दूसरी आनुवांशिक संशोधन के साथ हरितक्रांति), और आजकल यह बडी मात्रा में आंकड़ों की उपलब्धता के कारण कृषि जानकारी प्रणालियों की वृद्धि के साथ परिष्कृत हो रही है।

सामान्यतः स्मार्ट कृषि में सात ई का विशेष महत्व है—

(1) उत्पादन बढाना

(2) आर्थिक दृष्टि से कृषि की स्वीकार्यता

(3) जीवाश्म इंधन का सीमित उपयोग।

(4) प्राकृतिक संसाधनों का कुशल प्रयोग।

(5) कृषि लाभों का समान वितरण

(6) रोजगार का सृजन

(7) पर्यावरण और पारिस्थितिकीय

उच्च संसाधन उपयोग दक्षता के लिए कृषि सम्बद्ध नूतन कार्य प्रणालियाँ—

(1) बीज बुवाई और रोपण—खेतों में सही स्थान और सही मात्रा में बीज बोना बहुत कठिन होता है। प्रभावी रूप से बीज बोने के लिए दो बातों पर नियंत्रण की आवश्यकता होती है। सही गहराई पर बीज बोना, और पौधों की सही वृद्धि के लिए उचित दूरी पर पौधे लगाना। हर बार इन चीजों को बेहतर करने के लिए सटीक बीजारोपण उपकरण तैयार किए गए है। जियोमैपिंग और सेंसर डाटा का संयोजन जो मिट्टी की गुणवत्ता, घनत्व, नमी और पोषक तत्वों के स्तर की जानकारी देता है, बीजारोपण प्रक्रिया में लगाए जाने वाले अनुमान को काफी घटाता है। बीज को अंकुरित होने और बढ़ने की सबसे अच्छी अवस्था मिलती है और समग्र रूप से फसल उत्तम होती है। भविष्य में मौजूद सीडर्स ट्रैक्टरों और आईसीटी सक्षम प्रणाली के साथ उपलब्ध होंगे जो किसानों को फीडबैक भी देंगे। बीजरोपण और रोपण में उपयोग के लिए प्रोटोटाईप ड्रोन का निर्माण और परीक्षण भी किया जा रहा है। ये ड्रोन संपीडित हवा का उपयोग करके उर्वरक और पोषक तत्वों के साथ बीज की फली वाले कैप्सूलों को जमीन में सीधे रोंप सकेंगे।

(2) पोषक तत्व प्रबंधन में सुस्पष्टता—स्थान विशेष पोषक तत्व प्रबंधन (एसएसएनएम) एक सुनियोजित पद्धति है जो पोषक तत्वों से फसलों के पोषण पर सम्पूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं। जब भी विभिन्न फसल उत्पादन प्रणाली के अंतर्गत पोषक तत्वों की माँग और आपूर्ति के बीच तालमेल बनाने की आवश्यकता होती है। पोषक तत्वों की विशेष परिवर्तनशीलता और बेहतर पोषक तत्व उपयोग दक्षता के प्रबंधन का हल उपलब्ध कराता है। इसके लिए निम्न महत्वपूर्ण है—

(i) स्मार्ट उर्वरक: स्मार्ट उर्वरक नए प्रकार के उर्वरक है जो सूक्ष्मजीवों और नैनो पदार्थों के आधार पर तैयार किए जाते हैं। नियंत्रित निर्गमन और वितरण प्रणाली पर बल देने के साथ नैनो प्रौद्योगिकी आधारित स्मार्ट उर्वरक विकास पौधों की माँगों के अनुरूप पोषक तत्वों की उपलब्धता को संतुलित करते हैं, जिससे पोषक तत्वों की क्षति कम होती है। पोषक तत्व उपयोग क्षमता में वृद्धि से फासफोरस की मात्रा आधी से एक चौथाई हो जाती है और पैदावार 10 प्रतिशत बढ जाती है। स्मार्ट उर्वरक से सूक्ष्म पोषक तत्वों की मात्रा में 90 प्रतिशत तक की कमी होती है। कम निवेश के कारण किसानों की आय 15-20 प्रतिशत तक बढ़ सकती है। बायोस्टिमुलंट्स पौधों के हारमोनों को उद्दीप्त करते हैं जो जड़ों के विकास, जड़ों की कार्यक्षमता, पोषक तत्वों का उद्ग्रहण और गुणों को प्रभावित करते हैं और यह रासायनिक से जैविक खाद व्यवस्था में स्थानांतरित करने में फायदेमंद होते हैं। दूसरी और बायोफर्टिलाइजर स्वयं पोषक तत्वों की आपूर्ति किए बिना पोषक तत्वों की उपलब्धता पर अप्रत्यक्ष प्रभाव देता है। वे सजीव सूक्ष्मजीव फॉर्मूलेषन है जो पोषक तत्वों की उपलब्धता और उद्ग्रहण में सहायता करते हैं।

(ii) लीफ कलर चार्ट:–लीफ कलर पौधे की नाइट्रोजन स्थिति का एक अच्छा संकेतक है। पत्ती की क्लोरोफिल मात्रा और पत्ती के रंग में परिवर्तन के माध्यम से फसल की आवश्यकतानुसार नाइट्रोजन की आपूर्ति का मिलान करके इसके उपयोग को अनुकूलित किया जा सकता है। फिलीपींस स्थित अंतर्राष्ट्रीय चावल अनुसंधान संस्थान द्वारा विकसित लीफ कलर चार्ट किसानों की मदद कर सकता है क्योंकि पत्ती के रंग की गहनता चावल के पौधे में नाइट्रोजन की स्थिति से संबंधित है। लीफ कलर चार्ट का उपयोग करके पत्ती के रंग की निगरानी नाइट्रोजन के प्रयोग के सही समय के निर्धारण में मदद करती है। सभी परिस्थितियों में लीफ कलर चार्ट का उपयोग सरल, आसान और किफायती है। अध्ययनों से पता चलता है कि लीफ कलर चार्ट का उपयोग करके नाइट्रोजन को 10-15 प्रतिशत बचाया जा सकता है।

(iii) नोरमलाइज्ड़ डिफरेंस वेजीटेशन इंडेक्स (एनडीवीआई) सेंसर्स: गेहूँ और चावल की फसलों में अध्ययनों से पता चला है कि रिमोट सेंसिंग आधारित नोरमलाइज्ड डिफरेंस वेजीटेशन इंडेक्स (एनडीवीआई) सेंसर्स का उपयोग करके आवश्यकतानुसार नाईट्रोजन के प्रयोग से बिना किसी उपज क्षति के 15-20 प्रतिशत नाइट्रोजन बचाई जा सकती है जिससे किसानों की लाभ सीमा को बढाया जा सकता है।

(iv) सॉयल प्लांट एनालिसिस डेवलपमेंट (एसपीएडी): पत्ती में नाइट्रोजन की स्थिति की निगरानी और चावल में नाइट्रोजन टॉपड्रेसिंग के समय में सुधार के लिए एक

सरल, त्वरित और पोर्टेबल नैदानिक उपकरण है। एसपीएडी कम लागत वाला क्लोरोफिल मीटर है और किसानों के लिए किफायती है। एसपीएडी ग्रेषहोल्ड का उपयोग करके पत्ती में नाइट्रोजन की स्थिति की निगरानी करना और सिंचित धान पर नाइट्रोजन की स्थिति की निगरानी करना संभव होगा।

(v) पोषक विशेषज्ञ (एनई): फसल की पैदावार, पर्यावरण गुणवत्ता और समग्र कृषि स्थिरता में सुधार के लिए निर्णय समर्थन प्रणाली सॉफ्टवेयर द्वारा निर्देशित हाल ही में विकसित सटीक पोषक तत्व प्रबंधन टेक्नोलॉजी है। सीआईएमएमवाईटी के सहयोग से इंटरनेशनल प्लांट न्यूट्रीशन इंस्टीट्यूट ने पोषक विशेषज्ञ (एनई) टेक्नोलॉजी विकसित की है, यह एक पोषक तत्व निर्णय समर्थन प्रणाली है जो स्थान विशेष पोषक तत्व प्रबंधन (एसएसएनएम) नियमों पर आधारित है। एनई उपज के अनुसार और लक्षित कृषि संबंधी क्षमताओं के साथ-साथ देशी स्रोतों से पोषक तत्वों की भरपाई को देखते हुए निर्धारित उर्वरक मात्रा सुझाता है। देश के प्रमुख मक्का उगाने वाले कृषि पारिस्थितिकी क्षेत्रों में उर्वरक की मात्रा सुझाने के लिए एनई का उपयोग सफलतापूर्वक किया गया है जिससे मौजूदा उर्वरक सुझावों की वानिस्पतिक उपज और कृषि लाभप्रदता में वृद्धि हुई है।

(vi) यूरिया डीप प्लेसमेंट (यूडीपी): अंतर्राष्ट्रीय उर्वरक विकास केन्द्र (आईएफडीसी) द्वारा विकसित यूडीपी तकनीक चावल प्रणालियों के लिए जलवायु स्मार्ट समाधान का एक अच्छा उदाहरण है। चावल के लिए मुख्य नाइट्रोजन उर्वरक यूरिया के प्रयोग की आम तकनीक ब्रॉडकास्ट एप्लीकेशन है जो एक बहुत ही अप्रभावी तरीका है, जिसमें 60-70 प्रतिशत नाइट्रोजन की क्षति होती है और जो गैस उत्सर्जन और जल प्रदूषण को बढ़ाता है। यूडीपी तकनीक में यूरिया के 1-3 ग्राम के ''बिक्रेट'' बनाए जाते हैं जिन्हे धान की रोपाई के बाद मिट्टी में 7 से 10 से.मी. की गहराई पर रखा जाता है। इस तकनीक से नाइट्रोजन की कमी 40 प्रतिशत तक कम हो जाती है और यूरिया प्रभाविता 50 प्रतिशत तक बढ़ जाती है। यूरिया के उपयोग में औसतन 25 प्रतिशत की कमी के साथ इसकी पैदावार 25 प्रतिशत तक बढ़ जाती है।

(3) कुशल जल प्रबंधन के लिए नूतन प्रणालियाँ—मानव उत्तरजीविता और सतत विकास के लिए जल सबसे महत्वपूर्ण प्राकृतिक संसाधन है क्योंकि इसकी उपलब्धता दिन-प्रतिदिन कम होती जा रही है। सिंचाई क्षेत्र के लिए जल की कुल अनुमानित माँग मौजूदा-स्तर से अधिक होगी इसलिए तीन प्रमुख चुनौतियां होंगी (अ) सिंचित क्षेत्रों में उपलब्ध जल संसाधनों के कुशल और उत्पादक उपयोग से ''जल की प्रति बूंद अधिक फसल'' (ब) कम उत्पादन वाले पारिस्थितिकी तंत्रों जैसे वर्षा-आधारित और जलमग्न क्षेत्रों की उत्पादकता में

वृद्धि और (स) कृषि उत्पादन के लिए अपशिष्ट जल का उपयोग करना। यह प्रभावी सिंचाई प्रबंधन के माध्यम से ही संभव है।

(अ) स्वचालित सिंचाई प्रणाली—स्प्रिंकलर, ड्रिप और उपसतह ड्रिप सिंचाई जैसी दबाव वाली सिंचाई प्रणाली पहले से ही प्रचलित सिंचाई विधियां है जो किसानों को यह नियंत्रित करने की अनुमति देती हैं कि उनके फसलों को कब और कितना जल मिलता है। नमी के स्तर और पौधों के स्वास्थ्य की निरंतर निगरानी करने के लिए इन सिंचाई प्रणालियों को तेजी से परिष्कृत इंटरनेट ऑफ थिंग्स से सुसज्जित सेंसर के साथ जोड़कर किसान केवल आवश्यकता होने पर ही हस्तक्षेप कर पाएंगे अन्यथा प्रणाली स्वायत्त रूप से संचालित होती रहेगी। हालांकि दबाव वाली सिंचाई प्रणालियां बिल्कुल रोबोटिक नहीं है लेकिन वे स्मार्ट फार्म के संदर्भ में पूरी तरह से स्वायत्त रूप से काम कर सकती है।

(ब) खेत में जलाशय (ओ.एफ.आर.)—वर्षा जल संचयन और कुशल जल उपयोग भविष्य में वर्षा-आधारित कृषि को बनाए रखने के लिए अपरिहार्य विकल्प है। स्थिरता और लोगों की आजीविका में सुधार सुनिश्चित करने के लिए विभिन्न राज्यों ने ओएफआर के लिए विशेष कार्यक्रम शुरू किए है।

(स) सीमित सिंचाई आपूर्ति—सीमित जल उपलब्धता की स्थिति में जल के अधिक प्रभावी और उचित उपयोग के लिए आंशिक फसल जल की आवश्यकताओं को पूरा करने के आधार पर सिंचाई कार्यनीतियों को अपनाया जाना चाहिए। विनियमित सीमित सिंचाई और नियंत्रित लेट-सीज़न सीमित सिंचाई जैसी सिंचाई प्रणालियां अपनाना जल संरक्षण और फसल उत्पादन के लिए उपयोग किए जाने वाले जल की मात्रा को घटाने के लिए एक स्वीकृत कार्यनीति बनाया जाना प्रस्तावित है।

(4) खरपतवार और कीट प्रबंधन के लिए नवीन पद्धतियाँ

1. नई प्रकार की खरपतवार नाशकः—हाल ही में खरपतवार उगने के बाद (पोस्ट एमरजेंस) प्रयोग की जाने वाली कुछ नई पीढी की खरपतवार नाशक बाजार में उपलब्ध है जो खेत की फसलों में खरपतवारों के चयनात्मक प्रभावी नियंत्रण की गारटी देते हैं। बहुत कम मात्रा में इन खरपतवारनाशकों की आवश्यकता होती है और ये रखरखाव और लाने ले-जाने में बहुत आसान है।

2. खरपतवार नाशक प्रतिरोधी फसलें (एचआरसी):—खरपतवार नाशक प्रतिरोधी फसलें आनुवांशिक रूप से संशोधित (जीएम) फसल होती है जो विशेष ब्रॉड-स्पेक्ट्रम खरपतवार नाशक का प्रतिरोध करने के लिए संरक्षित की जाती है। ये आसपास के खरपतवारों को मारती है, लेकिन उगी फसल को सुरक्षित रखती है।

वर्तमान में फसल छिड़काव अनुप्रयोगों के लिए ड्रोन उपलब्ध है जो एक और श्रम-गहन कार्य को स्वचालित करने का अवसर प्रदान करते हैं। जीपीएस, लेजर मापन और अल्ट्रासोनिक स्थिति संयोजन का उपयोग करते हुए फसल पर छिड़काव करने वाले ड्रोन ऊंचाई और स्थान को आसानी से अनुकूलित कर सकते हैं और हवा की गति, स्थलाकृति और भौगोलिक स्थिति जैसे कारको का समायोजन कर सकते हैं। ड्रोन फसलों पर अधिक प्रभावी ढंग से अधिक सटीकता और कम क्षति के साथ खरपतवारनाशकों, उर्वरकों और कीटनाशकों के छिड़काव में सक्षम बनाता है। निराई के लिए डिज़ाइन किए गए रोबोट उसी मूल मशीन के साथ कीटों की पहचान और कीटनाशकों के इस्तेमाल करने के लिए सेंसर, कैमरा और स्प्रेयर से लैस हो सकते हैं। ये रोबोट और उनके जैसे अन्य आने वाले समय में खेतों पर अलग-अलग काम नहीं करेंगे। इन्हें ट्रैक्टरों और इंटरनेट ऑफ थिंग्स से जोडा जाएगा जिससे समस्त कार्य स्वतः स्वयं ही संपन्न होगा।

5. भारत में स्मार्ट खेती के लिए चुनौतियाँ

(1) संचार कनेक्टिविटी की समस्या—अच्छी कनेक्टिविटी की कमी या खराब नेटवर्क प्रदर्शन और डिजिटल तकनीक को अपनाने में बाधा उत्पन्न कर, स्मार्ट और टिकाऊ कृषि के विकास को सीमित कर देगी। चूंकि मृदा सेंसर, उपग्रह मानचित्रण प्रणाली और निगरानी उपकरण जैसे कई सटीक कृषि उपकरण डेटा भंडारण, पहुँच और संचरण के लिए क्लाउड सेवाओं पर निर्भर हैं, इसलिए दूरस्थ क्षेत्रों में क्लाउड-आधारित कंप्यूटिंग में भी उल्लेखनीय सुधार की आवश्यकता है।

(2) डेटा वॉल्यूम का प्रबंधन—जहाँ डेटा स्मार्ट कृषि में एक अनिवार्य भूमिका निभाता है, वहीं कई किसानों और कृषि व्यवसायियों के लिए डेटा प्रबंधन एक सतत चुनौती है। यहाँ तक कि एक छोटा सा खेत भी संबंधित संचालन और विपणन निर्णयों को सूचित करने के लिए बड़ी मात्रा में डेटा एकत्रित और संग्रहीत करता है। ऐसे में पूरे एक मौसम के दौरान दैनिक एवं साप्ताहिक आधार पर उन सैकड़ों हजारों डेटा बिंदुओं की निगरानी या विश्लेषण करना लगभग असंभव हो जाएगा।

(3) जोत का छोटा आकार—अधिकांश भारतीय कृषि में जोत का छोटा आकार वर्तमान में उपलब्ध स्मार्ट कृषि तकनीक से आर्थिक लाभ को सीमित करता है। भारत में, छोटी और सीमांत जोत (ढ2 हेक्टेयर) कुल जोत का 86% है, जबकि बड़ी जोत (झ10 हेक्टेयर) कुल भूमि जोत का महज 0.57% भाग ही है।

(4) बजटीय सहायता का अभाव–वित्तीय वर्ष 2022-23 के लिए 1,24,000 करोड़ रुपए के बजटीय आवंटन में मामूली वृद्धि हुई है, जो 2021-22 में 1,23,017.57 करोड़ रुपए थी। साथ ही बजटीय आवंटन में घटक वार स्पष्टता का अभाव है।

(5) लघु भूमि जोत, खराब बुनियादी ढांचा, किसानों में जोखिम लेने की प्रवृत्ति का अभाव, सामाजिक और आर्थिक स्थितियों के साथ ही जनसांख्यिकीय स्थितियों के कारण भारत में स्मार्ट कृषि अभी अपने प्रारंभिक चरण में है।

संदर्भ :

Araujo Zanella, Anjelita Rettore De et.al (2020) Security Challenges to Smart Agriculture: Current State, Key issues, and Future Direction, Array,Science Direct, ELSEVIER , PP-01-12

Mohamed Said Elsayed et. al (2021) Smart Farming for Improving agricultural Management,The Egyptian Journal of Remote Sensing and Space Sciences, pp-971-981

Sinha, Anil Kumar (2020) *Bharat Me Jal Sansadhan – Vikas avam Niyojan*, Blue Rose Publishers, New Delhi.

Sinha, Anil Kumar(2021) *Bharat Me Krishi Vikas, Asian Press Books, Kolkata*

Tiwari, R. C.and B.N. Singh(2007) *Krishi Bhoogol,* Prayag Pustak Bhavan, Allahabad.

भारत सरकार (2018-19) भारत की आर्थिक समीक्षा ''कृषि और खाद्य प्रबंधन'' खण्ड-2 पृष्ठ172-196

सिंह, अशोक (2020) कृषि अनुसंधान : उपलब्धियाँ और चुनौतियाँ, कुरूक्षेत्र अंक-सितंबर 2020, पृष्ठ 35-40

सिन्हा, अनिल कुमार (2004) भारत में व्यापारिक फसलें : एक सिंहावलोकन, कुरूक्षेत्र, अंक- फरवरी, पृष्ठ 21-24

शिवे, वाई.एस. और टीकम सिंह (2020) ''स्मार्ट कृषि की उन्नत प्रणालियाँ'', कुरूक्षेत्र अंक–सितंबर 2020, पृष्ठ 41-45

सक्सेना जगदीप (2021) भारतीय कृषि में नवाचार, कुरूक्षेत्र, वर्ष 67, अंक-07, मई, पृष्ठ 10-15

त्रिपाठी, के. के. एवं स्नेहा कुमारी (2020) ''सतत् कृषि विकास हेतु षोध और विकास'' कुरूक्षेत्र, अंक-सितंबर 2020, पृष्ठ 23-27

■

पर्यावरण व पारिस्थितिकी का स्वरूप एवं अंत:संबंध

वी सुगुणा

शोधार्थी, डॉ बी आर अंबेड्कर मुक्त विश्वविद्यालय

हैदराबाद

पर्यावरण एवं उसका स्वरूप

पर्यावरण अर्थात परितः परिवेश। हम जिस परिवेश से घिरे हैं और जिस परिवेश से जीवन के लिए आवश्यक तत्व ग्रहण कर रहे हैं तथा जिस परिवेश को अपनी क्रियाओं से नित्य प्रति प्रभावित कर रहे हैं, वही पर्यावरण है। पर्यावरण को प्रकृति का पर्याय माना जाता है, जिसमें समस्त जैविक और भौतिक तत्व समाहित हैं। प्रकृति के ये सभी तत्व परस्पर अन्योन्याश्रित हैं, जैसे हम पेड़-पौधों से प्राणवायु ग्रहण करते हैं, जिसके बिना हमारा अस्तित्व संभव नहीं है। ऐसे ही पेड़-पौधों का अस्तित्व सूरज की रोशनी पर निर्भर है। प्रकृति का यह संतुलन तभी संभव है, जब उसके जैविक एवं भौतिक दोनों तत्वों का अस्तित्व पर्याप्त मात्रा में हो। यदि किसी तत्व की मात्रा कम अथवा अधिक हो तो प्रकृति का संतुलन बिगड़ता है, जिससे भूकंप, बाढ़, सुनामी जैसे प्रकोपों का उद्भव होता है और जीवन के लिए संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

'पर्यावरण' शब्द अंग्रेजी के 'Environment' का हिंदी पर्याय है, जिसकी व्युत्पत्ति फ्रेंच शब्द से माना जाता है। जिसका अर्थ है जैविक एवं गैर-जैविक पदार्थों से बना हुआ परिवेश। 'पर्यावरण' शब्द की व्युत्पत्ति का जहाँ तक प्रश्न है, यह शब्द उपसर्ग 'परि' और 'आ', धातु 'वृञ्', 'ल्युट्' प्रत्यय 'अन्' के मेल से बना है, जिसका अर्थ है मनुष्य के चारों ओर का वातावरण, जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से उससे जुड़ा है।[1] परि का अर्थ 'चारों ओर' और आवरण का अर्थ 'आच्छादन' अथवा 'ढका हुआ', अर्थात परितः परिवेश, जिसमें पृथ्वी, आकाश, अग्नि, जल, वायु जैसे पंचतत्वों के साथ-साथ समस्त चर-अचर प्राणी शामिल हैं।

इतिहासकार इरफान हबीब कहते हैं कि ''प्रायः हम जिसे प्रकृति कहते हैं, वह पर्यावरण ही है, जो समूचे जीवित पदार्थों (मनुष्य जाति को छोड़कर) और भौतिक परिवेश को घेरे रहता है।''[2] अर्थात धरती पर मनुष्य ही ऐसा प्राणी है, जो अपने उद्भव से लेकर आज तक की अपनी विकास यात्रा में प्रकृति का अत्यधिक दोहन करते हुए उसको नुकसान पहुँचा रहा है। परिणामस्वरूप वह पर्यावरण के लिए आज एक गंभीर संकट के रूप में सामने उपस्थित है।

एस राजशेखरन की राय में 'इस जगत के समस्त जैविक-अजैविक पदार्थों के बीच के आपसी संबंध एवं उनके बीच के संबंधों से उत्पन्न समस्त द्वंद्वात्मक क्रियाएँ-प्रतिक्रियाएँ प्रकृति शब्द में शामिल हैं।' इसी कथन के विस्तार में डॉ प्रभाकरन हेब्बार इल्लत कहते हैं कि ''अन्य जानवरों की तुलना में मानव का जीवन खास सांस्कृतिक विचारों से संचालित है। उसके रहन-सहन, खान-पान, भाषा आदि अन्य प्राणिजातों से इसलिए भिन्न है कि उसका जीवन केवल भौतिक स्थितियों के संपन्न होने मात्र से संचालित नहीं होता। इसलिए पर्यावरण की अर्थ सीमा में मानव की भौतिक स्थितियों के साथ मानव की सामाजिकता से उत्पन्न सांस्कृतिक स्थिति समाविष्ट हो जाती है।''[3]

पारिस्थितिकी एवं उसका स्वरूप

संसार के सभी जीव एवं वनस्पतियाँ अपने सह-अस्तित्व व विकास-क्रम की गतिविधियों से अपने आस-पास के वातावरण, परिवेश अथवा परिस्थिति को प्रभावित करते हैं। जब परिवेश अथवा परिस्थिति इसके अनुरूप परिवर्तित होती है तो पुनः उस के प्रभाव से जीवों का भौतिक एवं संरचनात्मक विकास भी परिवर्तित होता है। पारिस्थितिकी के अंतर्गत समस्त जीवों एवं वनस्पतियों के परिवेश व परिस्थिति, उनके विकास एवं परिवेश अथवा परिस्थिति पर उसके प्रभाव का अध्ययन किया जाता है।

'पारिस्थितिकी' शब्द ग्रीक के 'Ecology' का हिंदी पर्याय है। 'Ecology' शब्द 'Oikos' एवं 'Logos' दो शब्दों के मेल से बना है। 'Oikos' का अर्थ है 'निवास स्थान' और 'Logos' का 'अध्ययन'। कालांतर में इन्हीं दो शब्दों के मेल से 'Oekologie' और फिर 'Ecology' शब्द बने। 'पारिस्थितिकी' शब्द 'परिस्थिति' से बना है। अर्थात संसार के सभी जीव, वनस्पतियाँ अपने आपसी क्रियाकलापों से अपने परिवेश, परिस्थिति एवं वातावरण को जिस तरह प्रभावित करते हैं, उसका वैज्ञानिक अध्ययन ही 'परिस्थिति विज्ञान' अथवा 'पारिस्थितिकी' कहलाता है।[4]

संसार में जीवन पृथ्वी एवं जल अर्थात पोखर, तालाब, नदी व समुंदर में विद्यमान है। वैज्ञानिकों का मानना है कि पृथ्वी पर जीवों एवं पेड़-पौधों की लगभग 8.7 लाख जाति व

प्रजातियाँ विद्यमान हैं। इनमें से अब तक मात्र 1.2 लाख जीवों को ही पहचाना गया है, जो अधिकांशतः कीड़े-मकोड़े हैं। शेष अभी भी संसार के लिए रहस्य बने हुए हैं। यदि धरती पर घास से भरे किसी छोटे हिस्से को लेते हैं तो उसी में चींटी से लेकर साँप तक विभिन्न प्रकार के जीव दिख जाते हैं, जो अपने आपसी व्यवहारों से वहाँ के पर्यावरण व परिवेश को प्रभावित करते हैं। जैसे पशु का आहार घास है और पशु से जो खाद मिलता है, उसके उपयोग से धरती की उर्वरता को बनाये रखा जा सकता है। फिर उर्वर धरती पर कई प्रकार की फसलें उगायी जाती हैं, जिनसे मानव जाति की खाद्यान्न आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। ऐसे ही कई जीव मानव जाति की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के संसाधन जुटाने में सहयोग करते हैं।[5]

धरती का दो-तिहाई हिस्सा पानी से घिरा हुआ है। तालाब हो चाहे नदी अथवा समुंदर, पानी में लाखों-करोड़ों जीव होते हैं। समुंदर में लगभग 90% जीव ऐसे हैं, जिनकी संसार को कोई जानकारी नहीं है। मछली पानी का ही एक जीव है, जिससे संसार के लगभग 15 प्रतिशत प्रोटीन की आवश्यकता की पूर्ति होती है। इसके अलावा मछली के अपशिष्ट को खाद के रूप में खेतों में उपयोग में लाया जाता है। मछली का तेल पेड़-पौधों के लिए जैविक खाद माना जाता है। केकड़ा भी प्रोटीन एवं बी विटामिन का एक बेहतर स्रोत है और विश्व भर में प्रतिवर्ष लगभग 1.4 मिलियन टन केकड़ों की खपत की जाती है। इसके अलावा सीफुड एवं शैवाल की भी खाद्य पदार्थों के रूप में खपत की जाती है।[6]

चिड़िया का वनों के विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है। चिड़िया किसी जगह से दाना चुगती है और उड़ते हुए उसके अवशेषों को कहीं दूसरी जगह छोड़ देती है। इससे उस क्षेत्र में बीजों के फैलाव में सहयोग मिलता है और विभिन्न प्रकार के पौधों का विकास भी होता है। जानवर भी धरती पर बीजों के फैलाव में सहयोग करते हैं। आम तौर पर चिड़िया 20 से 30 मीटर प्रति घंटे की रफ्तार से लगभग 6 घंटे तक लगातार उड़ सकती है। इस प्रकार वह लगभग 180 मीटर तक बीजों को फैला सकती है, जबकि जानवर किसी वृक्ष से बीजों को लगभग 40 मीटर की दूरी तक फैला सकते हैं। अतः बीजों से पौधों और फिर पौधों से वृक्षों तथा वृक्षों से वनों का विकास होता है, जो कार्बन डाईआक्साइड को सोख लेते हैं और फिर ऑक्सीजन का उत्सर्जन करते हैं, जिसके बिना मनुष्य का अस्तित्व संभव नहीं है।

यदि वन संरक्षित नहीं हैं तो वहाँ की प्रजातियाँ एवं पारिस्थितिकी भी संरक्षित नहीं हैं। कहा जाता है कि तेरहवीं सदी तक दिल्ली के दक्षिण-पश्चिम छोर पर अरावली की पर्वत श्रेणियों के समांतर वन फैले हुए थे, जिन पर दिल्ली की सेनाओं का नियंत्रण भी संभव नहीं था। बाघ एवं जंगली जानवरों के हमले के डर से बदायूँ और दिल्ली के बीच की यात्रा भी

दुष्कर थी। चौदहवीं सदी की शुरुआत में विद्रोही किसानों ने उन्हीं वनों में शरण ली थी। चौदहवीं सदी के उत्तरार्ध में बदायूँ का उत्तरी सीमा क्षेत्र कटेहर, जो आज रुहेलखंड के नाम से जाना जाता है, बहुत ही घना जंगल हुआ करता था, जहाँ भारतीय बाइसन एवं जंगली भैंसे ज्यादा पाये जाते थे, जिनका सुल्तान फीरोज तुगलक शिकार किया करता था। मुगल काल तक कटेहर के अधिकांशतः वन नष्ट हो चुके थे।

पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी का अंतःसंबंध

प्रकृति का वैज्ञानिक पर्याय ही पर्यावरण है, जबकि जीवों की गतिविधियाँ एवं पर्यावरण पर उनके प्रभाव का अध्ययन पारिस्थितिकी है। पर्यावरण ऐसा बाह्य आवरण है, जो जीवों को घेरे रहता है। संसार में जीवन इसी आवरण पर निर्भर है। जीवन के आधार पंचतत्व, जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश इसी आवरण के अवयव हैं। पर्यावरण के अंतर्गत जल के स्रोत जैसे पोखर, तालाब, नदियाँ, समुंदर सभी आ जाते हैं। वायु के स्रोत पेड़-पौधे, वन भी पर्यावरण के ही अवयव हैं। पृथ्वी, जो जीवन का आधार है और अग्नि, जो ऊर्जा का केंद्र है तथा आकाश, जो गति का सूचक है, पर्यावरण के ही हिस्से हैं।

संसार के सभी जीव एवं वनस्पतियाँ पारिस्थितिकी के अवयव बनते हैं, जो उससे अपने जीवन के लिए आवश्यक तत्व ग्रहण करते हैं और अपने आपसी क्रियाकलापों से पर्यावरण को प्रभावित करते हैं। पृथ्वी पर एकल जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती। जीव, समूहों का गठन करके समूहों में ही जीवन यापन करते हैं, जिसे सामाजिक पर्यावरण कहा जाता है। जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है कि पृथ्वी पर जीवन के लिए नितांत अपेक्षित तत्व जैसे ऊर्जा, जल, वायु आदि पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। इन तत्वों के बिना जीवन की कल्पना भी दुष्कर है। अतः जीवन के लिए आवश्यक इन सभी तत्वों को आर्थिक पर्यावरण कहा जाता है।

संसार में चींटी से लेकर हाथी तक प्रत्येक जीव की अपनी विशेष क्षमता होती है। चींटी बहुत ही छोटा जीव है, लेकिन वह अपने से लगभग 20 गुना ज्यादा वजन उठा सकती है। वह समूह में चलती है और सुनियोजित तरीके से अन्न जुटाती है। कुत्ते की विशेष पहचान उसकी स्वामिभक्ति ही है। गधा ऐसा जानवर है, जो अत्यधिक वजन ढो सकता है। ऊँट भोजन एवं पानी के बिना कई दिन तक रेगिस्तान में यात्रा कर सकता है। चीते की विशेष पहचान उसकी गति ही है।

इन सबसे परे मनुष्य की विशेष पहचान उसकी वैचारिक क्षमता ही है। मनुष्य अपनी वैचारिक क्षमता के आधार पर अपने व्यवस्थित जीवन के नियम एवं सिद्धांत गढ़ता है और उनके अनुकूल अपने आचरण को ढालता है, जिसके अनुरूप उसके संस्कार बनते हैं और

वह अपने विकास के माध्यम से सांस्कृतिक पर्यावरण की नींव डालता है। अतः पर्यावरण जीवों की समस्त परिस्थितियों का केंद्र है, जबकि पारिस्थितिकी जीवों के व्यवहारों एवं उनकी परिस्थितियों का अध्ययन है।

पर्यावरण एवं पारिस्थितिकी विज्ञान

विज्ञान 'विशेष ज्ञान' का पर्याय है। पर्यावरण विज्ञान जीवों को घेरे हुए बाह्य आवरण का वैज्ञानिक अध्ययन है, जिसमें विभिन्न प्राणियों के भौतिक, रसायनिक एवं जैविक वातावरण का विश्लेषण किया जाता है। संसार के सभी जीव सदैव अपने भरण-पोषण एवं संरक्षण हेतु प्रयासरत रहते हैं। मनुष्य शेष जीवों की तुलना में एक कदम आगे बढ़कर अपने विकास के भी प्रयास में जुटा रहता है। जीवों के इन प्रयासों का परिवेश पर प्रभाव स्वाभाविक है। पर्यावरण विज्ञान जीवों तथा उनके भौतिक परिवेश पर जीवों की इन्हीं गतिविधियों के प्रभाव का वैज्ञानिक विश्लेषण है।

पारिस्थितिकी विज्ञान, जीवों के आपसी व्यवहारों एवं भौतिक परिवेश से उनके अंतस्संबंधों का वैज्ञानिक अध्ययन है। संसार में जीवन विविध रूपों में विद्यमान है, जैसे थलचर, जलचर, उभयचर। सभी को जीवित रहने के लिए भोजन की आवश्यकता होती है, जिससे उन्हें ऊर्जा मिलती है। पृथ्वी पर ऊर्जा का प्रमुख स्रोत सूर्य है, जो अपनी किरणों से जीवन में ऊर्जा भरता है। वनस्पतियाँ सूरज की किरणों से ऊर्जा ग्रहण कर अपना विकास करती हैं, जिसे प्रकाश संश्लेषण क्रिया कहते हैं। वनस्पतियाँ स्वपोषित होती हैं, क्योंकि ये अपने विकास हेतु मात्र सूरज की रोशनी, जल, धरती की उर्वरा शक्ति जैसे प्राकृतिक स्रोतों पर ही आश्रित होते हैं। कुछ जीव, जो स्वपोषित नहीं होते, परपोषी कहलाते हैं।[7] जैसे ऊँट, बकरी आदि कुछ शाकाहारी जीव अपने पोषण हेतु वनस्पतियों, उनकी पत्तियों एवं तनों पर आश्रित होते हैं तो कुछ मांसाहारी जीव, जैसे बाघ, चीता, भेड़िया अन्य जीवों पर आश्रित होते हैं। इस प्रकार सभी जीव अपने पोषण हेतु परस्पर आश्रित हैं, जिनकी गतिविधियों से पारिस्थितिकी संतुलन प्रभावित होता रहता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 'पर्यावरण उन सभी भौतिक एवं जैविक तत्वों का समूह है, जो समस्त जीव-जगत के अस्तित्व, विकास एवं वृद्धि का आधार है। मनुष्य इन्हीं के आश्रय में साँस लेता है, अपने जीवन के लिए आवश्यक सामग्री जुटाता है और इन्हीं के संपर्क में रहते हुए अपने जीवन के विकास हेतु प्रयास करता रहता है। वस्तुतः संसार के सभी जीव परस्पर आश्रित हैं। कीट-पतंगे से लेकर बड़े से बड़े प्राणी तक सभी मिलकर पारिस्थितिकी को बनाते हैं। जिस क्षेत्र की जैव-विविधता जितनी अधिक हो, वहाँ की पारिस्थितिकी उतनी ही मजबूत होती है और किसी भी आपदा का क्षमतापूर्वक सामना कर

लेती है। वर्तमान में मनुष्य पृथ्वी की जैव-विविधता के लिए संकट बना हुआ है। वह अपनी गतिविधियों से पारिस्थितिकी को नुकसान पहुँचा रहा है। प्रदूषण, जलवायु परिवर्तन आदि से जीवों की कई जातियों एवं प्रजातियों की संख्या घट रही है। वैज्ञानिकों का मानना है कि अगली सदी तक पृथ्वी के आधे से ज्यादा जीव-जंतु खत्म हो जायेंगे। अतः जैव-विविधता के संरक्षण के प्रयास अत्यंत आवश्यक हैं, ताकि पारिस्थितिकी को बचाया जा सके।

स्वतंत्र भारत में पर्यावरण व पारिस्थितिकी संरक्षण हेतु सरकार द्वारा लगभग 200 कानून पारित किये गये हैं, जो इस विषय की प्राथमिकता एवं गंभीरता के प्रमाण हैं। सरकार द्वारा पर्यावरण संरक्षण के प्रति लोगों को अभिप्रेरित करने हेतु विभिन्न पुरस्कार योजनाएँ संचालित हैं, जिनमें इंदिरा गांधी पर्यावरण पुरस्कार, इंदिरा प्रियदर्शनी वृक्ष मित्र पुरस्कार, प्रदूषण निवारण एवं नियंत्रण हेतु राष्ट्रीय पुरस्कार, पीतांबर पंत राष्ट्रीय पर्यावरण फेलोशिप पुरस्कार, मरु पारिस्थितिकी फेलोशिप, सुल्तान काबू पुरस्कार, पर्यावरण एवं वन मंत्रालय विशिष्ट वैज्ञानिक पुरस्कार, महावृक्ष पुरस्कार, स्वच्छ प्रौद्योगिकी हेतु राजीव गांधी पर्यावरण पुरस्कार आदि प्रमुख हैं। इनके तहत आम आदमी से लेकर विभिन्न उद्योगों के कर्मचारियों में पर्यावरण संरक्षण की आवश्यकता एवं महत्व के प्रति लगातार जागरूकता बढ़ाने के प्रयास किये जाते रहे हैं। लोगों में भी पर्यावरण संरक्षण के प्रति जागरूकता बढ़ रही है। सामूहिक स्तर पर देश में जितने भी आंदोलन हुए हैं, वे सभी इसके जीते-जागते प्रमाण हैं। लेकिन अभी भी इस दिशा में बहुत कुछ किया जाना शेष है। इसके लिए सभी को वैयक्तिक स्तर पर प्रयास करने होंगे।

संदर्भ :

1. आधुनिक जीवन और पर्यावरण, दामोदर शर्मा, प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रकाशन वर्ष 2008, पृष्ठ संख्या 31
2. मनुष्य और पर्यावरण, इरफान हबीब, अनुवाद राजीवलोचन नाथ शुक्ल, राजकमल प्रकाशन, प्रकाशन वर्ष 2016, पृष्ठ सं.9
3. पारिस्थितिक संकट और समकालीन रचनाकार, संपादक डॉ उषा नायर, लेख पर्यावरण और मानव के अंतरसंबंधों पर विचार करते हुए, लेखक डॉ प्रभाकरन हेब्बार इल्लत, वाणी प्रकाशन, प्रकाशन वर्ष 2019, पृष्ठ सं.53
4. पारिस्थितिकी एवं पारिस्थितिकी तंत्र, पर्यावरण अध्ययन – समस्याएँ एवं निदान, डॉ दीनानाथ शुक्ल, डॉ पी कुमार, वंदना श्रीवास्तव, क्षितिज प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण- जून 2007, पृष्ठ सं.51

5. Tyson Brown, Biodiversity, National Geographic Society, 20 May, 2022
6. Gil A, Gil F. Fish, a Mediterranean source of n-3 PUFA: benefits do not justify limiting consumption. British Journal of Nutrition. 2015 Apr;113(S2):S58-67
7. पारिस्थितिकी एवं पारिस्थितिकी तंत्र, पर्यावरण अध्ययन – समस्याएँ एवं निदान, डॉ दीनानाथ शुक्ल, डॉ पी कुमार, वंदना श्रीवास्तव, क्षितिज प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण – जून 2007, पृष्ठ सं.66

■

राजस्थानी चित्रकला में प्रकृति

कमल किशोर कश्यप
शोधार्थी, चित्रकला विभाग, आगरा कॉलेज आगरा।
प्रो. इन्दु जोशी, शोध निदेर्शिका।

सारांश

राजस्थान अर्थात राजपूतों का निवास स्थान भारत वर्ष का दूसरा सबसे बड़ा राज्य है, क्षेत्रफल में यह ब्रिटेन से बड़ा है। टी. एच. हैडले के अनुसार इसका आकार कुछ बेडौल किनारों वाले एक समचतुर्भुज सा है। अरावली की पहाड़ियां इसे दो प्राकृतिक हिस्सों में बांटती है उतर पश्चिमी एवं दक्षिण पूर्वी। उतर पश्चिमी भाग रेगिस्तान एवं सूखा है। जबकि पूर्व और उतर पूर्व हरियाणा और अरावली के आस पास का इलाका उपजाऊ है। उतर पश्चिमी भाग की तुलना में दक्षिण पूर्वी हिस्सा थोड़ा ऊँचा और अधिक उपजाऊ है। भौगोलिक विविधता से भरे इस क्षेत्र में विस्तृत पर्वत श्रृंखलाएँ, जंगली क्षेत्र बड़ी बड़ी नदियाँ उपजाऊ पठारी जमीन और उत्कृष्ठ उपजाऊ भूमि क्षेत्र पाए जाते हैं।[1]

राजस्थान की ये भौगोलिक विविधता राजस्थान के अलग अलग क्षेत्रों में विकसित एवं पल्लवित लघु चित्र शैलियों में चित्रित चित्रों में भी दर्शनीय होती है। इन चित्रों में राजपूताना वैभव के साथ अनेक स्थानों पर प्रकृति का सुन्दर अंकन कलाकारों द्वारा कर एक मनमोहक वातावरण रचने का प्रयास किया गया है। प्राकृतिक वनस्पतियों के साथ उस स्थान पर प्राप्त होने वाले पशु पक्षियों का अंकन व उस क्षेत्र विशेष में प्राप्त वनस्पतियों वृक्षों का चित्रण कर कलाकारों द्वारा उस स्थान की प्राकृतिक व भौगोलिक विविधता को अपने रचनात्मक कौशल से चित्र फलक पर उतारा है। राजस्थान के इन लघु चित्रों में विषय के रूप में गीतगोविन्द, बिहारी सतसई, बारामासा आदि में वर्णित कृष्ण भक्ति एवं प्रेम के विषयों का चित्रण उकेरा गया है जिनमें प्रकृति की अदभुत छटा दर्शनीय है। राजस्थान की चित्रकला चार मुख्य शैलियों के मेल से बनती नजर आती है जिनके अन्तगर्त अन्य उपशैलियों का अध्ययन किया जाता है। यह चार मुख्य शैलीयां मेवाड़, मारवाड़, हाड़ौती, ढूंढाड़ के नाम से विख्यात है, इनके अन्तगर्त आने वाली अन्य उपशैलीयों :—

मेवाड़ : उदयपुर, देवगढ़, नाथद्वारा आदि।

मारवाड़ : जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ, ,नागौर, अजमेर आदि।

हाड़ौती : बूंदी, कोटा, झालावाड़ आदि।

ढूंढाड़ : अलवर, जयपुर, शेखावटी, उनियार आदि।

उपरोक्त राजस्थानी चित्र शैलीयों में सबसे पहली चित्र शैली मेवाड़ शैली के रूप में है जिसमें कलाकारों ने प्रकृति का अंकन अलंकारिक रूप में प्रस्तुत किया है। पर्वत मालाएँ एवं चट्टानों की चित्र रचना में आलेखन व अलंकरण को महत्व प्रदान किया जैसा फारसी व मुगल शैली के चित्रों में दर्शनीय है। धरती को अधिकाशतः लाल हरे व पीले रंग से अंकित किया गया है। कुंज लताओं, वृक्षों व पुष्पों की अधिकता से मेवाड़ शैली के चित्र प्रकृति के और नजदीक जान पड़ते हैं वृक्षों के पत्ते पुष्पित पौधों को गुच्छों के रूप में चित्रकारों ने चित्र फलक पर उतारा हैं। आम, अशोक के वृक्ष चित्रों में राजस्थान की चटक धूप में शीतलता प्रदान करते नजर आते हैं। रीता प्रताप के अनुसार इस प्राकृतिक सुन्दरता को पशु पक्षियों जैसे चकोर हंस, मयूर, हिरण आदि के माधुर्यता पूर्ण चित्रण से और बल मिलता दिखता है।

मेवाड़ शैली का एक अन्य उपकेन्द्र नाथद्वारा एक धार्मिक स्थल के रूप में भी विश्वविख्यात है जहाँ भगवान श्री कृष्ण की भक्ति व सेवा का सुन्दर दर्शन मिलता है। यहाँ भगवान कृष्ण की प्रतिमा के पीछे सुन्दर पिछवाईयों को कपड़े पर बनाया जाता है जिनमें मोर, बतख, हाथी, तोते व अन्य पशु पक्षियों के साथ केले, आम, अशेक जैसे वृक्षों का अंकन कर चित्र रूप में कुंजों का सृजन कलाकारों द्वारा किया जाता रहा है। इसी प्रकार उदपुर जो अपनी प्राकृतिक सुन्दरता व झीलों के लिए झीलों की नगरी के नाम से जाना जाता है वहाँ की प्राकृतिक सुन्दरता को भी कलाकारों द्वार अपनी कूची से रंगों व रेखाओं के माध्यम से चित्र रूप में रचा गया है।

राजस्थानी लघु चित्रकला में मारवाड़ दूसरा मुख्य केन्द्र रहा है जिसके अन्तर्गत उप केन्द्रों के रूप में जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ़, अजमेर व नागौर की कला को रखा जाता है। प्राचीन साक्ष्यों के अनुसार मारवाड़ का यह प्रदेश एक समय में समुद्र के जल से आच्छादित था जिस का प्रमाण रामायण में भी उपलब्ध है और जो श्रीराम राम जी के आग्नेयआस्त्र से शुष्क हो गया था। मारवाड़ के इस बालूकाय प्रदेश में ही भक्तिकाल की महान कवयित्री मीराबाई जी का जन्म हुआ और उन्होंने राजस्थान की इस मरूभूमि में कृष्ण भक्ति का सुन्दर व प्रेममयी रस धोला।

मारवाड़ के चित्रों में मरूप्रदेश का अंकन स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। यहाँ मरूस्थान की छोटी छोटी झाड़िया, टीले, हरियाली विहीन भू खण्डों का अंकन देखने को मिलता है।

मारवाड़ के कुछ ऐसे क्षेत्र जहाँ हरियाली व वनस्पति मिलती है वहाँ के चित्रों में अवश्य आम के वृक्षों का अंकन अधिकता से मिलता है। जैसे मारवाड़ की उपशैली किशनगढ़ के चित्रों में प्रकृति का मनमोहक चित्रण कलाकारों की तूलिका ने कागज पर उतारा, यहाँ की झीलों, पहाड़ों, वनों, उपवनों एवं पशु पक्षियों की क्रीड़ा से युक्त किशनगढ़ या रूपगढ़ का प्राकृतिक परिवेश किशनगढ़ शैली के चित्रकारों के लिए प्रेरणा का साधन बना। विस्तृत झीलों व सुखद सरोवरों में कमल व केलि के वक्षों के मध्य क्रीड़ा करते हुए हंस, बतख, बगुला, सारस, वक्र और जलमुर्गीयों को अंकित किया गया है।

'प्रायः घने वृक्षों के निकुंज खासतौर पर चम्पा, चमेली, मोलक्षी, आम, जामुन, कदली, केला, कदम्ब आदि वृक्षों को चित्रित किया है, जिस पर मोर, तोता व क्रीड़ारत बंदर दर्शानीय है।'[2] इन सभी प्राकृतिक रूपों से किशनगढ़ चित्र शैली का प्रेम व भक्ति का मुख्य विषय और अधिक प्रेममय व अपनी चरम पराकाष्ठा को प्राप्त करता प्रतीत होता है। राधा कृष्ण के विषयों पर आधारित यह चित्र शैली एक माधुर्य पूर्ण वातावरण को अपने में समेटने में अपनी प्राकृतिक सुन्दरता के कारण ही सफल बन पड़ती है।

इसी श्रृंखला में हड़ौती राजस्थान की तीसरी मुख्य चित्र शैली है जिसके अन्तर्गत बूंदी, कोटा, झालावाड़ एवं अन्य मुख्य उपशैलियों की कला को रखा जाता है। यहाँ बूंदी व कोटा के चित्रों में प्रकृति का चित्रण घने जंगलों व वन्य जीव जन्तुओं के साथ किया गया है जिसमें शिकार दृश्यों का अंकन, कोटा के चित्रों में कलाकारों द्वारा अंकित किया गया है वही बूंदी शैली में प्रकृति की विविधता सतरंगे बादल पशु पक्षियों व जलाशयों का चित्रण चित्रकारों द्वारा बहुतायात से किया गया है। 'बूंदी शैली का एक सम्पूर्ण बारामासा है जिसमें चैत्य से लेकर फाल्गुन मास तक का चित्रण है इन चित्रों में नायक कृष्ण है।'[3] बूंदी शैली के चित्रों की मुख्य विशेषता इसकी सघन प्राकृतिक सुषमा रही है। इन चित्रों में बूंदी की स्थानीय प्रकृति का प्रभाव सुन्दरता के साथ दर्शाया गया है।

इसी प्रकार राजस्थान की चौथी मुख्य शैली के रूप में ढूढ़ार रहा है जिसके अन्तर्गत जयपुर, अलवर, शेखावटी व उनियार क्षेत्रों में विकसित चित्र शैलियों को रखा जाता है। इन सभी क्षेत्रों में प्रकृति का सुन्दर चित्रण कलाकारों द्वारा रूपांकित किया गया। गुलाबी नगरी जयपुर के कलाकरों ने सफेद रूई के समान बादलों को आकाश में तैरता अंकित कर एक अलग ही प्राकृतिक वातावरण गढ़ा साथ ही वन व उद्यान के अंकन में इन कलाकारों की निपुणता को एक प्रकृति प्रेमी ही समझ सकता है। इसी प्रकार शेखावटी शैली में प्रकृति व वन्य जन्तुओं को मनुष्य के सहचरी व मानव रूप में अंकित किय गया है।

राजस्थान की अमूल्य धरोहर रूपी इस चित्र परम्परा से राजस्थान के अनेक समकालीन कलाकार भी प्रेरित होते रहे है जिनमें पी. एन. चोयल, शैल चोयल, ललित शर्मा, युगल किशोर शर्मा, छोटू लाल आदि अनेक नाम इस क्रम में शामिल हैं जो लघु चित्र परम्परा के प्राकृतिक रूपों को अपने चित्रों में रचते दिखते हैं। कलाकार ललित शर्मा उदयपुर की प्राकृतिक सुन्दरता को अपने चित्रों में नवीन संयोजनों व शैली के माध्यम से कैनवास पर सुसज्जित करते आ रहें हैं। इनके चित्रों में प्रकृति के शीतल रंग व आकार ज्यामितीय रूपों में धरातल पर विचरण करते प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार शैल जी के चित्रों में भी मेवाड़ की सुन्दर प्राकृतिक आभा उतर कर आती है। वनों व उपवनों से ढँके उनके चित्रों में हरा व नीला रंग मुख्यता से दर्शनीय है। वही युगल किशोर जी व छोटू लाल जी के चित्रों में नाथद्वारा की प्राकृतिक वनस्पतियां व वृक्षों, पशुओं का अंकन कलाकार की प्रकृति से नजदीकी व प्रेम को और गहरा करता है।

निष्कर्ष : कलाकर का मन अनन्त काल से प्रकृति से जुड़ा रहा है प्रकृति ने कलाकार को सृजन के नवीन रूप प्रदान किये जिनके दर्शन लघुचित्रों में मिलते हैं समय के साथ इन प्राकृतिक रूपों में जीवन का नवीन सार तलाश कर कलाकारों नें नवीन सन्दर्भों के साथ चित्र रूप में उतारा है। प्रकृति कलाकार ही नहीं वरन विश्व के प्रत्येक प्राणीजन के लिए प्रेरणा प्रदानकर्ता, मार्गदर्शक जैसे अनेक रूपों में ईश्वर द्वारा प्रदत एक अमूल्य उपहार है जिसका कलाकारों द्वारा किया जा रहा सुन्दर अंकन सामान्य जनमानस को ये सन्देश देते आ रहे हैं कि जिस रूप में प्रकृति हमें मिली है उसका वह सुन्दर रूप मानव समाज को बनाये रखना चाहिए ताकि आने वाली पीढ़ी इस सुन्दर रूप को सिर्फ चित्रों में ही न देख सके।

सन्दर्भ :

1. आहूजा डी. आर, राजस्थान लोक संस्कृति और साहित्य, राष्टीय पुस्तक न्यास, भारत, पेज न. 1.
2. प्रताप डॉ. रीता, भारतीय चित्रकला एवं मूर्तिकला का इतिहास, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर, पेज न. 207.
3. वही, पेज न. 219.

■

साहित्य में पर्यावरण संरक्षण एवं संचेतना : एस आर हरनोट

संजीव कुमार मौर्य

हिंदी तथा आधुनिक भारतीय भाषा विभाग

लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

प्रकृति अपरिमित रूप में आकाश, पाताल और पृथ्वी तक फैली हुई है। उसका यह विस्तृत रूप सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, ग्रह, नक्षत्र, मनुष्य, पेड़-पौधे और जंतु जगत तक आछन्न है। इन सब के परस्पर संतुलन से ही यह ब्रह्माण्ड चलायमान है। मनुष्य भी प्रकृति का ही एक अंग है। किंतु उसने अपनी बौद्धिक प्रतिभा के दम पर अपने आपको इन प्राकृतिक अवयवों में सर्वश्रेष्ठ बना लिया है। ऐसी स्थिति में मानव को चाहिए था कि वह प्राकृतिक संसाधनों का समुचित उपयोग करता जिससे कि प्रकृति का संतुलन युगों-युगों तक बना रहे किन्तु मनुष्य अपनी स्वार्थ लिप्सा में प्रकृति का दोहन करते-करते उसका भक्षक बन बैठा।

पर्यावरण के अभाव में मानव जीवन की कल्पना बेमानी है और मनुष्य के बिना साहित्य सृजन संभव नहीं है। अतः पर्यावरण और साहित्य का संबंध स्वतः सिद्ध है। प्राचीन काल में हमारे ऋषि-मुनियों ने प्रकृति के विभिन्न अवयवों को ईश्वर मानकर उसकी पूजा-अर्चना आरंभ की तथा अपने साहित्यिक ग्रंथों वेद, पुराण, उपनिषद और स्मृति ग्रंथों में भी महत्त्व प्रदान किया। आगे चलकर प्रकृति के सौन्दर्य और उसकी शीतल छाँव में बैठकर ही महाकवि कालिदास ने 'मेघदूत' और 'शकुंतला' सरीखे कालजयी कृतियों का प्रणयन किया। प्रकृति में ही सुमित्रानंदन पन्त की कविताएँ पुष्पित और पल्लवित हुईं और वे 'प्रकृति के सुकुमार कवि' कहलाये। प्रकृति के विभिन्न उपादानों को उपास्य बनाकर कवि कर्म करने पर श्रीधर पाठक 'प्रकृति के उपासक' कहे गये। इस प्रकृति की ही शीतलधारा में (केन नदी के किनारे) सुस्ताते हुए केदारनाथ अग्रवाल 'केन के कवि' कहे गये। यदि हमारे पूर्वजों ने इस प्रकृति को बहुत समय पूर्व ही क्षत-विक्षत कर दिया होता तो शायद ही इन कवियों को प्रसिद्धि मिल पाती। कवि के लिए प्राकृतिक उपादानों के महत्त्व को इंगित करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल

कहते थे कि सभ्यता के विकास के साथ कवि कर्म भी कठिन होता जाता है। वे 'कविता क्या है' नामक निबंध में लिखते हैं ''मनुष्य सारी पृथ्वी छेंकता चला जा रहा है। जंगल कट-कटकर खेत, गाँव और नगर बनते जा रहे हैं। पशु-पक्षी का भाग छिनता चला जा रहा है। उनके सब ठिकानों पर हमारा निष्ठुर अधिकार होता चला जा रहा है। कुछ हमारी बस्ती के भीतर या आस-पास रहते हैं और छीन-झपटकर अपना हक ले जाते हैं। हम उनके साथ बराबर ऐसा ही व्यवहार करते हैं मानो उन्हें जीने का कोई अधिकार नहीं है।''[1]

जंगल काटे जा रहे हैं, पहाड़ के आभूषण छीने जा रहे हैं जिससे भूमि स्खलन हो रहा है। बादल फटते हैं तो गाँव के गाँव उसमें बह जाते हैं। जब कोई घटना घटती है तो कुछ घड़ियाली आँसू बहाने के साथ ही वैज्ञानिक तरीके अपनाने की बात की जाती है। परन्तु फिर वही शार्टकट रास्ता चुना जाता है। आखिर ऐसा कब तक चलेगा? प्रकृति अपने साथ इस प्रकार की छेड़छाड़ कब तक सहन करती रह सकती है? कभी सुन्दरलाल बहुगुणा ने कहा था—''धरती पर तीसरा विश्व युद्ध आरंभ हो चुका है। यह युद्ध प्रकृति के खिलाफ है।''[2] यह नहीं है कि पहाड़ों में विकास नहीं हो रहा है। परंतु पहाड़ों के विकास के लिए अपनाये जाने वाले अवैज्ञानिक तरीकों से चाहे हमें क्षणिक लाभ की अनुभूति होती हो परंतु उसके दूरगामी परिणामों की चिन्ता किसी को भी नहीं है। जिसके परिणामस्वरूप कभी कोई पहाड़ डायनामाइट के भीषण विस्फोटों को न सहते हुए गिरकर नदी के प्रवाह को रोककर पहले झील का रूप धारण करता है व फिर बाढ़ के रूप में कहर बरपाता है। आज नदियों के किनारे खड़ी ऊँची-ऊँची इमारतों से पर्यटन व्यवसाय से जुड़े लोगों की चाँदी हो रही है परन्तु नदी की राह की चिंता किसी को नहीं है। अतः उसे मजबूरन कहर बरपाते हुए अपनी राह के रोड़े को हटाना पड़ता है।

वृक्ष एवं वनस्पतियाँ भूमि को उन्नत और उर्वरा ही नहीं बनाते बल्कि मानव मात्र का भरण-पोषण भी करते हैं। जैसे-जैसे धरती पर वन कम होते जा रहे हैं वैसे-वैसे पर्यावरणीय प्रदूषण भी बढ़ता जा रहा है। विचारणीय है कि इससे मानव स्वास्थ्य पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है। मनुष्य जीवन के लिए प्राकृतिक वातावरण मूल घटक संशाधन है। इन संशाधनों का स्वार्थ पूर्ण दोहन पर्यावरण को हानि पहुँचा रहा है। इसलिए समस्त जीवन के अस्तित्व के लिए अहिंसा एक अनिवार्य मूल्य है। आज के समय में जहाँ हमारी प्रकृति में अधिक मात्रा में प्रदूषण फैल चुका है। देश में आधे से अधिक व्यक्ति रोग ग्रस्त हो गए हैं। आज स्थिति यह हो गयी है कि न केवल हवा बल्कि जल स्रोत भी दूषित हो गए हैं। इतना ही नहीं आज के समय में ध्वनि तथा भूमि प्रदूषण के दुष्परिणाम भी सामने निकल कर आए हैं जो कि मानव ही नहीं अपितु समस्त प्राणि जगत के लिए एक चिंता का विषय बताया जा रहा है

जिसका जिक्र एस. आर. हरनोट जी अपनी कहानियों के माध्यम से करते रहते हैं। यह समस्या इतनी जटिल हो गयी है कि सम्पूर्ण रूप से निराकरण की असमर्थता जग जाहिर है। ऐसे में युवा वर्ग में पर्यावरण के संरक्षण के प्रति जागरूकता लाना अहम कर्तव्य है क्योंकि पर्यावरण ही वह साधन है जो मनुष्य की सभी जरूरतों की प्रतिपूर्ति करता है।

एस. आर. हरनोट की कहानियाँ प्रकृति की सौम्यता को भंग करने की इस साजिश को बेबाकी से प्रस्तुत करती हैं और वर्तमान में आंचलिक जनता के द्वारा पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण की समस्या से जूझते हुए उत्कट संघर्ष को बेबाकी से रखती हैं। आज के इंसान में पर्यावरण के प्रति जागरूकता का अभाव है। ''मानव के विकास की समस्त यात्रा आनंद की खोज में हुई है। आनंद प्राप्त करने की इस खोज की यात्रा में इंसान को विभिन्न पड़ाव से होकर गुजरना पड़ा है। इन्हीं खुशियों की आकांक्षाओं के अतिक्रमण से मनुष्य जीवन के वास्तविक सौन्दर्य से विमुख हो जाता है। आकांक्षाओं के अतिरेक का अर्थ है कि जीवन का मात्र भोगयुक्त हो जाना जो कि पशुवत होने के समान है। केवल भोग के जाल में फँसने का मतलब मनुष्य का प्रकृति से दूर होता जाना है। आज के समय में आधुनिक सुख सुविधाओं के लिए प्राकृतिक संपदाओं का दुरुपयोग किया जाना दुर्भाग्यपूर्ण कृत्य है।''[3] आज का मनुष्य अपने आप में इतना खो गया है कि उसे आस-पास के पर्यावरण की जरा सी भी चिंता नहीं रही।

हरनोट जी ने अपनी कहानियों में भी प्रकृति और पर्यावरण के साथ-साथ जीवन और संस्कृति को भी यथेष्ट स्थान दिया है। ''पहाड़ का वातावरण जितना मनोहारी होता है, जीवन उतना ही कठिन। सैलानी की नजर से देखने पर वहाँ के जीवन संघर्ष को नहीं समझा जा सकता है। हरनोट ने संस्कृति और परंपराओं के बीच उस जीवन संघर्ष को पकड़ने की कोशिश की है और उसके माध्यम से आने वाले सामाजिक बदलावों की ओर भी संकेत किया है।''[4]

यहाँ की भूमि अतुल खनिज संपदा का भण्डार होती है। वनों के बाद खनिज एक दूसरा संसाधन है जिसकी वजह से हिमालय क्षेत्र की प्रकृति कांतिहीन हुई है। घाटियों में बड़ी-बड़ी पनऊर्जा उत्पादक परियोजनाओं के निर्माण ने भी काफी हद तक पर्वतीय भूमि को पर्याप्त क्षति पहुँचाई है। राज्य के पास बहते हुए पानी के पर्याप्त स्रोत है। पानी के स्रोत यद्यपि लगातार नवीकृत हो सकने वाले संसाधन हैं फिर भी इनके कारण भूमि का स्खलन और बाढ़ के रूप में जो खामियाजा भुगतना पड़ा है, उसकी भरपाई नहीं हो सकती। इन बड़ी पन योजनाओं ने हिमालयी प्रकृति का चेहरा ही विरूप कर दिया है। खेती, वन, चारागाह और जल स्रोत धीरे-धीरे यहाँ की जमीन से लुप्त होते जा रहे हैं। बेहतर होता यदि ये पन

विद्युत परियोजनाएँ लघु स्तर की होती और इनके बन जाने के बाद निर्माताओं पर उनके भौगोलिक पुनर्स्थापन की जिम्मेदारी कानूनन लागू की जाती।

एस.आर. हरनोट अस्सी के दशक में उभरे एक ऐसे कथाकार हैं जिन्होंने हिमालय के पर्वतीय देहात की अपनी कहानियों में सांस्कृतिक व सामाजिक विषमताओं की पड़ताल करने के साथ-साथ अनेकों कहानियाँ ऐसी भी लिखी हैं जिनमें पर्यावरण के मुद्दों को पूरे जन सरोकार और प्रतिबद्धता के साथ उठाया गया है। इनमें कुछ ऐसी कहानियाँ भी हैं जिनमें इन समस्याओं को निवारक रूप से समझा और समझाया गया है। ''जब सामाजिक रचनात्मक मानवीय मूल्यों का तकाजा हो और साहित्य की कोई भी विधा उसकी सुध न ले तो ऐसे साहित्य को संवादी होने का सम्मान नहीं दिया जा सकता। कथाकार भी प्रामाणिक स्तर पर एक संदेशवाहक है, विशेषकर ऐसे समय में, जबकि वर्तमान प्रजातन्त्र की आड़ में, कुछ समाज विरोधी भ्रष्ट तत्व जमीन, आसमान एवं प्रकृति को अपनी जागीर सझकर उससे अनाधिकारिक रूप से मुनाफाखोरी कर रहे हैं।''[5] आर्थिक-सामाजिक प्रगति का मतलब यह नहीं कि मूल-संपदा का बेहिसाब दोहन कर कुबेर तंत्र अपने लिए भारी भरकम पूंजी का जुगाड़ करे और आमजन अपने मूल व्यवसाय से विस्थापित होकर आजीविका के लिए कोई बेहतर विकल्प प्राप्त न कर सकें।

हरनोट की पर्यावरणधर्मी कहानियों में माफिया, मिट्टी के लोग, बेजुबान दोस्त, नदी गायब है, सड़ान, आभी और एक नदी तड़पती है कुछ ऐसी कहानियाँ है जिनमें पर्यावरण को उसके विभिन्न आयामों में देखा-परखा और समझा जा सकता है। उपन्यास 'हिडिम्ब' के अनेक प्रसंग और 'नदी रंग जैसी लड़की' में भी उन्होंने पर्यावरण और पारिस्थितिकी का यथा स्थिति गंभीरता से आकलन किया है। 'माफिया' उनकी एक ऐसी कहानी है जिसमें कथाकार ने वन माफिया की काली करतूतों को लेकर एक रुचिकर विवेचना की है। निकट अतीत में वन माफिया की तस्करी का एक भयानक दौर रहा है। बात काठ की तस्करी से आगे बढ़कर चोरी छुपे वन्य जीवों की तस्करी तक पहुँच गई। इस काले व्यापार में संगठित निर्यातकर्ता तस्कर तत्व, देहाती आपूर्तिकर्ता और भ्रष्ट वन विभाग के कारिन्दे परस्पर समन्वय और साझेदारी के आधार पर बराबर गतिशील बने हुए हैं। शासन के गलियारों में भी कभी इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया।

माफिया कहानी में कथाकार पर्यावरण को बचाने की जिम्मेदारी भावी पीढ़ी में देख रहा हैं। बच्चों को यदि बचपन से ही प्रकृति प्रेमी बनाया जाय तो आगे चलकर वे पर्यावरण के भक्षक न बनकर उसके रक्षक ही बनेंगे। इस बारे में कथाकार द्वारा निर्मित यह भावचित्र द्रष्टव्य है—''चुन्नी को जब भी ढूंढना होता, वह मोरनी धार पर ही मिलता। झाड़ियों की ओट में

दुबका वह कई घंटों मोर-मोरनी को देखता रहता। पहले पहल तो उनका जोड़ा बीहड़ों में छुप जाता। चुन्नी से डर कर भाग जाता। पर अब मोर- मोरनी घर के हो गए हैं। आस-पास कई बार आ जाया करते। चुन्नी की आँखों में मोर-मोरनी बस गए थे। ..... जैसे उसका वह परिवार हो गया हो।''[6] पर्यावरण के प्रति यह आत्मीयता और निकटष्ठता हमें बचपन से ही भावी पीढ़ी के मनःपलट पर रेखांकित करना होगा।

अपने स्थानीय पर्यावरण को बचाने की कवायद को रेखांकित करती हरनोट की कहानी 'बेजुबान दोस्त' है। जिसमें किशन नाम के एक ऐसे असाधारण और असामान्य मानसिकता वाले किशोर की कहानी है जिसने वन्य प्रकृति और वहाँ निवास करने वाले जीवों के लिए अपना सब कुछ कुर्बान कर दिया। वह एक जन्मजात पर्यावरण सजग बालक था और स्कूल के दिनों में जब उसके एक सहपाठी ने अपनी गुलेल से एक चिड़िया की हत्या कर दी तो किशन ने उसके एवज में उसकी आँख ही फोड़ डाली थी। किशन की इसके लिए स्कूल में पिटाई हुई और उसे स्कूल से निष्कासित भी कर दिया गया।

कथाकार ने जहाँ एक ओर किशन का जीवन-चरित कलमबन्द किया है वहीं दूसरी ओर देहात में फैक्ट्री आने के कारण तेजी से बदलती जनवृत्तियां और कम्पनी और उसके अनन्य समर्थकों की षड्यंत्रकारी चालों का भी खूबसूरती के साथ दिग्दर्शन किया है। 'यह कहानी समकालीन कहानी की फॉर्म और प्रस्तुत्य शैलियों से बिल्कुल अलग है। एक ऐसी कहानी जो लोक स्तर की होते हुए भी आमफहम नहीं कही जा सकती। कथा को कहानीकार ने सरलतम किस्सागोई की शैली में लिखा है। यह साहित्यिक स्तर के पाठक को भी उतना ही छू लेगी जितना कि एक गैर-साहित्यिक आम पाठक को। ऐसी कहानियाँ साहित्य को लोकप्रिय बनाती हैं। वरना वे श्रेष्ठ होकर बुद्धिजीवी वर्ग में ही सीमित रह जाती हैं। इस कहानी की एक खूबी यह भी है कि यह प्रेमचन्द की कहानियों की तरह अपने लक्षित लोगों तक आसानी से पहुँच जाती है। पर यही कहानी कहीं एक बड़े और विकराल मुद्दे को लेकर एक साथ सहज भी है और असहज भी। कहानीकार ने कहानी में असलियत का हर कोना टटोला है और उसको रेशा - रेशा बयान किया है। कहानी में किशन के विलक्षण चरित्र के कारण सघन यथार्थ भी एक विशिष्ट स्वैरकल्पना का रूप ग्रहण कर लेता है। कहीं-कहीं एक तरह का 'मेटामॉर्फोसिज' भी है इसमें।''[7]

'बेजुबान दोस्त' के कथा वृत्त का अन्त भी मार्मिक है। किशन अदृश्य हो गया है और कोट की जेबों में पक्षियों ने घोसले बना दिए हैं। कथाकार ने पूरे जीव परिदृश्य को वस्तुस्थिति में कुण्डलित कर एक जबरदस्त परोक्ष प्रतिवाद किया है। कथाकार का चरमबिन्दु पर यह कथन एक संवेदनशील आदमी को झंझोड़ कर रख देता है। यथा—''कोई भी पशु

उसके बाद अपने ओबरे (गोशाला) नहीं लौटा..... पशु जंगलों, घासणियों और घाटियों में आज भी रम्भाते रहते हैं।. .....जंगल की चिड़ियाएँ पेड़ों की टहनियों पर उदास उदास बैठी रहती हैं। प्यास लगती है तो किशन के लगाए पौ में पानी तलाशती हैं, पर अब कहीं कुछ नहीं मिलता।''[8]

अपने निजी स्वार्थ के लिए मनुष्य द्वारा पर्यावरण को क्षति पहुँचाने का सिलसिला बदस्तूर जारी है। नदियों पर बड़े-बड़े बाँध बनाकर और अपनी सुविधा के लिए ऊँचे-ऊँचे पुलों का निर्माण करके पावन नदियों की अबाध गति को बाधित करने की कोई कोर कसर हमारे रहनुमाओं ने नहीं छोड़ी है। इन सब हरकतों से प्रकृति को और नदियों को कितना नुकसान हुआ है इसका अंदाजा लगाना आसान नहीं। 'नदी गायब है' पर्यावरण की दृष्टि से एक ऐसी प्रसंगमूलक कहानी है जो अन्तरिम पर्वतीय इलाकों में पनबिजली परियोजनाओं और सड़क निर्माण जैसे विकासात्मक कार्यों के कारण पहाड़ों की आदिम और स्वयंभू प्रकृति को नुकसान पहुँचा रही है। प्रस्तुत कहानी पर्वतीय प्रदेश के अन्तरिम गाँव की कहानी है जिसमें कथाकार ने एक बसे बसाए ग्राम जनपद पर मंडरा रहे खतरों से जनता को आगाह किया है। ऐसी प्रगतिशीलता कोई उपादेय अर्थ नहीं रखती जो प्रकृति और उसके सान्निध्य में ग्रामीण और लोगों के पारम्परिक और वंशानुगत बसाव को चुनौती देती हो।

कोई नदी रातोंरात ही गायब नहीं हो सकती है। हरनोट जी की यह कहानी प्रतीकात्मक अर्थ भी रखती है। नदी गायब होने का मतलब है नदी पर आश्रित वहाँ की पुष्पित और पल्लवित प्रकृति व संस्कृति का नष्ट होना। ''मनुष्य के शरीर में जैसे दाँत का टूट जाना, आँख का फूट जाना अथवा अचानक लगी अचेतन चोट से हड्डी का टूट जाना। वैसे ही सर्वहारा ग्रामीणों के लिए नदी का गायब हो जाना, जमीन का धंस जाना, सुरंग बनाने के लिए भूमि का उत्खनन कुछ ऐसी ही गम्भीर घटनाएँ हैं। उस आदमी के लिए जो अनावश्यक साधनों व प्रसाधनों से दूर अपने नैसर्गिक जीवन का बेखौफ आनन्द ले रहा है।''[9] कहानी में दर्शाये इन सभी तत्त्वों का संयोजन इसे चलचित्र की भांति जीवन्तता प्रदान करते हैं।

''कोई भी साहित्यिक कृति यदि अपनी संरचना में अन्तर्विकसित रूप से सकारात्मक संवाद देने की पात्रता रखती हो तो उसे स्वीकार करने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए। साहित्य यदि आज संवाद नहीं दे रहा और उसमें मानव हित का कोई सरोकार शामिल न हो तो वह आम पाठक को प्रभावित नहीं कर सकता। यही कारण है कि रचनात्मक साहित्य के पाठक अब काफी कम हो गए हैं। प्रेमचन्द, रामवृक्ष बेनीपुरी, इलाचन्द्र जोशी अथवा फणीश्वर नाथ रेणु जैसे स्वनामधन्य लेखकों की रचनाओं के उत्सुक पाठक भी अब नहीं रहे।

फिल्मों में भी पथेर पांचाली, गोदान, तीसरी कसम और टी. वी. वृत्तों में हम लोग, बसन्ती, राग दरबारी जैसी फिल्मी कृतियाँ अब छोटे-बड़े स्क्रीनों से नदारद हैं।''[10] एस आर हरनोट अपनी संवादपरक कहानियों में संवाद देने के लिए न केवल उसके लिए कहानी के अन्दर ही परिस्थितियों का सृजन करते हैं अपितु ऐसी रचनाओं में उन्होंने अपने सामान्य नायकों को भी कथात्मक गल्प के जरिए न केवल विशिष्ट चरित्रों में बदला है बल्कि कथा संरचना के अन्दर ही सफलतापूर्वक सुव्यवस्थित ढंग से व्यक्त भी किया है।

पहाड़ों में अनेकों परियोजनाओं के असुव्यवस्थित कार्यविधि के कारण भारी भू-स्खलन के साक्ष्य मौजूद हैं। बारूद से चट्टानी पहाड़ों का विस्फोट कर यहाँ बड़ी-बड़ी योजनाओं का निर्माण हुआ है। बारूदी धमाकों से न सिर्फ पर्वतीय जमीन क्षतिग्रस्त हुई है अपितु आसपास के देहाती घरों को भी नुकसान हुआ है। शिमला के करीब नाथपा झाकड़ी, देवघाटी कुल्लू में पर्वती पनऊर्जा परियोजना, किन्नौर के साथ अन्य कई स्थानों पर मध्य और लघु स्तरीय ऊर्जा उत्पादक योजनाएँ इसके लिए विशेष रूप से जिम्मेदार हैं। इन योजनाओं से सुरंगों के जरिए जहाँ नदी प्रवाहों की दिशा बदली है वहीं प्राकृतिक जल स्रोत भी जमींदोज हुए हैं। इन योजना परिक्षेत्रों को पर्यावरण की दृष्टि से पुनर्जीवित करने के लिए भी कोई विशेष ऊहापोह नजर नहीं आती।

सरदार सरोवर, नर्मदा आन्दोलन, टिहरी बांध प्रदर्शन कुछेक ऐसी वारदातें हैं जिन्होंने परियोजनाओं के मामले में विभिन्न सरकारों को विवेकशील ढंग से सोचने पर विवश किया है, फिर भी धनकुबेरों का दबाव तो अन्तरिम स्रोत स्थलों पर आज भी बराबर बना हुआ है। वर्तमान प्रजातंत्र में सत्ता के गलियारों से भविष्य में भी यही सब बदस्तूर होता रहेगा, इसमें कोई संदेह नहीं है। इसके लिए क्रान्ति चाहिए, एक समग्र और पाएदार रचनात्मक बलाघात करती हुई क्रान्ति। कहानी 'नदी गायब है' में इसी क्रांति का आह्वान हुआ है—''उस विरोध में मर्द, औरतें, जवान, बूढ़े और बच्चे भी शामिल थे। ..... लोगों की भीड़ पर पुलिस की लाठियां बरस रही थीं। पर लाठियों का असर कोई खास नहीं हो रहा था।''[11] अपने प्रस्तुत कलेवर में कहानी ने यथा शक्ति अपने समकालीन दायित्व का पूरी तरह वहन किया है। और इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह क्रान्ति एक न एक दिन यथार्थ के स्तर पर कामयाब होगी।

प्रस्तुत कहानी के माध्यम से लेखक ने परियोजनाओं की देहाती अर्थ-संस्कृति पर पड़ने वाले पार्श्व कुप्रभावों की जानकारी भी कथा चरित्रों के द्वारा सूक्ष्म रूप में दी है। इसी में कहीं यह संदेश भी गुथा है कि पहाड़ों में हो रहा विकास यहाँ की प्रकृति और भू-जलवायुगत परिस्थितियों के अनुकूल नहीं है। जब हिमाचल एक प्रशासनिक इकाई के रूप में आज से लगभग छह दशक पूर्व वजूद में आया था, तब पर्वतीय मानदण्डों की बात जोरदार

ढंग से कही गयी थी लेकिन उस पर आज तक अमल नहीं हुआ। जिसकी वजह से तथाकथित भौतिक-आर्थिक विकास ने जनता को आगे बढ़ाने के साथ-साथ संस्त्रोत सम्पन्न अन्तरिम देहाती क्षेत्रों का यकीनन अहित किया है जिसकी भरपायी करना कठिन होगा।

हरनोट की पर्यावरण से सम्बन्धित कहानियाँ पहाड़ों में ऐसे विकास का प्रतिवाद करती हैं जो उसके स्वस्थ परम्परागत मूल्यों का खण्डन करती है और उस पर भौतिक विकास लादना चाहती हैं। जो न सिर्फ पर्वतीय संसाधनों का अनावश्यक दोहन करने पर आमादा है बल्कि अनेक ऐसे प्रयास भी यहाँ की प्रकृति और आदिमोत्तर दिनचर्या और जैविक अनुशासन को भी अस्त-व्यस्त बना रहे हैं। 'लोग नहीं जानते थे उनके पहाड़ खतरे में हैं' कहानी को कथाकार ने पर्यावरण की चिन्ताओं के दृष्टिगत लम्बे कथा-प्रसंगों की शक्ल में देव राज्य के इर्द-गिर्द बुना है। प्रस्तुत कहानी में लक्षित पर्वतीय घाटी की देवव्यवस्था को आज के समय में भी उपयोगी और उससे जुड़ी आस्था को लोगों के दिलों पर राज करने वाला बताया गया है, यदि उसका प्रयोग पूजा-पाठ और अंधविश्वास को छोड़कर सकारात्मक भूमिका के साथ, अपने धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों को बचाते हुए आमजन के पक्ष में किया जाए। घाटी में जब सरकार और कम्पनी की ओर से सीमेंट फैक्ट्री लगाने का एलान होता है तो लोग इन्हीं देव-आस्थाओं के बल पर उसे रोक देने में कामयाब हो जाते हैं। यहाँ यह प्रश्न लाजमी तौर पर सामने आता है कि वर्तमान दौर में आंदोलनों का चलन बहुत कम हुआ है और बावजूद इसके यदि हम अपने परंपरागत औजारों के साथ आंदोलन करते हैं तो उसमें निश्चित तौर पर कामयाबी हासिल हो सकती है। सीमेंट फैक्ट्री के विरुद्ध भी एक पढ़ा-लिखा युवक जब देव-आस्था को ढाल बनाता है तो वह उसमें कामयाब भी हो जाता है। इस कहानी में लेखक ने शासकों, राजनीतिज्ञों और खनिज उद्योग माफिया का सुव्यवस्थित और सामयिक ढंग से अनावरण किया है। एक बसी-बसायी पारम्परिक समाज की दुनिया को जो धीरे-धीरे नये मूल्यों की स्वस्थ बातों को अपना रही हो, किस तरह पूँजी चलन के भ्रष्ट तत्व बिगाड़ने पर आमादा हैं, यह कहानी इसको क्रियात्मकता के साथ स्थापित करती है।

एक अदृश्य शक्ति द्वारा निर्मित इस सृष्टि पर सभी का समान अधिकार है, चाहे वे मनुष्य हो, प्रकृति और पशु-पक्षी हो। ''मनुष्य स्वयं को सर्वश्रेष्ठ मानने के अहं में पूरी धरती पर अपना एकाधिकार जमाना चाह रहा है। इसी संकीर्णतावादी सोच के कारण वह प्रकृति और वन प्राणियों का शोषण करने से भी नहीं हिचकता। मनुष्य की इसी सोच ने पारिस्थितिक असंतुलन को जन्म दिया।''[12] पारिस्थितिक चिंतन के प्रति प्रतिबद्ध एस आर हरनोट ऐसे ही रचनाकार हैं जिन्होंने अपनी लेखकीय प्रतिबद्धता द्वारा पर्यावरण और क्षरित होती मानवीय संवेदनाओं जैसी समस्याओं को कहानियों में दिखाने का प्रयास किया है।

पर्यावरण और पारिस्थिकी के महत्वपूर्ण मुद्दे को कहानीकार ने 'आभी' चिड़िया की कहानी लिखकर सिद्ध किया है। हाई आल्टीट्यूड पहाड़ी क्षेत्र में रहने वाला यह एक अजूबा परिन्दा है जो हिमाचल की एक झील के किनारे पाया जाता है। इस प्रजाति के परिन्दे एक लम्बे समय से पर्यावरण के सजग प्रहरी बनकर झील स्वच्छ रखने का स्वैच्छिक कर्तव्य निभा रहे हैं। आभी उस स्वच्छ नैसर्गिक झील की स्वच्छता के लिए सदियों से प्रयत्नशील है। ''आभी नहीं चाहती उसकी झील को कोई गंदा करे। उसमें कोई ऐसी-वैसी चीज न फेंके जो पानी को गंदला या खराब कर दे।..... झील के पानी को पानी की तरह साफ रहने देना चाहती है। जैसे ही उसमें कोई तिनका जाए, वह झट से अपनी चोंच से उठाकर किनारे फेंक देती है।''[13]

यह स्वाभाविक चेतना मनुष्यों में होनी चाहिए, जिस चेतना को लेखक ने आभी नामक चिड़िया में दिखाकर मनुष्य की मंद होती चेतना पर प्रहार किया है। हरनोट जी ने मनुष्य द्वारा प्रकृति के शोषणकारी रूप का भी चित्रण किया है। झील के किनारे घूमने आये लोग दिनभर में कितने कचरे यहाँ पर छोड़ जाते हैं। मनुष्य के इन कुकृत्यों से आभी नामक चिड़िया के मन में उपजे दर्द को बड़ी ही संजीदगी से दिखाया गया है—''वह जोर-जोर से चहचहाती है, तड़पती है। कई आभियां उसकी चहचहाटें सुनकर वहाँ पहुँच जाती हैं..। एक-दूसरे से पंख सटाए वे उस कचरे को उठाना चाहती हैं, पर लाख कोशिशों के बावजूद भी नहीं उठा पाती। वे मंदिर के गुम्बदों पर कतारों में बैठकर चहचहाने लगती हैं। यह चहचहाना आम नहीं है। इस झील की निर्मलता को प्रदूषित करने का दर्द है।''[14] वातावरण की स्वच्छता को बनाए रखने के लिए की गयी परिन्दे की दुर्लभ कवायद को कहानीकार ने अपनी कथा में खूबसूरत ढंग से बुना है। सूर्य, धूप, पानी, जंगल और बर्फ से ढके पर्वत शिखर के अनेक पारदर्शी बिम्बों के जरिए कहानी में कुछ खूबसूरत छायांकन भी खींचे हैं। जंगलों में समय-समय पर फूट पड़ने वाली दावाग्नि और पर्यटकों द्वारा हो रही बरबादी को भी लेखक ने तीखे व्यंग्य के साथ दर्ज किया है। बीड़ी, सिगरेट से जंगल जलते हैं और असभ्य सैलानियों द्वारा गैर-विसर्जनशील कचरा गिराने से जल और मिट्टी मलिन हो जाती है, ऐसा करने वालों को इसका ज्ञान नहीं।

वन मंत्री से लेकर वन आरक्षित क्षेत्र के रेंज अफसर तक को इन वनों के बचने की कोई चिंता नहीं है। अब इस पर्यावरण की रक्षा कौन करेगा। कथाकार आभी के माध्यम से अपने मन की व्यथा को व्यक्त करता है—''आभी अर्जी लिखना नहीं जानती। शिकायत करना नहीं जानती। उसे नहीं पता इस जंगल का गार्ड चौकीदार कौन है। उसे नहीं मालूम इस आरक्षित वन क्षेत्र का रेंज अफसर कौन है। उसे पंचायत के प्रधान का भी नहीं पता।

वह किसी दरोगा या थानेदार को भी नहीं जानती। उसे नहीं पता कि प्रदेश का वन मंत्री कौन है।''[15] आभी एक अतिलघु जीव के श्रेष्ठ किरदार पर लिखा गया महाकाव्य बन पड़ा है। यहाँ हरनोट के गल्प में अद्भुत बिम्ब और घनवादी शब्दकाव्य के दर्शन हुए हैं जो कहानी के गद्य को सौन्दर्यबोध से सम्पृक्त और अनिंद्य बनाते हैं। नागिन देवी माता की मूक इमेज कहानी में फैण्टेसी को मिथक में सहज ही रूपान्तरित कर देता है। इस कहानी ने हिन्दी कथा साहित्य के इतिहास में एक नया आयाम जोड़ा है। इसको लेकर साहित्य जगत में खूब चर्चा भी हुई है।

आज के मनुष्य का जुड़ाव अपनी धरती से नहीं रहा। कच्चे मकानों को बनाने की परंपरा लुप्तप्राय हो रही है। हम मिट्टी से दूर होते जा रहे हैं। मिट्टी से दूर होकर जाने-अनजाने में हम अपने परिवेश और पर्यावारण से भी दूर होते जा रहे हैं। जब हिमाचल अस्तित्व में आया तो इसके निर्माताओं ने यह चाहा था कि पारम्परिक गृह निर्माण कला को सुरक्षित रखा जाना चाहिए क्योंकि वह यहाँ की भू-जलवायुगत परिस्थितियों के समानुकूल है। मिट्टी के घर गर्मियों में शीतलता और सर्दियों में उष्णता प्रदान करते हैं। अंग्रेजों ने भी यहाँ की स्थापत्य शैलियों को विक्टोरियन नमूने/पैमाने पर अपनाया था। अंग्रेज मेमों की कुटीरें और आवास भी स्थानीय सामग्री पर आधारित थे जिन्हें स्थानीय शिल्पकारों ने ही उनकी देखरेख में रूप दिया था। मगर अठारहवाँ राज्य बनने के बाद हम धड़ाधड़ यहाँ सीमेण्ट व कंकरीट के जंगल बनते देखते रहे हैं। 'मिट्टी के लोग' एस आर हरनोट की एक प्रमुख कहानी है जो पहाड़ के आदमी के अपनी भूमि से सघनतम जुड़ाव को प्रतिपादित करती है। और उन्हें अपनी प्रकृति की ओर लौटने का संदेश देती है। पहाड़ में प्रकृति और उसकी जरूरतें उसके अपने आसपास से अन्तरंग जुड़ी हैं। सामान्य पर्वतीय मनुष्य के जीवन का कोई भी पक्ष अपनी जमीन, अपनी जलवायु और अपनी स्थलीयता से दूर नहीं। वह प्रकृति और अनिन्द्य सौन्दर्य से सम्पन्न पहाड़ों के वातावरण में ही पला-बढ़ा है अतः उसका अनुकूलन भी अपनी विशिष्ट भौगौलिक परिस्थितियों में विशुद्ध नैसर्गिक रूप में हुआ है।

मिट्टी के लोग कहानी में कहानीकार ने एक मेहनतकश परिवार के रहन-सहन, उसकी समग्र दिनचर्या और पहचान के मूल को सुरक्षित रखने के लिए आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर उसे संघर्ष करते हुए दिखाया है। कहानी का मुख्य पात्र 'बालदू' एक ठेठ देहाती किसान है। वह गृह-निर्माण कला का एक ग्रामीण शिल्पकार है। ''गाँव परगने में शायद ही कोई ऐसा घर था जिसमें उन्होंने मिट्टी न कूटी हो। क्या 'मट्टकंधे' बनाते। क्या कुटाई करते.....भीत पर भीत ऐसे चिनते मानो हाथ नहीं कोई घर बनाने की मशीन हो।''[16] किंतु सीमेंट कंक्रीट की इस नई संस्कृति के जन्म लेने से बालदू को न केवल आजीविका छिन जाने का दुःख था अपितु अपने और प्रकृति से विलुप्त होती इस कला के बिछोह का भी छोभ था। ''जब कोई मिट्टी का घर गिरता तो बालदू को लगता जैसे उसी के अंग काट-

काटकर गिराए जा रहे हैं। उसके शरीर से उसकी आत्मा निकाली जा रही है।''[17] लेकिन कहानी का अन्त भी एस. आर. हरनोट ने एक आशाप्रद बिन्दु पर बालदू मिस्त्री की आपबीती को पहुँचाकर किया है। बाहर से आयातित आधुनिक निर्माण सामग्री और सीमेण्ट-कंकरीट के मकानों के आगे वह पारम्परिक मटकन्धा शैली के मकानों को तरजीह देता है और इस कला को देखने के लिए शहर से पत्रकार भी आते हैं और अखबारों के माध्यम से उसकी ख्याति अपने परिक्षेत्र में दूर-दूर फैल जाती है।

पर्यावरण और पारिस्थितिकी जैसे ज्वलंत मुद्दों और प्रश्नों को लेकर ये कहानियाँ समग्रतः तत्सम्बन्धी सरोकारों से परिपूर्ण हैं। यद्यपि भूमि, आकाश और वायुमण्डल से सम्बन्धित इन प्रसंगों में उक्त विषय अपनी परिपूर्णता के साथ व्याख्यायित हुआ है फिर भी हरनोट के शेष कथा साहित्य में भी हम ऐसे सरोकार, स्पर्श और अन्तर्दृष्टि की झलक देख सकते हैं। ''उनका गल्प निश्चित रूप से ग्रामाधारित, बहुमुखी और सर्जनात्मक है जिसमें से गुजरते हुए यह लगता है कि रचनात्मक साहित्य महज कुछेक चुनिन्दा वर्ग के लोगों के लिए 'स्वान्तः सुखाय' ही नहीं है—उसकी अर्थवत्ता और गुणार्थकता एक व्यापक सार्वजनीन अहमियत रखती है। ये कहानियाँ समय और इतिहास का एक ऐसा संचय (बैकलॉग) भी है जिस पर सामान्यतः अब तक कोई ध्यान नहीं दिया गया। आशा है सुधी जन पर्वतीय सीधे सपाट ग्रामांचलों के साथ-साथ अन्तरिम पर्वतीय क्षेत्रों की पर्यावरण सम्बन्धी मानव रचित दुश्वारियों की ओर भी ध्यान देंगे जो अब तक अनचीन्ही और अनजानी रही हैं।''[18]

पर्यावरण चेतना व पर्यावरण संरक्षण आज की पहली आवश्यकता है। और इस दिशा में साहित्य की भूमिका स्वतः बढ़ जाती है क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण होता है। एस आर हरनोट के कथा साहित्य में पर्यावरण की चिंता को प्रमुख स्थान मिला है। हरनोट की कहानियों में बिगड़ते हुए पर्वतीय पर्यावरण के ज्वलंत मुद्दे हैं और उनको हल करने के लिए विचारोत्तेजक, अर्थगर्भित और सुझावी संकेत भी। आज के औद्योगिक विकास की दौड़ में पर्यावरण संरक्षण की अनिवार्यता को अनदेखा नहीं किया जा सकता। मानवीय गतिविधियों पर रोक लगाने से ही पर्यावरण में सुधार संभव है। आज पर्यावरण संरक्षण को हमें अपनी जीवन शैली में शामिल करना होगा और एक बात सबको ध्यान में रखना होगा कि जब तक धरती पर पर्वत व हरे-भरे वन रहेंगे, तब तक हम और हमारी भावी पीढ़ियाँ जीवित और खुशहाल रहेंगी।

संदर्भ :

1. चिंतामणि भाग-1, आचार्य रामचंद्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, पृ. 22
2. धरती की पुकार, सुन्दरलाल बहुगुणा, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ. 34
3. नदी गायब है (पर्यावरण चेतना की कहानियाँ), डॉ उषारानी राव, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ. 5
4. हरनोट की कहानियों पर विशेष टिप्पणियाँ, नामवर सिंह, सेतु, शिमला, जुलाई-दिसंबर 2021, पृ. 99
5. नदी गायब है (पर्यावरण चेतना की कहानियाँ), श्रीनिवास श्रीकांत (समकालीन गल्प में पर्यावरण की चिंताएँ), अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ. 10
6. दारोश तथा अन्य कहानियाँ, एस आर हरनोट, आधार प्रकाशन, पंचकुला (हरियाणा), 2001, पृ. 41
7. नदी गायब है (पर्यावरण चेतना की कहानियाँ), श्रीनिवास श्रीकांत (समकालीन गल्प में पर्यावरण की चिंताएँ), अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ. 14
8. दस प्रतिनिधि कहानियाँ, एस आर हरनोट, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ. 30
9. एस आर हरनोट का रचना संसार, श्रीनिवास श्रीकांत, शब्दसत्ता, लखनऊ, जुलाई-सितंबर 2017, पृ. 14
10. वही पृ. 14
11. नदी गायब है (पर्यावरण चेतना की कहानियाँ), श्रीनिवास श्रीकांत (समकालीन गल्प में पर्यावरण की चिंताएँ), अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ. 107
12. भूमंडलीकृत सभ्यता में निर्मम होता मनुष्य, श्वेता रस्तोगी, हिमप्रस्थ, शिमला, मार्च 2015, पृ. 23
13. लिटन ब्लॉक गिर रहा है, एस आर हरनोट, आधार प्रकाशन, पंचकुला (हरियाणा), 2016, पृ. 11
14. वही पृ. 12
15. वही पृ. 14
16. दस प्रतिनिधि कहानियाँ, एस आर हरनोट, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, 2017, पृ. 33
17. वही पृ. 33
18. नदी गायब है (पर्यावरण चेतना की कहानियाँ), श्रीनिवास श्रीकांत (समकालीन गल्प में पर्यावरण की चिंताएँ), अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ. 27

■

पर्यावरण व गहन पारिस्थितिकी : गाँधी एवं अंबेडकर की नजर से

गोपाल
शोधार्थी, डॉ बी आर अंबेडकर मुक्त विश्वविद्यालय, हैदराबाद

पारिस्थितिकी जहाँ संसार के समस्त जीव व वनस्पतियों के स्वाभाविक विकास-क्रम पर मनुष्य के हस्तक्षेप का सामाजिक, आर्थिक व जैविक अध्ययन है, वहीं गहन पारिस्थितिकी प्रकृति के साथ मनुष्य के प्रतीकात्मक, मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक व्यवहारों व उनका समस्त जीवों के भौतिक परिवेश पर प्रभाव का अध्ययन है। 1960 के दशक के उत्तरार्द्ध में जीव-विज्ञान की एक शाखा के रूप में गहन पारिस्थितिकी का उद्भव हुआ, जो प्रकृति एवं पर्यावरण पर मनुष्य के हस्तक्षेप का विश्लेषण कर उसे मृदा, जल एवं वायु प्रदूषण का उत्तरादायी ठहराता है। गहन पारिस्थितिकी जीवन के सकारात्मक पहलुओं के माध्यम से इस प्रदूषण की रोकथाम के उपाय सुझाता है।

वर्ष 1973 में नार्वे के दार्शनिक आर्नेनेस ने अपने आलेख 'The shallow and the deep, long-range ecology movement' में सतही पारिस्थितिकी एवं गहन पारिस्थितिकी शब्दों का प्रयोग किया। सतही पारिस्थितिकी जहाँ प्रदूषण की रोकथाम एवं घटते प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण की वकालत करता है, वहीं गहन पारिस्थितिकी प्रदूषण के कारक तत्वों को पहचान कर उनके समाधान के उपाय सुझाता है'।[1] आर्नेनेस के अनुसार गहन पारिस्थितिकी मानव-केंद्रित सिद्धांत नहीं है, बल्कि जैव-केंद्रित, जीवन-केंद्रित एवं समानता-केंद्रित सिद्धांत है। यह सिद्धांत जीवमंडल के समस्त प्राणियों को जीने का समान अधिकार प्रदान करता है। इसके अलावा यह सिद्धांत समस्त संसाधनों के संरक्षण की वकालत करता है, क्योंकि संसाधनों के अभाव में जीवन का संचालन संभव नहीं है। साथ ही यह सिद्धांत मनुष्य द्वारा संसाधनों के अंधाधुंध दोहन का खंडन करता है। गहन पारिस्थितिकी सिद्धांत के अनुसार प्रदूषण की रोकथाम एवं पारिस्थितिकी संतुलन का संरक्षण मात्र तकनीकी उपायों से संभव नहीं है। इसके लिए आर्ने नेस ने आठ सिद्धांतों का उल्लेख किया, जो निम्नवत हैं:—

संसार में भौतिक एवं अजैविक घटकों का अपना विशेष महत्व है। अजैविक घटकों का अस्तित्व एवं विकास प्राकृतिक है, जिनका मनुष्य की तुच्छ अपेक्षाओं की पूर्ति हेतु उपयोग तर्कसंगत नहीं है। संसार में प्रत्येक जीव अपने आप में स्वतंत्र है और उन्हें जीने एवं पनपने का पूर्ण अधिकार है। किसी अन्य जीव, खासकर मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के क्रम में उस जीव की उपयोगिता का आकलन न्यायसंगत एवं तर्कसंगत नहीं है।

जैव-विविधता अपने आप में समृद्ध है, जिसका संसार के सभी भौतिक एवं अजैविक घटकों के विकास में विशेष योगदान है। संसार के सभी जीव अपने भरण-पोषण हेतु प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से एक-दूसरे पर आश्रित हैं और सभी जीवों का अपना-अपना विशेष महत्व है, जो पदानुक्रम आधारित नहीं है। अतः किसी अन्य जीव अथवा मनुष्य के लिए उपयोगिता के आधार पर उस जीव के महत्व का आकलन न्यायसंगत व तर्कसंगत नहीं है।

जैव-विविधता की इस समृद्धि पर मनुष्य का कोई अधिकार नहीं है, जिसका वह अपनी अनंत अपेक्षाओं की पूर्ति हेतु दोहन व शोषण करे। मनुष्य को अपनी मौलिक आवश्यकताओं एवं अपेक्षाओं के बीच के अंतर को समझना जरूरी है। मौलिक आवश्यकताएँ और अपेक्षाएँ समान हों, यह जरूरी नहीं है। जीवों को मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति का समान अधिकार है। लेकिन सभी अपेक्षाओं की पूर्ति का अधिकार प्राप्त हो, यह जरूरी नहीं है।

वर्तमान में संसार के अजैविक घटकों एवं जैव-विविधता की इस समृद्धि पर मनुष्य का हस्तक्षेप बढ़ा है, जिससे पारिस्थितिकी संतुलन बिगड़ रहा है। बढ़ती आबादी के अनुरूप मनुष्य की आवश्यकताएँ भी बढ़ीं और इन आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अजैविक घटकों व जैव-विविधता पर उसका हस्तक्षेप भी बढ़ा। यह हस्तक्षेप रातों-रात कम हो, विशेषकर संपन्न देशों द्वारा बिल्कुल कम हो, यह संभव नहीं। इसके लिए मनुष्य को अजैविक घटकों एवं जैव-विविधता की समृद्धि के महत्व व उसके संरक्षण की आवश्यकता को समझना होगा। जब तक वह इसकी गंभीरता को समझे और उसके संरक्षण के कारगर उपाय करे, जीवों की कई प्रजातियाँ नष्ट हो जायेंगी।

मनुष्य एवं विभिन्न सभ्यताओं व संस्कृतियों के विकास हेतु बढ़ती जनसंख्या पर नियंत्रण आवश्यक है। अजैविक घटकों के विकास हेतु यह नितांत अपेक्षित है। क्योंकि बढ़ती जनसंख्या के अनुरूप पारिस्थितिकी एवं जैव-विविधता पर उसका हस्तक्षेप भी बढ़ेगा और हस्तक्षेप की सीमा के निर्धारण के अभाव में वह विध्वंस का रूप भी धारण करेगा। अतः जनसंख्या बढ़ोत्तरी पर नियंत्रण आवश्यक है और पारिस्थितिकी व जैव-विविधता पर मनुष्य के हस्तक्षेप की सीमा का निर्धारण करते हुए वन-विकास को बढ़ावा देना होगा। साथ ही

वन-संरक्षण को सुनिश्चित करना होगा, ताकि जीव एवं उनकी प्रजातियों का विकास संभव हो।

बेहतर जीवन शैली हेतु जीवन-प्रणालियों में परिवर्तन लाने की आवश्यकता है, जो मूलतः जीवन के आर्थिक, तकनीकी एवं सैद्धांतिक पक्षों को प्रभावित करे। संसार के सभी देश स्थाई विकास की होड़ में लगे हैं। स्थाई विकास का वास्तविक उद्देश्य तभी पूर्ण होगा, जब वह 'जन-कल्याण' व 'जन-हित' से संबद्ध हो और 'जन-कल्याण' व 'जन-हित' पारिस्थितिकी संतुलन एवं जैव-विविधता संरक्षण पर ही निर्भर है।

वर्तमान में संसार के लगभग सभी देशों की औद्योगिक एवं आर्थिक प्रणालियाँ पारिस्थितिकी संतुलन एवं जैव-विविधता संरक्षण के अनुकूल नहीं हैं। संसाधनों के औचित्यपूर्ण उपयोग की जगह उनका अपव्यय हो रहा है। इस अपव्यय को रोकते हुए उनके औचित्यपूर्ण उपयोग एवं दोहन के बीच के अंतर को समझना होगा। सभी को विश्व-हित का प्रण लेना होगा और तदनुरूप वैयक्तिक स्तर पर कार्य करना होगा।

सैद्धांतिक परिवर्तन से तात्पर्य है, गुणवत्तापूर्ण जीवन शैली एवं उच्च स्तर की जीवन-शैली के सूक्ष्म अंतर को समझते हुए गुणवत्तापूर्ण जीवन शैली को अपनाना। गुणवत्तापूर्ण जीवन शैली से यह अर्थ कतई नहीं है कि वह मात्रात्मक हो और मात्रात्मक गुणवत्तापूर्ण जीवन शैली प्रत्येक की समान हो, यह संभव नहीं। अतः मात्रात्मक शैली का निर्धारण संभव ही नहीं है।

पारिस्थितिकी संतुलन के संरक्षण के इच्छुक लोगों का दायित्व बनता है कि वे प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से उपरोक्त मदों का अनुपालन करें। जीवन में प्रत्येक की अपनी-अपनी प्राथमिकताएँ होती हैं। प्राथमिकताओं के आधार पर उनकी जीवन-शैली निर्भर होती है। लेकिन सभी को जीवन की मौलिक एवं प्राकृतिक आवश्यकताओं को पहचानना होगा। मौलिक आवश्यकताओं एवं महत्वाकांक्षाओं के बीच के अंतर को समझना होगा। मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति का सभी को समान अधिकार है। लेकिन महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति का अधिकार किसी को नहीं है। गहन पारिस्थितिकी आंदोलन जीवन की मौलिक आवश्यकताओं एवं महत्वाकांक्षाओं के अंतर को परिभाषित करती है।

जॉन रोडमैन के शब्दों में गहन पारिस्थितिकी आंदोलन ही 'पारिस्थितिकी प्रतिरोध' है। जोसफ मीकर ने इसी को 'एक नया प्राकृतिक दर्शन' कहा, तो सिगमंड क्वलोय ने 'पारिस्थितिक दर्शन' कहा, जिसके तहत सामान्य पारिस्थितिकी की दृष्टि से औद्योगिक विकास का आलोचनात्मक विश्लेषण, मानव पारिस्थितिकी का विश्लेषण, हरित दर्शन एवं राजनीति, पृथ्वी संरक्षण नीति की आवश्यकता का विश्लेषण आदि शामिल हैं।

गहन पारिस्थितिकी संसार के सभी जीव, वनस्पति, पेड़-पौधों, नदी, पहाड़ आदि पर मनुष्य के हस्तक्षेप के नियंत्रण की वकालत करता है। वह संसार के समस्त भौतिक एवं अजैविक घटकों के संरक्षण की वकालत करता है। इसके लिए मनुष्य द्वारा सभी घटकों को अपने समान महत्व प्रदान किये जाने की वकालत करता है। इस प्रकार वह 'जियो और जीने दो' की संकल्पना को बढ़ावा देता है। वह मनुष्य के क्रियाकलापों को उसी सीमा तक प्रोत्साहित करता है, जिससे अन्य किसी जीव अथवा घटक के अस्तित्व पर प्रभाव न पड़े।

जब हम भारत की बात करते हैं तो सैद्धांतिक रूप से प्राचीन ग्रंथों में कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जहाँ प्रकृतिस्थ जीवन शैली को अपनाने की बात कही गई है। लेकिन इसके विपरीत अनेक उदाहरण भी ऐसे मिलते हैं, जहाँ पौराणिक नायकों के द्वारा बड़े-बड़े जंगलों, असंख्य जीवों की हत्या एवं प्राकृतिक संसाधनों का अनुचित दोहन अथवा विनाश किया गया है और उसे उत्कर्ष के रूप में दर्शाया गया है। एक और उल्लेखनीय बात यह रही है कि यदि आदिवासी संस्कृतियों को छोड़ दिया जाए तो हिंदू संस्कृति के बहुत से रीति-रिवाज ऐसे हैं, जो नदियों, वृक्षों एवं जल संसाधनों के साथ-साथ वन्य जीवों को भारी नुकसान पहुँचाते हैं। बहुत सी ऐसी कथाएँ मिलती हैं, जो पारिस्थितिकी एवं पर्यावरण को भारी क्षति पहुँचाती हैं।

कालांतर में जब दुनिया के अन्य देशों में वैज्ञानिक अनुसंधानों एवं अनेक पर्यावरणीय जन-जागरणों का उभार हुआ तो भारत में भी उनका प्रभाव दिखने लगा। फलस्वरूप आजादी के बाद जब भारत एक संप्रभुता संपन्न राष्ट्र के रूप में स्थापित हुआ, तब भारत के दो नेताओं अर्थात राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी और बाबा साहेब डॉ भीमराव अंबेडकर के विचारों का आम जनमानस पर खासा प्रभाव देखा गया। आजादी के कुछेक वर्षों पहले ही महात्मा गाँधी के विचारों को बड़े ही संजीदगी से लिया जाने लगा और हर मुद्दे पर उनकी राय जानने के लिए देश और दुनिया लालायित रहती थी। गाँधीजी ने भी अपनी राय व मंशा कहीं व्यक्त किया तो कहीं जीवन में उसका अभ्यास करते हुए परिभाषित किया।

गांधी और पर्यावरण एवं गहन पारिस्थितिकी

गांधी जी की जीवन-शैली पर्यावरण संरक्षण एवं पारिस्थितिकी संतुलन का एक आदर्श नमूना है। वास्तव में वे कोई पर्यावरणविद अथवा पारिस्थितिकीविद नहीं थे। न उन्होंने अपने जीवन में कभी पारिस्थितिकी असंतुलन, ओजोन परत के ह्रास के कारण बताये और न ही उसके निवारण के उपाय सुझाये। लेकिन उन्होंने जीवन पर्यंत ऐसे नियमों व सिद्धांतों का पालन किया, जो प्रकृति एवं पारिस्थितिकी संतुलन के अनुरूप थे।

गांधी जी का मानना था कि'मनुष्य जब संसार की रचना नहीं कर सकता तो उसे बिगाड़ने का भी उसको कोई अधिकार नहीं है। उन्होंने जीवन में भौतिक सुख-सुविधाओं हेतु

विभिन्न यंत्रों एवं मशीनों का उपयोग कम करने की सलाह दी, जो पारिस्थितिकी संतुलन के लिए अत्यंत आवश्यक है। उन्होंने खादी एवं ग्रामीण उद्योगों को बढ़ावा दिया। उन्होंने जीवन में स्वच्छता के अनुपालन को महत्त्व दिया, जिससे स्वस्थ भारत की परिकल्पना साकार हो सकती है। गांधी जी का मानना था कि प्रकृति से जुड़े रहने में ही मनुष्य का हित निहित है। उनके अनुसार प्रकृति के साथ सामंजस्य स्थापित करते हुए जीने में ही जीवन की सार्थकता है।

गांधी जी जीवन में सादगी को महत्त्व देते थे। उनके अनुसार आधुनिकता जीवन में कठोरता को जन्म देती है, जिससे तनाव बढ़ता है। इसके विपरीत सादगीपूर्ण जीवन में शांति बनी रहती है, क्योंकि सादगीपूर्ण जीवन सिर्फ मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति की माँग करता है, जिसमें तनाव की कोई स्थिति उत्पन्न नहीं होती। वे ज्यादातर ग्रामीण जीवन-शैली को अपनाने को महत्त्व देते थे। उनकी मान्यता थी कि भारत की आत्मा गाँवों में बसती है और ग्रामीण जीवन से बढ़कर शांति एवं आदर्शपूर्ण जीवन की कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि ग्रामीण जीवन प्रकृति से जुड़ा होता है, जिसमें नैतिकता का भी महत्त्वपूर्ण स्थान होता है।

आज विकास के नाम पर हमारी बदलती जीवन-शैली ही पारिस्थितिकी असंतुलन का प्रमुख कारण है। हमने अपनी अपेक्षाओं की पूर्ति हेतु प्राकृतिक संसाधनों का अधिकतम दोहन एवं शोषण किया है। हमने विकास के नाम पर जो कुछ हासिल किया है, वह पारिस्थितिकी संरक्षण की दृष्टि से बिल्कुल व्यवहार्य नहीं है। जेम्स मिशेल के शब्दों में इस धरती पर यदि ऐसा कोई खतरनाक प्राणी है, जिसने पारिस्थितिकी असंतुलन में अत्यधिक योगदान दिया है तो वह मनुष्य ही है। गांधी जी कहते थे कि ''धरती पर संसाधन भरपूर मात्रा में विद्यमान हैं, जिनसे हमारे जीवन की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है, न कि हमारे स्वार्थ की।''[2]

गांधी जी ने पाश्चात्य सभ्यता आधारित औद्योगिकीकरण, वैज्ञानिक-तकनीकी संस्कृति का विरोध किया। उनके अनुसार यह संस्कृति कोयला, तेल, धातु जैसे गैर-नवीकरणीय संसाधनों की अत्यधिक एवं अंधाधुंध खपत की माँग करती है। पाश्चात्य देशों के सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक सिद्धांत आधुनिक औद्योगिकीकरण की इसी संस्कृति के अनुरूप गढ़े गये हैं, जिनका संसार के लगभग सभी देश अंधाधुंध अनुपालन कर रहे हैं। इससे उपभोग की संस्कृति पनपती है। निजी स्वामित्व को बढ़ावा मिलता है। गुणवत्ता की जगह मात्रात्मक विकास को प्रश्रय मिलता है। यह विकेंद्रीकरण की जगह केंद्रीकरण की संस्कृति को बढ़ावा देता है। किसी को सक्षम बनाने की जगह उसका वर्चस्व बढ़ाता है, जिससे तानाशाही पनपती है। ये सभी स्थितियाँ पारिस्थितिकी संतुलन के विपरीत एवं उसके लिए हानिकारक हैं। इनसे

जीवन में अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न होती है। अतः उनका मानना था कि यदि संसाधनों के अंधाधुंध अनुपालन की इस संस्कृति का विरोध न किया गया तो इससे आगे मनुष्य के अस्तित्व को भी खतरा हो सकता है।

अंबेडकर और पर्यावरण एवं गहन पारिस्थितिकी

वैसे तो भारतीय जनमानस में कुछ सामाजिक बुराइयों के कारण डॉ अंबेडकर के व्यक्तित्व और कृतित्व को समुचित उभार नहीं मिल पाया है, फिर भी डॉ अंबेडकर ने अपनी पूरी मेधाशक्ति का उपयोग भारत को एक सूत्र में पिरोने एवं उसके सभी नागरिकों को समान अधिकार दिलाने में लगा दिया। अनेक अपमानों एवं कुटिल कुचक्रों के बावजूद वे अपने मार्ग से डगमगाए नहीं। पर्यावरण व गहन पारिस्थितिकी की रक्षा के संदर्भ में उनकी मंशा बहुत ही साफ थी। क्योंकि वे अपने जमाने के सबसे अधिक पढ़े-लिखे व्यक्ति थे और विश्व में घट रही घटनाओं एवं उनके परिणामों से सजग थे। वे अभिप्रेरण और प्रोत्साहन के साथ-साथ कानूनी प्रावधानों और गुणात्मक विकास के हिमायती थे। उनके विचारों का विवेचन निम्नांकित बिंदुओं के अंतर्गत किया गया है;

डॉ अंबेडकर भारत में व्याप्त सामाजिक भेदभाव और अशिक्षा व पिछड़ेपन से क्षुब्ध थे। समाज में महिलाओं, किसानों, अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों, पिछड़ों एवं मजदूरों की हालत से व्यथित थे। वे छुआछूत एवं भेदभाव को जड़ से उखाड़ फेंकना चाहते थे और एक विकसित व भेदभाव रहित समतामूलक समाज की स्थापना करना चाहते थे, ताकि भारतीय समाज वैज्ञानिक चिंतन के साथ आगे बढ़े और अपने आदर्श चारित्रिक मूल्यों के साथ तेजी से विकास करते हुए मानवीय मूल्यों से समृद्ध समाज की स्थापना कर सके। इसलिए उन्होंने भारत के संविधान में विभिन्न प्रकार से न्याय, समानता, बंधुता और स्वतंत्रता का उल्लेख किया।

सामाजिक विकास के लिए डॉ अंबेडकर स्त्री शिक्षा को सबसे अहम मानते थे। उनका कहना था कि 'मैं किसी समाज की तरक्की इस बात से देखता हूँ कि वहाँ महिलाओं ने कितनी तरक्की की है।' ताज्जुब होता है कि महिलाओं के सारे अधिकार पितृ-सत्तात्मक समाज द्वारा छीने जा चुके थे और महिलाएँ भी अपने अधिकारों से अनभिज्ञ थीं तथा अपनी गुलामी के दंश को ईश्वरीय विधान मानकर सह लेती थीं। उस समय डॉ अंबेडकर उनकी लड़ाई लड़ रहे थे। उनका मानना था कि महिलाएँ ही संसार के सृजन की पुरोधा रही हैं एवं इनके साथ न्याय होने से ये आगे चलकर न्यायपूर्ण समाज के निर्माण में भागीदार बनेंगी। उन्होंने महिलाओं के अधिकारों के पक्ष में मंत्रीपद से त्यागपत्र दे दिया।

डॉ अंबेडकर समाज के विकास के लिए आधुनिकता के पक्षधर थे और मशीनों, वैज्ञानिक अनुसंधानों एवं तथ्यपरक विचारों के योगदान को प्राथमिकता देते थे। उनका मानना था कि वैज्ञानिक पद्धतियों को अपनाने से अंध-विश्वास जैसी बातें समाप्त होंगी और तर्कसंगत एवं न्यायपूर्ण समाज की स्थापना हो सकेगी। लेकिन किसी भी तरह के अंधानुकरण के विरोधी थे।

उन्होंने विश्व के सभी प्रमुख संविधानों का अध्ययन किया और उनकी उन बेहतरीन बातों को, जो भारतीय समाज के लिए उपयुक्त व मुफीद हों, उन्हें संविधान सभा में बहस के लिए रखा। साथ ही समूचे भारत की संस्कृतियों, जीवन शैलियों का अध्ययन करते हुए भारत के संविधान की उद्देशिका के अनुरूप लोगों की जीवन-शैली की व्याख्या की और अलग-अलग राज्यों, क्षेत्रों, जनजातियों आदि की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए संविधान में प्रावधान किया।

संविधान की धारा 48 में प्रावधान कराया यथा 'कृषि और पशुपालन का संगठन – राज्य, कृषि और पशुपालन को आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों से संगठित करेगा और विशिष्टया गायों और बछड़ों तथा अन्य दुधारु पशुओं और वाहक पशुओं की नस्लों के परिरक्षण और सुधार के लिए और उनके वध का प्रतिरोध करने के लिए कदम उठाएगा।'[3]

उन्होंने संविधान सभा के माध्यम से भारत के संविधान में धारा 48क के अनुसार 'पर्यावरण का संरक्षण तथा संवर्धन और वन तथा वन्य जीवों की रक्षा का दायित्व राज्य (देश की सरकार) पर डाला।'[4] इसी प्रकार उन्होंने नदियों, जलस्रोतों, उनके तटों एवं तटबंधों की रक्षा के साथ-साथ सभी वन-संसाधनों, खनिजों एवं उनके निक्षेपों की रक्षा और खनन के समय तत्संबंधी पारिस्थितिकी की रक्षा का दायित्व भी सरकारों पर डाला।

उपरोक्त विवेचनों से कहीं-कहीं गांधी और अंबेडकर परस्पर विरोधी भी प्रतीत हो सकते हैं, लेकिन दोनों के विचारों में मानव कल्याण की मंशा और महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं का गहरा प्रभाव था। गहन पारिस्थितिकी पेड़ व वनों के विनाश की रोकथाम के माध्यम से जैव-विविधता संरक्षण, पॉलीथिन, प्लास्टिक के उपयोग व कल-कारखानों से विषैले रसायनों के बहिःस्राव पर प्रतिबंध लगाते हुए मृदा, जल, वायु प्रदूषण की रोकथाम, बढ़ती जनसंख्या पर नियंत्रण लगाने के माध्यम से संसाधनों की खपत में कमी लाने की वकालत करती है। पारिस्थितिकी संरक्षण समय की माँग बन चुका है। यदि इसे सुनिश्चित करना है तो तत्काल उपर्युक्त सभी उपाय किये जाने जरूरी हैं। साथ ही प्रकृति के सभी तत्वों के प्रति हमारा रवैया बदलना होगा। हमें अपने स्वार्थ हेतु इनके उपयोग की मानसिकता को परिवर्तित करना होगा। तभी धरती पर सामंजस्यपूर्ण जीवन की परिकल्पना संभव है।

संदर्भ :

1. Emergence of Eco-Feminism And Reweaving The World, S Pandey, MD Publications Private Limited (2011), Pg.2
2. Gandhi and Deep Ecology, Thomas Weber, Journal of Peace Research (May 1999), Vol.36, Pg. 3
3. भारत का संविधान – अनुच्छेद – 48, पृष्ठ संख्या – 17
4. भारत का संविधान – अनुच्छेद – 48क, पृष्ठ संख्या – 17

■

बोधकथा साहित्य एवं पर्यावरण चिंतन

सुशील कुमार तिवारी
सहा. प्राध्यापक (हिन्दी)
शास. विवेकानंद स्नातकोत्तर
महाविद्यालय मनेन्द्रगढ़, छ.ग.
मो. नं. 8349659988

वस्तुतः प्रकृति और पर्यावरण एक-दूसरे के पूरक हैं। यूँ कहा जाय कि प्रकृति आत्मा है तो पर्यावरण प्रकृति का साकार रूप है। जो सुन्दरता प्रकृति के अन्दर है वह सब पर्यावरण में प्रत्यक्ष झलकता है। प्रकृति आत्मा है तो पर्यावरण चतुर्विध जीवजगत् रूपी अंगप्रत्यंगों से निर्मित साकार रूप है। वैसे समस्त प्राणियों का स्वरूप एक-दूसरे पर निर्भर रहता है। इन समस्त प्राणियों के आस-पास के इसी परिवेश को हम पर्यावरण कहते हैं। आज पर्यावरण संकट हर व्यक्ति के समक्ष चुनौती बनकर खड़ा है। यह एक ऐसा बहुचर्चित एवं बहुश्रुत शब्द है, जिसमें सारे विश्व की चिन्ता समाहित है। विशेष रूप से प्रकृति के असंतुलन से होने वाले बदलावों से मनुष्य कहीं ज्यादा भयभीत है। वस्तुतः पूरे विश्व में विकास का जो मॉडल अपनाया गया है, उसने पर्यावरण को सुरक्षित कम विनष्ट अधिक किया है। परिणामतः हम सब अपने वर्तमान से कम, भविष्य से ज्यादा डरे हुए हैं। सारी तकनीक क्रान्ति और औद्योगिक विकास एक तरफ और प्रदूषित पर्यावरण में मानव मात्र और जीव जन्तुओं की घुटती सांसें दूसरी तरफ। बनिस्बत वनस्पतियों एवं जीव-जन्तुओं की कई प्रजातियां तो विलुप्त होती जा रही हैं। बड़े-बड़े वैज्ञानिक प्रकृति की संरचना, उसमें होने वाले बदलावों, धरती और आकाश से लेकर जल तथा वायु के विविध घटकों में मनुष्य द्वारा जाने-अनजाने में किए जा रहे बदलावों की व्याख्या करने में लगे हैं। पर्यावरण को संतुलित करने के लिए जो भी प्रयास हो रहे हैं, वे सर्वथा अपर्याप्त साबित हो रहे हैं। प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधकि दोहन व उपभोग में संलग्न विकसित तथा विकासशील देश कोई प्रभावकारी विकल्प देने में सक्षम नहीं हो सके हैं।

हमारी भारतीय संस्कृति और भारतीय चिन्तन में प्रकृति को जीवन का अभिन्न अंग माना गया है। वास्तविकता यही है कि हम प्रकृति के हिस्से हैं तथा प्रकृति से हमारा गहरा जुड़ाव है। 'जो चेतावनी हमें आज विश्व के हर कोने से सुनने को मिल रही है, वह हमारे प्राचीन ऋषियों-मुनियों ने पहले ही दे दी थी। उनकी चिन्ताएँ बेशक दूसरी तरह की थीं। लेकिन पृथ्वी को 'धरती मां' मानते हुए उसकी सुरक्षा, उसको संवारने, वर्षा और वन, जीव-जन्तुओं आदि के प्रति वे सदैव प्रस्तुत थे। इसका कारण यह था कि इन सबसे उनका आत्मीय रिश्ता था। यह रिश्ता, यह आत्मीयता और चिन्ता प्राचीन ग्रन्थों में बोध कथा, नैतिक कथा, मन्त्र आदि बनकर संचित है।'[1] अपने आसपास की यानी अपने पर्यावरण को समझने और उसे अच्छा बनाए रखने का उत्तरदायित्व हम सबका है। यह धरा एक है, इसके किसी छोर पर यदि कुछ गलत घटता है, तो उसका प्रभाव इसके दूसरे छोर पर भी परिलक्षित होता है। 'ओजोन परत' पर दुनियाभर के पर्यावरणविदों का एक होना तथा सभी देशों का इस पर अनुसंधान एवं चिंतन इसका एक सबसे ज्वलंत उदाहरण है। स्पष्टतः जब तक हम अपने पर्यावरण और उसकी सुरक्षा के अपने उत्तरदायित्व को नहीं समझेंगे तब तक कुछ नहीं होगा।

हमारे प्राचीन ऋषियों ने, हमारे पूर्वजों ने और यहाँ तक कि साधारण से अनपढ़ कहे जाने वाले किसानों ने अपने पर्यावरण को कितने ध्यान से समझा और तदनुकूल आचरण किया; यह हमारे लिए एक प्रेरणाप्रद अध्याय है। हम जानते हैं कि हमारी अर्थ-व्यवस्था प्रमुखतः कृषि पर आधारित रही है। ''सृष्टि का सबसे विकसित प्रारूप मनुष्य है। प्रकृति तथा पर्यावरण से ही पोषण समस्त जीवों, वनस्पतियों तथा मनुष्य आदि को प्राप्त होता है। प्रकृति का दोहन जीवधारियों के लिए अपरिहार्य है। सभी जीवों तथा वनस्पतियों में मनुष्य में ही बुद्धि तथा विवेक है। उसका दायित्व सबसे अधिक है। प्रकृति के दोहन अथवा उपयोग के बिना जीवन सम्भव नहीं है किन्तु उतना ही दोहन किया जाना चाहिए जितने के बिना जीवित रहना सम्भव नहीं है। उससे अधिक दोहन या शोषण ही पर्यावरण असंतुलन की समस्या उत्पन्न करता है। विकास के नाम पर मनुष्य प्रकृति तथा पर्यावरण का अन्धाधुन्ध दोहन और शोषण करता जा रहा है, जिसके कारण आज विश्व के समक्ष पर्यावरण असंतुलन की गम्भीर समस्या है। आज विकास की नहीं, अपितु संयमित विकास की आवश्यकता है।''[2] आज हमनें अपनी विरासत से प्राप्त नैतिक-शिक्षा के जीवन-दर्शन को भुला दिया है। आधुनिकता की चकाचौंध में हम दिग्भ्रमित हो रहे हैं। अप-संस्कृति, अमर्यादित जीवन-शैली और वैचारिक अश्लीलता जैसी विशैली बयार सब कुछ बहा ले गई है।

पर्यावरण के निरंतर क्षरण के कारण आज मानव का जीवन संकट में पड़ गया है। इस प्रत्यक्ष संकट के प्रति सचेत होने के लिए पर्यावरण चेतना को जगाना अति आवश्यक

है। प्रकृति की क्षमताएँ जहाँ एक ओर सीमित है वहीं दूसरी ओर मानव की भोगमयी आकांक्षाओं की कोई सीमा नहीं है। फलतः एक अनुशासन अत्यावश्यक है। 'पर्यावरण आज के मनुष्य की एक ऐसी चिन्ता है, जो उसने अपने औद्योगिक विकास की अंधी दौड़ में खुद पैदा कर ली है। सन्तुलित सदैव वरेण्य है। प्राकृतिक संसाधनों का बिना सोचे-समझे दोहन करते जाना अन्ततः हमें कहाँ ले जा सकता है? इस बात को सदैव याद रखना होगा। अन्यथा हम स्वयं तो अपने आस-पास अपने लिए, अपने सम्पूर्ण समाज के लिए, पीढ़ी के लिए भी कांटे बो जाएंगे। कभी यह भी सोचकर देखना चाहिए कि हम आगे की पीढ़ियों के लिए कैसी पृथ्वी छोड़ कर जाएंगे? क्या पेड़-पौधे, फूल-फल, नदियां, पानी, स्वच्छ वायु, धूम्र-रहित आकाश, जंगल और उसमें रहने वाले प्राणी, पहाड़ और हमारे प्राचीन कला-संस्कृति के स्मारक, शुचिता के कल्याणकारी विचार... हम उन पीढ़ियों के लिए सौंपेगे? यदि नहीं, तो निश्चय ही हमारी आगे आने वाली पीढ़ियां हमें अपराधी घोषित करेंगी।'[3] आज की पीढ़ी नैतिक पतन की ओर जा रही है। वह गरीबी, बेरोजगारी, अशिष्टता और भौतिक सुख की अंधी गलियों में भटक रही हैं। लोगों का सामाजिक परम्परा और राजसत्ता से विश्वास उठ-सा गया है। इस स्थिति से छुटकारा पाने के लिए नैतिक-शिक्षा और राष्ट्रीय चेतना की मशाल जलाना आवश्यक है।

पर्यावरण न केवल भौतिक रूप में अपितु सामाजिक रूप में भी हमको घेरे हुए है। कहना न होगा कि आज का सामाजिक पर्यावरण भी दूषित हो गया है। ''नई पीढ़ी को अच्छे संस्कार प्रदान करना सदैव ही समाज की प्राथमिकता का विषय रहा है। संसार के सभी देशों में हर काल में इस ओर ध्यान दिया गया है। हमारे देश में पंचतंत्र सबसे पुराना ग्रंथ है, जिसमें कहानियों के माध्यम से नीति की बातें बताई गई हैं। जिन्हें अल्प बुद्धि बालक भी आसानी से ग्रहण कर सकता है। जातक-कथाओं, उपनिषद् की कहानियों एवं पुराण कथाओं के द्वारा बालकों के चरित्र को उन्नत बनाते तथा व्यक्तित्व विकास पर पूरा ध्यान दिया गया है। रामायण तथा महाभारत का इस दिशा में भारी योगदान रहा है। राजनैतिक हितसाधन के दृष्टिकोण से इन्हें सांप्रदायिक कहकर उपेक्षा कर देना देश का दुर्भाग्य ही है। मानवता और समाज के हित में जो कुछ भी जहाँ से भी उपलब्ध होता है, ग्रहण किया जाना चाहिए।''[4] बोधकथाओं में जीवन के ज्ञान और अनुभव का सार निहित होता है। इनका चलन नया नहीं है, ये प्राचीन काल से चली आ रही हैं। हमारे धर्म तथा नीति के ग्रन्थ इन कथाओं से भरे पड़े हैं। यदि उन्हें आचरण में ढाला जाय तो वे जीवन का कायाकल्प कर देती हैं। छोटी-छोटी कहानियों और बोधकथाओं ने पूरी दुनिया के सैकड़ों महापुरुषों के जीवन को प्रेरणा देकर सार्थक बनाया है। बालकों और किशोरों के मन पर कथाएँ जीवन का संस्कार करती

हैं, उन्हें रास्ता दिखाती हैं, अपने परिवेश के प्रति आदर भाव, प्रेम का संचरण करती हैं। बोधकथाओं के माध्यम से छात्रों के बौद्धिक, नैतिक, सामाजिक स्तरोन्नयन के द्वार खोले जा सकते हैं।

वास्तव में विचारों में बहुत शक्ति होती है वे अपने चारों ओर एक विचार-मण्डल बना देते हैं, जो समस्त वातावरण को प्रभावित करता है। हम स्वयं देख सकते हैं, हमारे दूषित विचारों ने पर्यावरण को प्रदूषित कर दिया है। फलस्वरूप, हमें आए दिन प्रकृति-विपर्यय एवं प्रकृति के प्रकोपों को झेलना पड़ता है। इसे हम एक बोधकथा के माध्यम से और अधिक स्पष्टता से समझ सकते हैं। कथा इस प्रकार है- एक बार एक राजा विश्राम करने के लिए पास के एक बगीचे के अन्दर चला गया। उस समय वह अकेला था। सामने काम कर रही लड़की से उसने कहा 'प्यास लगी है'। लड़की ने एक अनार का रस निकालकर राजा को दे दिया। एक अनार के रस से पूरा गिलास भरा देखकर राजा चकित हो गया- इस बगीचे में इतने रसीले अनार पैदा होते हैं। इसके स्वामी पर तो टैक्स लगाया जाना चाहिए। थोड़ी देर बाद राजा ने लड़की से फिर कहा कि वह एक गिलास और रस पिला दे। इस बार अनार का रस केवल आधा गिलास भर सका। लड़की दुःखी होकर अपने पिता के पास दौड़कर गई। जो इस बगीचे का मालिक भी था और माली भी। माली ने कहा—इसे इतना ही रस दे दो, इसके विचार अच्छे नहीं हैं, इसके विचारों ने मेरे अनारों के रस को सुखा दिया है। निश्चित रूप से हमारे विचार न केवल हमें अपितु सम्पूर्ण पर्यावरण को प्रभावित करते हैं। 'बोधकथाएँ मर्म को छू लेती हैं तो ज्ञानचक्षु खुल जाते हैं। ऐसे ही साहित्य की कोख से अपनत्व, आत्मीयता, सौहार्द्रता की सुगंध उत्पन्न होती है। मनुष्य बड़े स्वार्थ और हित के लिए छोटे स्वार्थ का त्याग करता है। त्याग, समर्पण, स्वार्थ, कष्ट, सहिष्णुता का बोध ऐसे ही साहित्य के द्वारा होता है। सभ्यता और संस्कृति के अभाव में साहित्य का महत्व निर्विवाद है। साहित्य संस्कृति के विरुद्ध नहीं होते हैं, वरन् कालांतर में संस्कृति के ही अंग बन जाते हैं। वास्तव में ऐसे साहित्य-संस्कृति की जड़ता को दूर करके उसे गतिशील बनाए रखते हैं। बोधकथाओं में मनुष्य की वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन की समृद्धि हेतु मानवीय भाव उत्पन्न होते हैं।'[5] बोधकथाएँ वे होती हैं जिनके माध्यम से कोई न कोई संदेश या शिक्षा कथा कहने वाला अपने श्रोताओं या पाठकों तक पहुँचाना चाहता है और उन कथाओं के माध्यम से श्रोताओं या पाठकों के जीवन एवं जगत्-बोध को जाग्रत, उन्नत, विकासशील तथा गतिशील बनाता है।

यह जानना प्रासंगिक हो गया है कि जीवन का पोषण कौन कर रहा है और कौन उसे बिगाड़ने में लगा है। इस बिगाड़ को कैसे रोका जाय और जो बिगड़ चुका है उसमें सुधार

की क्या गुंजाइश है? जो अनपढ़ हैं उनकी बात दूर रही, चिन्ता की बात तो पढ़े-लिखे लोग हैं जिनमें पर्यावरण साक्षरता का पूर्णतः लोप है। हमें इस यथार्थ बोध को स्वीकारना होगा कि ''जगत् तथा उसके सभी अवयव प्रकृति से उद्भूत हैं। पर्यावरण से सम्बन्धित सभी उपादान इसमें समाहित हैं। विभिन्न तत्वों के मध्य विवेक ज्ञान से ही यथार्थ ज्ञान एवं तत्पश्चात् कष्टों से निवृत्ति अथवा कैवल्य सम्भव है। भोग तथा वैराग्य का अत्यन्त समन्वित रूप सांख्य दर्शन में विद्यमान है। प्रकृति पुरुष के भोग के लिए सृष्टि या विकास करती है तथा यही प्रकृति बाद में विवेक, ज्ञान होने पर वैराग्य उत्पन्न करती है। पुरुष पर्यावरण हन्ता तभी तक है जब तक उसे अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। पुरुष का अस्तित्व प्रकृति से ही सार्थक है, प्रकृति पूज्य है। सांख्य दर्शन में प्रकृति ही प्रेय है। पर्यावरण क्षरण का मुख्य कारक आसक्ति तथा भोग की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति का नाश ही वैराग्य है। योगाभ्यास से वैराग्य स्वतः उत्पन्न होता है। आसक्तिहीनता, वस्तुतः पर्यावरण-पोषण की आधारशिला है।''[6] मानव जीवन में नीति तथा आचार का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। वेद, पुराण, महाभारत आदि शास्त्रों के साथ-साथ हमारे नीतिग्रंथों में भी तत्वज्ञान के साथ लोकज्ञान की भी बहुत-सी बातें हैं। बहुधा इन कथाओं के पात्र किसी न किसी रूप में पशु-पक्षी ही हैं, जो मनुष्यों की तरह सोचते हैं, चिन्तन करते हैं और मानव वाणी में मनुष्यों से वार्तालाप भी करते हैं तथा धार्मिक आचरण भी करते हैं साथ ही उन्हें नीति-संबंधी उपदेश या शिक्षा भी देते हैं। इन कथाओं के माध्यम से प्रकृति के साथ मानव की सहजीवता और अधिक स्पष्टता से रेखांकित होती है।

प्राचीन काल से हमारे देश में नैतिक-शिक्षा पर गंभीरता से चिन्तन किया गया है। संस्कृत साहित्य में नीति-शास्त्र नैतिक-शिक्षा पर ही सर्वाधिक बल देता है। नैतिक-शिक्षा ही समाज को सुदृढ़ आधार दे सकती है। इसके माध्यम से ही अच्छे संस्कार और आचरण की शिक्षा दी जा सकती है तथा सृष्टि के जड़ एवं चेतन सभी के प्रति आदर-भाव, सम्मान की भावना जाग्रत की जा सकती है। ''विश्व साहित्य में भारतीय नीति कथाओं और साहस-कथाओं का सदा से ही प्रचलन रहा है। इन कथाओं का आरम्भ हमारे देश में उस समय से हुआ, जब यूरोप में अंधकार युग था। अर्थात् वहाँ सभ्यता और संस्कृति का पूर्ण विकास नहीं हुआ था। तब भारत में नीति-कथाएँ सैकड़ों की संख्या में लिखी गयीं। वे कथाएँ ही विभिन्न माध्यमों से संसार भर में फैलीं।''[7] नीति ग्रंथों में नैतिक मूल्य एवं कौशल व्यवहार की शिक्षा दी गई है। इन शाश्वत मूल्यों की जानकारी आज की नई पीढ़ी के लिए उपयोगी है। 'नीतिशास्त्र सदा कहता है- 'मैं नहीं, तू'। इसका उद्देश्य है—'स्व नहीं, निःस्व'। इसका कहना है कि असीम सामर्थ्य अथवा असीम आनंद को इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त करने के प्रयत्न में मनुष्य जिस निरर्थक व्यक्तित्व की धारणा से चिपटा रहता है, उसे छोड़ना पड़ेगा। तुम्हें

दूसरों को आगे करना पड़ेगा और स्वयं को पीछे। हमारी इन्द्रियाँ कहती हैं, 'अपने को आगे रखो', पर नीतिशास्त्र कहता है— ''अपने को सब से अन्त में रखो'। इस तरह नीतिशास्त्र का सम्पूर्ण विधान त्याग पर ही आधारित है। उसकी पहली माँग है कि भौतिक स्तर पर अपने व्यक्तित्व का हनन करो, निर्माण नहीं। वह जो असीम है, उसकी अभिव्यक्ति इस भौतिक स्तर पर नहीं हो सकती। यह असम्भव है, अकल्पनीय है।''[8]

वर्तमान विज्ञान के चमत्कार एवं प्रौद्यौगिकी के विस्मयकारी अन्वेषण और आविश्कार मनुष्य के परिवेश को पूर्णतया परिवर्तित कर रहे हैं। परिणामस्वरूप प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक क्षरण तथा व्यापक पर्यावरण असंतुलन परिलक्षित होता है। विगत वर्षों से पर्यावरण के विषय में पर्याप्त चेतना जागृत हुई है। आधुनिक विज्ञान प्रदूषण की विभीशिका से भयभीत होकर निरन्तर इसके रक्षण के उपाय के साधन का अन्वेषण कर रहा है, किन्तु विज्ञान ने प्रदूषण से बचने के जो उपाय अन्वेषित किये हैं वे भी अप्राकृतिक हैं और अप्राकृतिक से प्रकृति का संरक्षण नहीं हो सकता। अतः प्रकृति का संरक्षण प्राकृतिक ढंग से ही होना चाहिए। इस दिशा में वैश्विक स्तर पर भी अनेक प्रयास किये जा रहे हैं। ''वायु, जल, भूमि, वनस्पतियों व प्राणियों आदि में सन्तुलन बने रहने से सम्पूर्ण सृष्टि अपनी साम्यावस्था में रहती है। जब इन अवयवों का सन्तुलन बिगड़ जाता है तो इसमें रहने वाले जीव-जन्तु, पेड़-पौधे तथा प्राणिमात्र पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अतः प्रकृति के इन अवयवों को न छेड़ें तथा सन्तुलन बनायें रखें। भारतीय अपने जीवन में ब्रह्म और प्रकृति के साथ सुखात्मकता की प्रार्थना नित्य करते हैं। यह उनकी उपासना का अभिन्न अंग है।''[9] प्रकृति और पर्यावरण दोनों एक-दूसरे के आधार-आधेय रूप हैं; क्योंकि दृश्यमान जगत् की प्रकृति का सम्पूर्ण स्वरूप ही पर्यावरण कहलाता है। दोनों में एक-दूसरे के साथ अंगांगिभाव सम्बन्ध है। वैदिक संस्कृति ने इसी प्रकृतिरूपी पर्यावरण के व्यवस्थित संचालन हेतु एक मर्यादित जीवन शैली दी है, जिस पथ पर चलकर मानव प्रकृति का अंग बनकर अपनी सम्पूर्णता को प्राप्त करता है।

पर्यावरण संरक्षण तथा संतुलन की गहन चेतना हिन्दू धर्मग्रंथों के साथ-साथ जैन दर्शन में भी विद्यमान है जो उसकी तत्वमीमांसा तथा नीतिशास्त्र से भलीभांति समर्थित तथा पोषित है। बौद्ध दर्शन का उद्भव तथा विकास भी पर्यावरण चिन्तन से सर्वथा अनुप्राणित है। बुद्ध ने साधारण ज्ञान से बोधि तक के सोपान को राज प्रसाद में नहीं अपितु प्रकृति एवं पर्यावरण की गोद में भ्रमणशील तथा समाधिस्थ होकर प्राप्त किया। बौद्ध दर्शन के अनुसार विश्व की सभी वस्तुएं, सभी मनुष्य, सभी घटनाएँ परस्पर सम्बन्धित तथा निर्भर हैं। उनका यह परस्पर निर्भर होना पर्यावरण संरक्षण एवं पोषण का मूल मंत्र है। ''मनुष्य पर्यावरण में सौन्दर्य की

भी खोज करता है क्योंकि सौन्दर्य का आकर्षण उसे प्रसन्न रखता है यद्यपि यही सौन्दर्य भाव पर्यावरण में उससे रहस्य का अनुभव भी करवाता है। वस्तुतः कई लोग ऐसे भी होते हैं जिनको न फूल सुहाते हैं, न बादल, न पार्क और न नदी का कोई दृश्य किन्तु अधिकांशतः पर्यावरण के प्रति एक विशेष रुख या अभिरुचि रखते हैं। यह अभिरुचि एक ओर बच्चों को अपने पूर्वजों से मिलती है, दूसरी ओर उसका स्कूलों में राष्ट्रीय स्तर पर बोध कराया जाना आवश्यक है।''[10] घर में जहाँ दादी-नानी की कहानियाँ इस ओर प्रेरित करती हैं वहीं विद्यालय में नैतिक शिक्षा के माध्यम से इन बातों का बोध प्राप्त होता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि लघु बोध कथाओं में मानव जीवन के शाश्वत् मूल्य समाये रहते हैं। ये कथाएँ थोड़े-से शब्दों में बहुत बड़ी बात कह देती हैं। ''मानव आज अपनी संवेदनाएँ खो बैठा है, यही कारण है कि उसे बर्बरता से काम करने में कोई संकोच नहीं होता अतः आदमी की आत्मा में पड़े पर्दे को हटाने में बोध कथाएँ बड़ी कारगर सिद्ध हो सकती हैं। जिस बात को कहने के लिए बड़े-बड़े ग्रंथों की रचना की जाती है, उसी बात को ये कथाएँ बहुत थोडे में सहज ही कह देती हैं। सच तो यह है कि बोध-कथाओं में जीवन के ज्ञान और अनुभव का सार निहित होता है। उन्हें आचरण में ढाला जाय तो वे जीवन का कायाकल्प कर देती हैं।''[11] इन बोध कथाओं से जो शिक्षा मिलती है वह प्रायः मोटी-से-मोटी पुस्तकों से भी नहीं मिल पाती। इसी से इनका महत्त्व प्राचीनकाल से अबतक निरन्तर चला आ रहा है।

मानव को सौन्दर्य का आकर्षण सदैव उसे प्रसन्न रखता है यही कारण है कि वह सभी जगह सौन्दर्य की खोज में रहता है। पर्यावरण तो उसके लिए सौन्दर्य का अजस्र स्रोत है ''सौन्दर्य की भावना जगाए रखना और जीवन को संवेगों और संवेदनाओं से समृद्ध बनाना किसी भी पर्यावरण का अनिवार्य तत्त्व कहा जा सकता है। जब हम आकाश में चांद खिला देखते हैं तो हृदय को कितनी शीतलता मिलती है। सुबह जब अरुणोदय होता है तो मन कितने संकल्पों से भर जाता है। कोई हरा-भरा वन और उसमें खिले फूल मन को किस रहस्यलोक में ले जाते हैं। पहाड़, नदी और समुद्रतट कितनी तरह से भावनाओं को उद्वेलित करता है। वन में स्वच्छंद फिरते हुए हिरण, शेर, हाथी और पेड़ों पर फुदकते विभिन्न रंगों के पक्षी मन को कितना आनन्द देते हैं।''[12] प्रकृति प्रेम से पूरित सहस्त्रों बोधकथाएँ हमारे सत-साहित्य में विद्यमान हैं। बाल्यकाल से ही इनके श्रवण एवं पठन से धरा के मातृस्वरूप अनवरत् स्नेह सिंचन का सानिध्य प्राप्त होता है। ''प्रकृति अपने पुत्रों से सहस्त्रों स्वरों में बोलती है। वह जीव-प्रेम ही नहीं, आत्मिक बोध को भी जगाती है। इस प्रकार व्यक्ति एक ओर पर्यावरण से जुड़ता है, दूसरी ओर परम सत्ता का अहसास करता है। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति तथा जीवों की महत्ता को आर्थिक और धार्मिक सन्दर्भ में पहचानने का

प्रयास किया। वेदान्त ने इसीलिए जीव और मानव के बीच एकता के दर्शन किए।''[13] भारतीय संस्कृति को अरण्य-संस्कृति से भी आख्यायित किया गया है, क्योंकि इसका विकास ऋषि-महर्षियों के तपश्चरण और वैदिक मंत्रागम के साथ हुआ है। भारतीय ऋषि-मनीषियों के पास विपुल और पारदर्शी ज्ञान का अक्षय भंडार था।

आज जिस तरह मनुष्य भोगों के पीछे दौड़ रहा है उसका एक कारण यह भी है कि उच्चतर जीवन की चिन्तन धाराएँ सूखती जा रही हैं और संवेदनाएँ कुंद हो चुकी हैं। ''मनुष्य की यह नैतिक जिम्मेदारी है कि वह समझे पृथ्वी पर जो जीवन तत्त्व लहरा रहे हैं वह एक ही कलेवर के अंग-प्रत्यंग हैं। जब किसी अंग को चोट लगती है तो दर्द सारे शरीर को होता है। हम पेड़-पौधों, जीव-जन्तुओं और धरती का दर्द महसूस कर सकें, उसके जख्मों को देख सकें इतनी संवेदना हममें होनी ही चाहिए। पर्यावरण की सुरक्षा एक प्रकार से जीवन की सुरक्षा है; एक समग्र जीवन के प्रति एक ऐसा आग्रह है जो मनुष्य को सर्वात्मा के साथ जोड़ता है। जीने के लिए पारस्परिक सहयोग जरूरी है। प्रकृति के उसके लिए अपने नियम हैं। जब हम उन्हें तोड़ते हैं तो उसके भयंकर परिणाम होते हैं।''[14] हमारी भारतीय संस्कृति और भारतीय चिन्तन में प्रकृति को जीवन का अभिन्न अंग माना गया है। बोध कथाओं में विविध प्रसंगों में यह भाव निहित है। वास्तविकता यही है कि हम प्रकृति के हिस्से हैं तथा प्रकृति से हमारा गहरा जुड़ाव है। ''घने वनों में निःसंग-लोकानुग्रही-ऋषियों द्वारा स्थापित तपोवन पर्यावरणीय आदर्श के प्रतीक हैं, जो प्रकृति के साहचर्य में मानव को पर्यावरण-नियमों और प्रक्रियाओं के प्रति जागरूक बनाते हैं। यज्ञ, संयम, तप एवं आतिथ्य द्वारा मानव को त्यागशीलता, आवश्यकताओं के परिसीमन, पर्यावरण-क्रम में न्यूनतम हस्तक्षेप और परोपकार की शिक्षा देते हैं। वनस्पति-जीव-जन्तुओं के निस्वार्थ संरक्षण-संवर्धन के केन्द्रभूत तपोवन अभयारण्य सिद्व होते हैं। तपोवनों में मानव-प्रकृति के मध्य विकसित होने वाले स्नेह-सम्बन्ध सर्वसाधारण के लिए प्रेरणास्पद हैं।''[15] ऋषियों-मुनियों के चिन्तन-मन्थन के आश्रम प्रकृति की हरी-भरी गोद ही हैं जो अपने संतुलित स्वरूप में ही सम्भव है। सारा ज्ञानोदय वानप्रस्थ में ही होता रहा है। हरे-भरे एवं जल-सरोवर तथा फल-फूल से लदे वन ही आश्रम के उपयुक्त होते हैं। ज्ञान की साधना के लिए प्राकृतिक संतुलन की उपादेयता सार्वकालिक है।

समस्त जीवों, वनस्पतियों तथा मनुष्य आदि को प्रकृति तथा पर्यावरण से ही पोषण प्राप्त होता है। प्रकृति का दोहन जीवधारियों के लिए अपरिहार्य है। प्रकृति के दोहन अथवा उपयोग के बिना जीवन सम्भव नहीं है, किन्तु उतना ही दोहन किया जाना चाहिए जितने के बिना जीवन सम्भव नहीं है। विकास के नाम पर मनुष्य प्रकृति तथा पर्यावरण का अन्धाधुन्ध दोहन और शोषण करता जा रहा है, जिसके कारण आज विश्व के समक्ष पर्यावरण असंतुलन

की गम्भीर समस्या है। पर्यावरण संकट की इस विपद्-बेला में प्रकृति के प्रति जिन विचारगत एवं व्यवहारगत सुधारों की आवश्यकता पर आज विश्व की सर्वोच्च संस्थाएँ चिन्तातुर होकर ध्यान दे रही हैं, उन सभी को प्राचीन भारतीय पर्यावरण-चिन्तन की धार्मिक-दार्शनिक-नैतिक एवं व्यावहारिक मान्यताओं में सहज दृष्टिपात किया जा सकता है। आज विकास की नहीं, अपितु संयमित विकास की आवश्यकता है। समग्र विश्व में आज पर्यावरण-संरक्षण एवं चिन्तन को सर्वाधिक महत्व दिया जा रहा है। विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संधियाँ, समझौते एवं घोषणा-पत्र इस बात की ओर संकेत कर रहे हैं कि सम्पूर्ण विश्व इन जटिल समस्याओं के प्रति गम्भीर रूप से चिंतित है। तथापि पूर्णतः इस समस्या का सर्वमान्य समाधान नहीं खोजा जा सका है। हमें वेदों की उस उक्ति को नहीं भूल जाना चाहिए जिसमें कहा गया है पृथ्वी हमारी माता है, हम उसके पुत्र हैं—माता भूमि पुत्रोऽहं पृथिव्याः। यह ठीक है सभ्यता के विकास के साथ आज के मानव की समझ बदल गई है, किन्तु उसकी भलाई इसी में है कि वह आज भी हजारों वर्ष पुराने मूल्यों और संबंधों को तिलांजलि न दे। हम प्रकृति से दूर जा खड़े हुए हैं इसी से पर्यावरणीय समस्याएँ खड़ी हुई हैं।

सन्दर्भ :

1. डॉ. हरिमोहन : पर्यावरण और लोक अनुभव, तक्षशिला प्रकाशन, 2007, पृष्ठ-13
2. पाण्डेय, डॉ. ए. के.: भारतीय दर्शन में पर्यावरण चेतना, हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद, 2011, पुरोवाक
3. डॉ. हरिमोहन : पर्यावरण और लोक अनुभव, तक्षशिला प्रकाशन, 2007, प्राक्कथन
4. नीरन, डॉ. अरुणेश, कुशवाह, डॉ. दिनेश मिश्र, उद्धव तिवारी, अर्चना सिंह : मूल्यों के निर्माण कलश. नई दिल्लीः प्रभात प्रकाशन, 2013, पृष्ठ-122
5. वही, पृष्ठ-71
6. पाण्डेय, डॉ. ए. के.: भारतीय दर्शन में पर्यावरण चेतना, हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद, 2011, पृष्ठ-50
7. शुक्ल, डॉ. सच्चिदानंदः महाभारत की शिक्षाप्रद नीति कथाएं, नई दिल्ली : पुस्तक महल, 2013, भूमिका
8. स्वामी विवेकानंदः सार्वलौकिक नीति तथा सदाचार, नागपुरः रामकृष्ण मठ, 2005, पृष्ठ-17
9. त्रिपाठी, डॉ. उपेन्द्र कुमारः वेदों में पर्यावरणीय चेतना, पिलिग्रिम्स पब्लिशिंग वाराणसी, 2019, पृष्ठ-02
10. बिष्ट, डॉ. सुजाताः पर्यावरण शिक्षा, तक्षशिला प्रकाशन, 2005, पृष्ठ-9

11. जैन, यशपालः नैतिक कथाएँ, नई दिल्ली, सस्ता साहित्य मण्डल, 2019, दो शब्द
12. बिष्ट, डॉ. सुजाताः पर्यावरण शिक्षा, तक्षशिला प्रकाशन, 2005, पृष्ठ-30
13. चातक, डॉ. गोविंद : पर्यावरण परंपरा और अपसंस्कृति, तेज प्रकाशन दिल्ली, 2015, पृष्ठ-93
14. बिष्ट, डॉ. सुजाताः पर्यावरण शिक्षा, तक्षशिला प्रकाशन, 2005, पृष्ठ-31
15. शर्मा, डॉ. सुधीर कुमारः रामायणकालीन पर्यावरण चेतना की वैज्ञानिकता, हंसा प्रकाशन जयपुर, राजस्थान, 2012, पृष्ठ-244

■

यह नरम-हरा-कच्चा संसार

ऋचा वर्मा, शोध-छात्रा,
हिंदी-विभाग, कला-संकाय
दयालबाग एजुकेशनल इंस्टीट्यूट (डीम्ड यूनिवर्सिटी)
आगरा-282005, भारत

'मैं एक कवि हूँ चौदह की उम्र से ही
कुछ लोग जानते हैं सभी कुछ वनस्पतियों के बारे में कुछ मछलियों के
मैं जानता हूँ बिछुड़न
कुछ लोगों को पता है तमाम सितारों के नाम
मैं गाता हूँ अनुपस्थितियाँ' —नाजिम हिकमत
अनुवाद—वीरेन डंगवाल

साहित्य और पर्यावरण दोनों ही मनुष्य के जीवन के महत्वपूर्ण पहलू हैं। साहित्य में पर्यावरण का वर्णन और प्रतिबिम्बन अनेक रूपों में मिलता है। साहित्य में पर्यावरण के साथ मनुष्य का संबंध, प्रकृति की रक्षा और सम्मान, पर्यावरण संकट और समाधान, प्रकृति की प्रेरणा और सौंदर्य आदि विषयों पर लेखकों ने अपने विचार और कल्पना को प्रकट किया है। पर्यावरण की चिंता इक्कीसवीं सदी में दुनिया का सबसे बड़ा मुद्दा है। मनुष्य की संसार में उपस्थिति की शुरुआत से ही उसके भीतर प्रकृति को लेकर सह-अस्तित्व का भाव रहा है। यही वजह है कि बहुत प्रारम्भिक लोकगीतों में और बाद में साहित्य में भी प्रकृति की संलग्नता खूब देखने को मिलती है। प्रकृति-चित्रण साहित्य के लिये नया नहीं है। लेकिन आज लिखे जा रहे साहित्य में यह रूप पर्याप्त ढंग से बदला है। प्रकृति का जैसा चित्रण अब तक हुआ है उसमें प्रकृति के सौन्दर्य का रोमान था और आज के साहित्य में यह बदल चुका है-

"मैं थक गया हूँ
फुसफुसाता है भोर का तारा
मैं थक गया हूँ चमकते-चमकते इस फीके पड़ते
आकाश के अकेलेपन में।"

पर्यावरण-क्षरण आज के साहित्य का मसला है। बीसवीं शती से पहले के लेखन में पर्यावरण के प्रति प्रेम और भय दोनों का भाव था। अब पर्यावरण को लेकर उसके घटते जाने का भाव है—

"खटक-धड़-धड़ की लचकदार आवाज के साथ
पुल पार करती रेलगाड़ी की खिड़की से
आपने भी देखा होगा कई बार क्षीण धारा की बगल में
सफेद बालू के चकत्तेदार विस्तार में फैला
यह नरम-हरा-कच्चा संसार।"

उक्त काव्य पंक्तियों के कवि-वीरेन डंगवाल को पर्यावरण चेतना के महत्वपूर्ण कवि के तौर पर पहचाना जा सकता है। वीरेन डंगवाल की कविताएँ प्रकृति व मनुष्य के साहचर्य की बात करती हैं। उनके यहाँ प्रकृति और मनुष्य के बीच एक रागात्मक रिश्ता है। 'कटरी की रुकुमिनी कविता' में भोर का तारा टिमटिमाता है। यह वही भोर का तारा है जो कभी कविता में काव्य सौन्दर्य के रूप में एक उम्मीद बनकर आता था। उस पर यह कविता सवाल खड़ा करती है कि अब वह उम्मीद कहाँ है?

"दुनिया एक गाँव तो बने
लेकिन सारे गाँव बाहर रहें उस दुनिया के
यह कम्प्यूटर करामात हो।
कितने अभागे हैं वे पुल
जो सिर्फ गलियारे हैं
जिनके नीचे से गुजरती नहीं
कोई नदी।"

जीवन जीने के लिये बुनियादी रूप से तीन चीजों की आवश्यकता होती है- हवा, पानी और भोजन। हम इसे इस तरह भी समझ सकते हैं कि हवा यानी ऑक्सिजन। उसके पश्चात जीवन के लिये जिसका सर्वाधिक महत्व है वह पानी है। पानी जीवन का ही पर्याय है। आज वैज्ञानिक धरती के अतिरिक्त अन्य ग्रहों पर, जहाँ कहीं जीवन की सम्भावना को तलाशते हैं, वहाँ सर्वप्रथम पानी की ही खोज की जाती है। 'जल ही जीवन है' जैसे स्लोगन और 'बिन पानी सब सून' जैसे दोहे इसी जल बनाम जीवन के महत्व के संदर्भ में समय-समय पर कहे जाते रहे हैं। इसीलिए दुनिया की लगभग सभी महान सभ्यताएँ नदियों के किनारे बसीं हैं। इस बात में कितनी बड़ी बिडम्बना छुपी हुई है कि मनुष्य ने अपने विकास-क्रम में जल-स्रोत रूपी नदियों के समीप ही इस धरती पर अपने रहने के लिए सबसे खूबसूरत जगहों की खोज की थी और आज जब मानव-सभ्यता के तथाकथित विकास का चरम यह आधुनिक युग

आया तो हमने पाया है कि जिन जगहों पर कभी नदी किनारे सभ्यताएँ विकसित हुईं, वहाँ पर अब कोरी सभ्यताएँ मात्र ही नजर आती हैं। नदी प्रायः गायब है या बुरी तरह दूषित। वे नदियां जिनको पार करने के लिए कभी पुल बने थे अब वह नदी ही नहीं बची है, उसे नष्ट किसने किया ? और न सिर्फ नदी बल्कि इन दिनों हमारे आसपास वनों, जंगलों और वातावरण के क्षरण का मसला भी लगातार सर उठा रहा है। नवउदारवाद ने वैश्वीकरण की प्रक्रिया को कसकर जकड़ रखा है, फलतः विकास नहीं अपितु वैश्विक स्तर पर विनाश हो रहा है। जीवन, स्वास्थ्य, शिक्षा, शुद्ध-जल, भोजन, रोजगार, घर और अपने भविष्य जैसे मूलभूत अधिकार भी हाशिए के वर्ग को अब सहज हासिल नहीं है। हवा, वायुमंडल, धरती को लगातार विषाक्त करने में बेपरवाह उपभोक्तावादी समाजों का ही प्रमुख योगदान है, जो जीवनोपयोगी अनिवार्यताओं को प्रदूषित और इंसानी बस्तियों को उजाड़ रहे हैं। प्राकृतिक आपदाओं ने हजारों लोगों का जीवन छीन लिया। यह सब मौसम में हुए परिवर्तन के और मनुष्य द्वारा प्रकृति को पहुंचाये गए नुकसान के ही परिणाम हैं। इनका दोष उनके ऊपर नहीं मढ़ा जा सकता जो यहाँ न सिर्फ न्याय के सार्वभौम मानदंडों बल्कि पृथ्वी पर जीवन के संरक्षण के लिए संघर्ष करने के लिए इकट्ठे हुए हैं—

''हम सनत समय के उत्तम चट्टे-बट्टे हैं
फिर अवसर पाकर हुए यहाँ पर कट्ठे हैं।
ला-लाकर देंगे गेहूँ की ताजा बालें
अनबूझ लिखे से चर्चित भोजपत्र छालें
भाँडे-बर्तन लायेंगे हम बस्तर वन के
महुआ के फूल, नगाड़े, आदिवासी जन के
पर्वत की वाणी व्याकुल नदियों का गर्जन
चक्की की रूँ-रूँ माँओं-बहनों के क्रन्दन।''

पर्यावरण से तात्पर्य है पूरा ईको-सिस्टम। इसके तीन प्रमुख अवयव हैं—हवा, जल, मिट्टी। आज पर्यावरण के बारे में गौर करें तो पाते हैं कि ओजोन परत दिन-प्रतिदिन छीजती जा रही है, तापमान बढ़ता जा रहा है। बारह-मासा, विरह-वर्णन जैसी कविताओं को पढ़ाने के लिए बारह महीनों का वह एहसास होना जरूरी है। अब मौसम कितना बदल चुका है न ठण्ड पता कब लगने लगे, न गर्मी का पता कि अचानक कितनी तीव्र हो जाए। पर्यावरण असन्तुलन के चलते ये सब हो रहा है। इस संदर्भ में एक सवाल मन में आता है कि पर्यावरण असन्तुलन हुआ क्यों? वैश्विक पूंजी और नव उपनिवेशवाद ने पर्यावरण को सबसे अधिक चुनौती दी है। आज पर्यावरण के सामने मनुष्येतर चीजों को बचाने और उनके अस्तित्व को सुनने की जरूरत है। साहित्य सदैव ही पर्यावरण के सहयोग के साथ विकास की बात करता

है। आप यदि पहाड़ खोद डालेंगें, जंगल रहने नहीं देंगे तो जाहिर तौर पर एक बड़ा नुकसान होगा ही। मनुष्य प्रकृति एवं अन्य जीवों के साथ सह-अस्तित्व में पृथ्वी पर रहता आया है। गांधी जी कहते थे कि यह अन्य जीव-जंतु हम मनुष्यों के मातहत नहीं हैं। जितना इस धरती पर हवा है, वह एक हाथी के हिस्से की भी है और गौरैया के हिस्से की भी है। हमने ऐसा असन्तुलन खड़ा किया कि हाथी और गौरैया इत्यादि के लिए कुछ छोड़ा ही नहीं, पारिस्थितिक तंत्र को हमने पूरी तरह चौपट कर दिया है इसके चलते पर्यावरण के भीतर जो असन्तुलन आया है इसका खामियाजा कौन भुगतेगा। अभी तीन साल पहले की ही बात है जब कोरोना के समय ऑक्सीजन सिलेण्डर खरीदकर हमें बचाया गया। प्राकृतिक चीजों को नष्ट करते जाना और उनके विकल्प को बाजार में लाकर खड़ा कर देना ये काम भी पूंजीवाद कर रहा है। साहित्य में पर्यावरण संरक्षण और पर्यावरण के प्रति मानव को सम्वेदनशील बनाने की जो चिन्ता है इस चिन्ता से साहित्य और पर्यावरण का द्वन्द्व बनता है, इस चिन्ता से साहित्य और पर्यावरण को देखना चाहिए। हमें लगता है कि एशिया के देशों की आबादी ज्यादा है, इसीलिए वहाँ गन्दगी ज्यादा है, पर्यावरण दूषित है, खनन के साधनों की लूट है, प्राकृतिक संसाधनों के दोहन की कभी खत्म ना होने वाली भूख के चलते जो असन्तुलन है उस पर इन दिनों किसी का ध्यान नहीं जा रहा। लेकिन आदिवासी कविता हो या मुख्यधारा की कविता, उसमें इस तरह की चिन्ता बहुत देखने को मिलती है। विकास के नाम पर जंगल के जंगल काटे जा रहे हैं। वन्या कविता देखें—

'ठेकेदार के आदमी गये
चली गई जंगलात के अफसरों की गुर्राती हुई जीपें
अब कोई खतरा नहीं है दिदी
चलती हो घास लाने बण की तरफ?
जहाँ उनके तम्बू थे
वहाँ पड़ी होंगी कई खाली बोतलें
क्या पता छूट गयी हो एकाध कोई माचिस और मोमबत्ती भी
चल चल न भुली, देखते हैं चलकर
लौटती बेर बटोर लायेंगे पत्तियाँ और लकड़ी साथ में
चलो न दिदी
चल न भुली
अकेली मैं कैसे जाऊँगी वहाँ
मुझे देखते ही विलापने लगते हैं चीड़ के पेड़
सुनायी देने लगती है किसी घायल लड़की की दबी दबी कराह'

यहाँ कविता में चीड़ के पेड़ के नीचे एक स्त्री की आती आवाज एक इमेज बनाती है कि जंगल काटे जा रहे हैं, ठेकेदार-बड़े व्यवसायी जंगल भी जा रहे हैं, जंगल अब उनके उपभोग की जगह बन चुका है। जंगल में रहने वाले अदिवासी लोग-लड़कियाँ हैं, यह उठती चीत्कार चीड़ के पेड़ के साथ-साथ उनकी भी है। जंगल में जिनका घर है उससे जिनका जीवन जुड़ा हुआ है वही जंगल अब इन आततायियों के जंगल में आने के कारण अब वहाँ के निवासियों के लिए दुष्कर हो गया है। गोरख पाण्डेय की एक कविता है-

'फसल काटे गइली दुखवा बिसार सजना
उनके भरि दिहलीं सोना से बखार सजना
अपने घरे आइल बोझा दुइ चार सजना
00 0000 0000 00
खून चूस, देस बेचवा, लबार सजनी ई दलाल पूँजीपति जमींदार सजनी
00 0000 0000 00
बिना क्रान्ति के न होई उधियार सजना'

आज कविता में कवि घोर सामाजिक विषमता का गवाह है तो दूसरी ओर वह जनता के दुख, विपन्नता और आत्म-वंचना के लिए जिम्मेदार ताकत की भी शिनाख्त करता है। खेत और स्त्री दोनों आज हाशिए पर है और प्रकृति भी हाशिए पर है तो दोनों की अस्मिता को एक दूसरे के साथ जोड़कर ही खड़े हो सकते हैं।

जमीन से निकाले जा रहे पानी, कोयला की भी एक सीमा है, और यह जरूरत इनके खत्म होने के बाद भी रहेगी। सभ्यता के विकास के लिए जो जरूरत हमने बढ़ा ली है उसमें कुछ न्यूनतम की पूर्ति हेतु जरूरत हमें हरदम बनी रहेगी। जैसे पहनने को कपडा, पढने को किताब इत्यादि। इसके लिये यदि हम जरूरत की आपूर्ति के लिए यदि दो पेड़ काटते हैं तो चार पेड़ लगाने की जिम्मेदारी भी हम सबकी ही है।

''इस तरह बदहवास
मत टकराओ गौरैया
खिड़की के काँच से, शीशे से,
तुम्हारी चोंच टूट जायेगी और नाखून
उचट जायेंगे
मेरे बच्चे की किलकारियों से मत डरो
वे तुम्हारे प्रति उसके उल्लास की
उत्तेजना से निकली हैं

तुम्हारा धनिये के बीज जितना हृदय
पटपटाता होगा
और नन्हीं-सी जीभ खुश्क होती होगी
मुझ पर सन्देह मत करो गौरैया
लो, मैं खिड़की खोलता हूँ
जाओ, बाहर उड़ जाओ
धूप में अपने बदन को फुलाओ
और मटमैली ऊन का गुच्छा बनाओ।''

हमारी मुक्ति प्रकृति के साथ ही सम्भव है। हम जो चीजों को लगातार कैद करते जा रहे हैं उनके प्रति यही अपराध बोध कवि के भीतर है कि मेरे बच्चों से मत डरो। वह सिर्फ बच्चा नहीं मानवता का भविष्य भी है। यह चिन्ता कवि-वीरेन में खूब है। 'हड्डी खोपडी खतरा निशान', 'तारन्ता बाबू से कुछ सवाल', 'नयी संस्कृति', 'परम्परा' कविताओं में जहाँ वीरेन उपभोक्तावाद की खूब खिंचाई/आलोचना करते हैं। उनकी कविताओं में विस्थापन का दर्द है, सामाजिक असन्तुलन है। 'ये अश्वारोही', 'एक लंगूर', 'रामपुर बाग की प्रेम कथा' हैं। कविताएँ विकास बनाम विस्थापन की करुण कथा कहती हैं। बुद्ध का सम्यक/अपरिग्रह का सिद्धांत और गांधी जी के ट्रस्टीशिप सिद्धांत का सार भी यही है कि हमें यथा सम्भव भण्डारण से बचना चाहिये। इसका यही अर्थ है कि अपनी जरूरत के लिये हम समाज से जो ले रहे है उसे अपने रहते देना भी है। लेते समय भी यह ध्यान रखना है कि सब लेकर हमें ही खर्च नहीं कर देना है बल्कि आने वाली पीढ़ियों के लिए भी इसे बचाना है। बीसवीं सदी के शुरूआत में पूंजीवाद एवं समाजवाद दो विचार आमने-सामने थे। दोनों अपने बुनियादी रूप में प्रकृति के इस्तेमाल के लिए और विज्ञान से प्रकृति को जीत लेने के मुद्दे पर सहमत थे। इस अवधारणा की वजह से मनुष्य में विजेता का अहंकार आया और मनुष्य अपने अतिरिक्त अन्य प्रकृति के जीवन को भूल गया। अगर हम आज फिक्र नहीं करेंगे तो पर्यावरण हमारे जीवन से गायब हो जाएगा। मार्क्स ने जिस समान वितरण की बात कही है, वह यही है कि लूट करके जो कुछ हमने इकट्ठा कर लिया है वह खतरनाक असन्तुलन पैदा कर देने वाला है। संसार को बचाने के लिए अब यह बहस रह ही नहीं गई कि समाजवाद रहेगा कि पूंजीवाद रहेगा। विश्व रहेगा तभी इनका अस्तित्व होगा। आखिरकार प्रेम बचा रहेगा तो पर्यावरण और दुनिया बची रहेगी। पर्यावरण को बचाना सामाजिक संरचना में बहुरूप को बचाना है। वैश्विक पूंजी और नव उपनिवेशवाद ने पर्यावरण को सबसे अधिक चुनौती दी है। आज पर्यावरण के सामने मनुष्येतर चीजों को बचाने और उनके अस्तित्व को सुनने की जरूरत है। प्रकृति और पर्यावरण को बाजार और विज्ञापन से बचाना हम सब की साझी जिम्मेदारी

है। आज साहित्य के सौंदर्य से अधिक साहित्य के पर्यावरण पर बात करने की जरूरत है। लालची विकास ही पर्यावरण का शत्रु है, अतः यह अत्यधिक जरूरी है कि असन्तुलन को कम किया जाए। बराबरी से संसाधनों का बँटवारा हो, लूट पर रोक लगे, लाभ के सिद्धान्त को स्थगित किया जाए, सभ्यता को बचाने की चिन्ता से युक्त हुआ जाए।

संदर्भ :

डंगवाल वीरेन, कविता वीरेन, पहला संस्करण रू 2018, नवारूण प्रकाशन, गाजियाबाद, पृष्ठ - 471

डंगवाल वीरेन, स्याही ताल, पहला सजिल्द संस्करण, 2009, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, पृष्ठ संख्या- 9

डंगवाल वीरेन, स्याही ताल, पहला सजिल्द संस्करण, 2009, अंतिका प्रकाशन, गाजियाबाद, पृष्ठ संख्या- 10

डंगवाल वीरेन, दुश्चक्र में स्रष्टा, दूसरी आवृत्ति, 2015, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 19

डंगवाल वीरेन, दुश्चक्र में स्रष्टा, दूसरी आवृत्ति, 2015, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या- 86

डंगवाल वीरेन, इसी दुनिया में, दूसरा नवीकृत संस्करण, 2015, नवारुण प्रकाशन, गाजियाबाद, पृष्ठ संख्या- 67

पाण्डेय गोरख, जागते रहो सोने वालो, राधाकृष्ण प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1983, पृष्ठ संख्या-130-132

डंगवाल वीरेन, इसी दुनिया में, दूसरा नवीकृत संस्करण, 2015, नवारुण प्रकाशन, गाजियाबाद, पृष्ठ संख्या- 52

■

मानव और प्रकृति का अंतर्संबंध तथा समकालीन हिंदी उपन्यास

प्रियंका जायसवाल

शोधार्थी, हिंदी विभाग

शासकीय महाविद्यालय बलरामपुर (छ.ग.)

डॉ. उमेश कुमार पाण्डेय

शोध निर्देशक एवं सहायक प्राध्यापक

राजीव गांधी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय अम्बिकापुर (छ.ग.)

मानव और प्रकृति के मध्य अटूट संबंध है। मनुष्य प्रकृति से भिन्न नहीं अपितु प्रकृति का ही एक अंग है। इन्हीं दोनों के मध्य के अंतर्संबंधों को साहित्य में कवि और लेखकों ने बहुत ही सूक्ष्मता और खूबसूरती के साथ चित्रित किया है।

समकालीन हिंदी उपन्यासों में रचनाकारों ने प्रकृति के माध्यम से मानव मन की अतल गहराई में दबी हुई भावनाओं को व्यक्त किया है। कभी मानव मन की आवाज के रूप में, तो कभी पहचान, कभी वेदना, तो कभी प्रणय कल्पनाओं की दूती के रूप में प्रकृति नजर आती है। आज जहाँ मानव भौतिकता और तकनीक की दुनिया में गुम होता जा रहा है साहित्यकार निरंतर उसे साहित्य के माध्यम से प्रकृति के सामीप्य सुख का एहसास कराता आ रहा है। रचनाकारों के द्वारा अपनी कथाओं में भाव बोधगम्यता लाने तथा उसे प्रवाह पूर्ण बनाने,प्रकृति के प्रति जागरूक करने हेतु, प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों के साथ मानव और प्रकृति के अंतर्संबंधों को प्रभावपूर्ण शब्द शैलियों में व्यक्त किया गया है और यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि मनुष्य प्रकृति के सानिध्य में स्वयं को अधिक सुरक्षित तथा प्रसन्नचित्त महसूस करता है।

कमलेश्वर द्वारा रचित उपन्यास 'वही बात' की कथा नायिका स्वयं को प्रकृति के निकट पाकर प्रसन्नता से भर उठती है और उसके हृदय की कोमल भावनाएँ पल्लवित और पुष्पित होने लगती है तथा वह अपने पति के और अधिक निकट आ जाती है।

''समीरा एकाएक आह्लाद से भर उठी। हर तरफ दूधिया चाँदनी छिटकी हुई थी, हर चीज जैसे दूध की झरती नदी में नहा उठी थी... नीचे घाटी दूधिया रोशनी में झिलमिला उठी थी। समीरा मुग्ध सी हर ओर देखती जा रही थी। समीरा बेसुध हो गई, इतना सौंदर्य! हे प्रभु! मैं कहीं मर ना जाऊँ यह तो स्वर्ग है।''[1]

मानव जब भौतिकता और क्षणिक विलास से भरी दुनिया से बाहर निकल कर प्रकृति के अनुपम सौंदर्य के समीप पहुँचता है तो अनंत सुख और सौंदर्य की अनुभूति करता हुआ तृप्त महसूस करता है। उसके भीतर की तमाम विकृतियां, कुंठा, अवसाद,आलस्य से वह धीरे-धीरे उबरता सा महसूस करता है।

''शाम को प्रशांत साइट से लौटा तो नया बंगला जंगली फूलों से सजा हुआ था। समीरा ने भी फूलों से ही श्रृंगार किया था। प्रशांत उसे देखता ही रह गया अरे वाह! इतनी सुंदरता!''[2]

मनुष्य अनंत काल से परमानंद और नैसर्गिक सौंदर्य की तलाश करता रहा है और इसकी अनुभूति वह प्रकृति के समीपस्थ करता है। जब-जब मनुष्य प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों के निकट होता है तो उसे उसी परमानंद की अनुभूति होती है।

''अभी बसंत की चमकीली धूप थी, जो पेड़ों-पक्षियों और पानी में तिलस्मी रंग भर रही थी। रंग धरती से उठते और आकाश में अनार की तरह फूट जाते वे देर तक हाथों में हाथ डाले घूमते रहे...''[3]

लेखकों ने कथाओं में मानव मन की अतल गहराई में धंसे हुए एहसासों को सीधे ना व्यक्त कर प्रकृति पर मानवीकरण के माध्यम से किया है क्योंकि मानवीय भावनाओं का संबंध प्रकृति के बहुत निकट है और मानवीय संवेदनाओं को प्रकृति के माध्यम से व्यक्त होने में एक आधारभूमि मिल जाती है। बसंत ऋतु के द्वारा, प्रकृति मनुष्य को अस्तित्व ज्ञान का बोध कराती है। बसंतकाल के दौरान पेड़-पौधे पुरानी पत्तियों को गिराकर कोमल नवीन पत्तियाँ धारण कर यह सीख देती हैं कि जीवन नश्वर है तथा हर सुख के बाद दुख आना है और हर दुख के बाद सुख का आना निश्चित है।

''सूर्य और पृथ्वी के चक्करों ने गर्मी के दिनों में ऐसी सुबह पैदा की थी जब सांवले उजाले में ठंडी बयार बह रही थी। चिड़ियां जाग रही थी, उनकी चहचहाहट अंधेरे के गड्ढे से निकलकर उजास में गूंज रही थी। आंगन में उजाले की भनक- भर थी, जो बाहर लान में चिड़ियों के साथ फुदक रहा था। सूर्य, पृथ्वी, हवा, चिड़िया और उजाले की कोई लय थी, जिसमें रामचंद्र सीता देवी बैठे थे।''[4]

मानव जीवन का लय प्रकृति कि लय में बंधा हुआ है वह मानव जगत को स्थिरता और एकाग्रचित्तता की लय में बाँधती है। प्रकृति, मनुष्य के भीतर आत्मीयता बोध का संचार करती है। प्रकृति के सानिध्य से मनुष्य के भीतर की तमाम विकृतियां समाप्त हो जाती है और वह स्वयं को उल्लासित महसूस करता है।

''नीचे झुकी डाल से एक फूल शाल्मली ने हाथ बढ़ाकर तोड़ा और उसकी कांपती-थरथराती रोएंदार बेशुमार पंखुड़ियों को निहारा। कितनी संवेदना है! कितना कंपन है! कितनी कोमलता है! उसने धीरे से फूल को सूंघा आह्लाद की एक लहर नासिका से होती मस्तिष्क में पसर गई। मन यूँ हल्का हो गया, जैसे अभी-अभी जन्मा हो कोई दुख, कोई क्लेश, कोई टीस की परछाई भी नहीं। ऐसे समय में शाल्मली को लगता उसकी आंखों की ज्योति दोगुनी हो गई है और प्रकृति की रंगीन छटा के रंग अधिक धुले चमकीले हो गए हैं। चिड़ियों की चहचहाहट उसे वीणा वादन की तरह अलौकिक लगने लगती थी। ऐसे मौकों पर शाल्मली को विश्वास होने लगता है कि सौर्य मंडल प्रकृति और मानव शरीर के तत्वों का आपसी संबंध बहुत घनिष्ठ है।''[5]

प्रकृति, मानव को संवेदना से भर देती है। यदि मनुष्य संवेदनहीन हो जाए तो वह असभ्य, आवारा पशु के समान हो जाएगा। संवेदना मनुष्य को मानवता की राह पर चलने की सीख देती है और उसे प्रेम करना सिखाती है और जिस मनुष्य के भीतर संवेदना और प्रेम हो वह कभी किसी का अहित नहीं कर सकता है। मानव प्रकृति के सानिध्य में मानवीय व्यवहारिक शिक्षा के साथ-साथ अन्य प्राणी से प्रेम करना भी सिखाता है। फूलों के सुगंध में भी एक राग एक आकर्षक होती है जो मन एवं मस्तिष्क को प्रभावित करने की क्षमता रखती है।

''पीली-गर्म फैली धूप के नीचे फूले अमलतासों के पीले फूलों से लदे वृक्षों के बीच में गुलमोहर की लाली रंगों की अद्भुत छटा बिखेर रही थी। शाल्मली के जीवन में ऐसा ही बसंत आया था जो अमलतास की तरह दिल और दिमाग में एक साथ फूला था।''[6]

प्रकृति, मनुष्य को अवसादों से उबारती है और हृदय में शांति तथा मन को प्रसन्नता से भर देती है। आज के भौतिकवादी टेक्नोलॉजी, बनावटी दुनिया में व्यस्त मनुष्य बहुत ही जल्दी अवसाद से घिर जाता है और उसके भीतर धीरे-धीरे जीवन प्रत्याशा कम होने लगती है। कुछ लोग तो अवसाद की स्थिति में यहाँ तक पहुँच जाते हैं कि आत्महत्या तक कर लेते हैं। ऐसे में इस जटिलतम दुनिया से ऊबकर मानव जब नैसर्गिक सौंदर्य से पूर्ण प्रकृति के समीप पहुँचता है तो वह फिर से जी उठता है। उसके भीतर जीवन जीने की अभिलाषा बढ़ती है। वह भौतिकता से परे तथा प्रकृति के समीप में आने को आतुर होने लगता है।

प्रकृति मनुष्य को जीवन प्रदान करती है। वह प्रकृति की गोद में ही खेल-कूद कर बड़ा होता है किंतु बड़े होने के साथ ही उसके मन में कई तरह के स्वार्थों का जन्म होता है। कई आकांक्षाएँ पैदा होती है। उसके भीतर तमाम तरह की भौतिक सुख सुविधा की चाहत बढ़ती ही जाती है। इसी को पूरा करने की आकांक्षा में वह प्रकृति को क्षति पहुँचाने, उसका दोहन करने से भी पीछे नहीं हटता। आज मनुष्य स्वार्थवश सिर्फ अपना फायदा देख रहा है इसीलिए वह किसी न किसी रूप में प्रकृति का निरंतर दोहन और शोषण कर रहा है। मनुष्य इस बात से अनभिज्ञ है कि वह प्रकृति का नुकसान नहीं पहुँचा रहा है बल्कि धीरे-धीरे स्वयं को ही समाप्त करने के लिए रास्ता तैयार कर रहा है।

"वह शिरीष के फूलने की ऋतु थी। गली, मकान, चबूतरे, आंगन सब महक उठे थे, पंक्तिबद्ध खड़े शिरीष के वृक्ष किसी षोडशी की तरह भरे- पूरे अपने ही रूप लावण्य के बोझ से लदे- फंदे जलती दोपहर में लू के डोले पर सवार पीली धूप में नहा रहे थे।"[7]

प्रकृति में अनुपम सौंदर्य है और इसी सौंदर्य और ऐश्वर्य की अनुभूति जब मानव करता है तो उसे परमानंद सुख की प्राप्ति होती है और वह तृप्त हो उठता है। प्रकृति, मनुष्य को स्थिरता प्रदान करती है उसे जीवन के अनेकानेक रहस्यों के भेद को जानने, समझने के लिए प्रेरित करती है।

"आज पूर्णिमा की सफेद उजली चांदनी से छत भर उठी थी। एक ठंडक थी, जो चंद्रमा से नीचे धरती पर बरस रही थी। थकी शाल्मली कमरे से छत पर आई। एकाएक यह मनोहर दृश्य देखकर भौंचक-सी रह गई। उसने चारों तरफ एक नजर डाली, फिर भरपूर अंगड़ाई ली। थकान पीले पत्तों के समान झरने लगी। रोम-रोम में दूधिया चाँदनी की परतें बिकने लगीं।"[8]

मनुष्य भौतिक जीवन से थक कर जब स्वयं को प्रकृति के समीप पाता है तो सारी थकान भूल जाता है। वह बहुत ही सुकून महसूस करता है। जिस प्रकार एक छोटा बच्चा माँ की गोद में स्वयं को बहुत ही सुरक्षित एवं तृप्त महसूस करता है उसी प्रकार मनुष्य प्रकृति रूपी माँ के गोद में स्वयं को थकान से मुक्त, तृप्त एवं आनंदमय महसूस करता है। प्रकृति का सानिध्य मनुष्य को कई एहसासों से भर देता है जैसे शाल्मली सोचती है कि काश वह पक्षी होती और वह दोनों बाहें फैला दी है और चांदनी को बाहों में भरती सी खुली छत पर आहिस्ता कदम रखते हुए आगे बढ़ती है।

"मैं केवल एक सूखा वृक्ष भर रह गई हूँ। न फल, न फूल, न शाख, ना पत्ती, न छाया, न ठंडक, ऐसे सूखे वृक्ष की शरण में भला कौन आना पसंद करेगा? धरती ने भी जैसे अपने स्रोत समेट लिए हैं, तभी तो मेरी जड़े तरावट को तरसती, धरती छोड़ने लगी

हैं ऐसा सूखा छायारहित, ठूँठ वृक्ष तो बस जलाने के काम का रह जाता है, लपटों के बीच कोयला बनती काली काया।"[9]

मनुष्य, प्रकृति के माध्यम से सिर्फ अपनी खुशियों को ही व्यक्त नहीं करता बल्कि अपने भीतर की कुंठा, पीड़ा, तनाव, दर्द को भी व्यक्त कर देता है। अपनी सारी तकलीफें प्रकृति को सुना कर स्वयं को बहुत हल्का महसूस कर पाता है।

"शाल्मली के अंदर मीलों तक सूखे वृक्षों का वन फैल गया है। गिरती गर्म धूप और सर पर कोई छाया नहीं। इच्छा का कोई मृगछौना नहीं। सामने देखो, तो मीलों तक सूखे तनों की भूलभुलैया, ऊपर आकाश की तरफ दृष्टि घुमाओ, तो मृत टहनियों का जाल फैला नजर आता है। अमृत खोजा, जो मिल न पाया और संजीवनी बूटी का पता उसे नहीं मिला, जो इस सूखे जड़ों वाले वृक्षों को अमृत-पान कराके अमर बना देती। अब सूखी लकड़ियों के इस वन में वह कब तक मृगणा बनी भटकती रहेगी?"[10]

प्रकृति सदैव मनुष्य को जीवन का अर्थ समझाती है तो कभी जीवन दर्शन बनकर मनुष्य का मार्गदर्शन करती है। प्रकृति, मनुष्य को परिपक्व बनाती है तथा उसे स्वयं को जानने के लिए समझ विकसित करती है। मनुष्य भी अपनी वेदना, पीड़ा को प्रकृति के समीप जाकर अभिव्यक्त कर पाता है। प्रकृति और मनुष्य के बीच का अंतर संबंध बहुत ही गहरा है।

"पुरुष भूमि है, आकाश है, हवा है, अग्नि है, जल है, लेकिन स्त्री बीज बनकर धरती के नीचे दबना जानती है, वक्त आने पर अंकुरित होती है और फिर शाखा-प्रशाखाओं में फैलती हुई पूरा जंगल हो जाती है।"[11]

स्त्री और पुरुष के बीच के अंतर संबंधों को प्रकृति के माध्यम से, दार्शनिकता के साथ बहुत ही खूबसूरती से छिन्नमस्ता उपन्यास की लेखिका प्रभा खेतान के द्वारा व्यक्त किया गया है। लेखिका ने इन पंक्तियों में स्त्री-पुरुष के संपूर्ण जीवन-सार को परिभाषित कर दिया है बहुत ही मधुरता से। प्रकृति, मनुष्य को जीवन-दर्शन का बोध कराती है। हम कह सकते हैं कि मनुष्य जीवन का सम्पूर्ण सार प्रकृति में ही निहित होता है। मनुष्य स्वार्थवश देख नहीं पाता है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि मानव और प्रकृति के अंतर्संबंधों को समकालीन हिंदी उपन्यासों में लेखकों ने बहुत ही मनोवैज्ञानिक तथा खूबसूरती के साथ व्यक्त किया है। प्रकृति के बिना मानव का वजूद (अस्तित्व) शून्य है।

प्रकृति ने अपने अनेकानेक स्वरूपों से मानव जीवन को सुखी तथा संतुलित बनाया है इसके बावजूद आज का भौतिकवादी, सुख की कामना में स्वार्थी प्रवृत्ति में तल्लीन मानव,

प्रकृति स्वरूपों का दोहन और उसे क्षति पहुँचाता आया है और जब-जब मनुष्य अपनी हदें पार करता है तब-तब प्रकृति अपनी विकराल स्वरूप का दर्शन मानव जगत को कराती आई है।

प्रकृति, मानव चेतना को हमेशा से प्रभावित करती रही है इसमें कोई दो राय नहीं लेखकों ने अपनी रचनाओं में बड़ी महीनता के साथ इस बात को साबित भी किया है। अज्ञेय की कविता 'हरी घास पर क्षण भर' भौतिकवादी जगत से ऊबकर प्रकृति के सानिध्य में सुकून की अनुभूति कराती है।

संदर्भ :

1. कमलेश्वर, वही बात, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2004, पृ. 10
2. कमलेश्वर, वही बात, पृ. 15
3. वर्मा, रवीन्द्र, पत्थर ऊपर पानी, सरस्वती विहार प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2019, पृ. 23
4. वर्मा, रवीन्द्र, पत्थर ऊपर पानी, सरस्वती विहार प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण, 2019, पृ. 78
5. शर्मा, नासिरा, शाल्मली, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2016, पृ. 17
6. शर्मा, नासिरा, शाल्मली, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2016, पृ. 17
7. शर्मा, नसिरा, शाल्मली, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण, 2016, पृ. 136
8. वही, पृ. 64
9. वही, पृ. 9
10. वही, पृ. 159
11. खेतान, प्रभा, छिन्नमस्ता, राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, ग्यारहवां संस्करण, 2022 पृ. 181

■

हिंदी उपन्यासों में व्यक्त पर्यावरणीय प्रदूषण एवं खतरे

(विशेष सन्दर्भ : 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ')

अक्षतानंद पाण्डेय
शोधार्थी
राजीव गाँधी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
अम्बिकापुर, सरगुजा (छ.ग.)

प्रस्तावना

औद्योगिकीकरण, नगरीकरण तथा विकास के नये-नये आयाम स्थापित कर मनुष्य सम्पूर्ण विश्व में अपनी सर्वोच्चता तो सिद्ध कर ले रहा है,साथ ही साथ वह इस विकास को हासिल करने में अपनी प्रकृति का दोहन भी उतनी ही तीव्र गति से कर रहा है। प्रकृति के अनियंत्रित दोहन से हमारा पर्यावरण एवं उसमें निवास करने वाले छोटे से लेकर बड़ा जीवधारी भी बुरी तरह से प्रभावित हो रहा है। पर्यावरण को हम अपने दैनिक क्रियाकलापों व हर छोटी-बड़ी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के उद्देश्य से भी अत्यधिक प्रभावित करते हैं।

औद्योगिकीकरण एवं तीव्र विकास के नाम पर मानव द्वारा अपने पर्यावरण के साथ किये जा रहे इस असामान्य व्यवहार से पर्यावरण किस तरह प्रभावित हो रहा है , इसे हम निरंतर देख व महसूस कर रहे हैं। मनुष्य अपनी सुख-सुविधाओं के विस्तार हेतु जहाँ एक ओर अतिशय प्राकृतिक संपदाओं का दोहन कर, अपनी समस्त आवश्यकताओं को पूरा कर रहा है, तो वहीं दूसरी ओर अपने देश या राज्य को विकासशील से विकसित की श्रेणी में देखने की उसकी उच्चाकांक्षाओं को अनेक प्राकृतिक वस्तुओं का दोहन कर ,पूरा कर रहा है। वह वर्षों से सुंदर एवं हर-पल आनंदित करने वाली प्रकृति को अपनी सुविधा विस्तार और अपने को सर्वोच्च दिखाने में पल-पल नष्ट कर रहा है।

प्रकृति या पर्यावरण के साथ मनुष्य के द्वारा किये जा रहे अनैतिक व्यवहार हमें निरंतर देखने को मिलते रहते हैं, चाहे वह-वनाग्नि के रूप में हो, प्राकृतिक तत्वों जैसे-लौह-

अयस्कों, सोना, एल्युमीनियम, यूरेनियम आदि के उत्खनन के रूप में हो, किसी राजमार्ग के निर्माण के समय पेड़-पौधों की अवैध व अंधा-धुंध कटाई के रुप में हो या अन्य विभिन्न माध्यमों से मनुष्य अपने प्रकृति को नष्ट करने में हमेशा ही लगा रहता है। मनुष्य के द्वारा पर्यावरण के प्रति किये जाने वाले इस व्यवहार के दुष्परिणाम हमें-असमय वर्षा ,सूखा, बाढ़, समुद्र का जल स्तर निरंतर बढ़ना, आदिम जनजातियों का अपने मूल स्थान से विस्थापित होने को मजबूर होना, आदि अनेक रूपों में इसके दुष्परिणाम हमें देखने को निरंतर मिल रहे हैं।

चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और उसके द्वारा किये जाने वाले सभी क्रियाकलाप समाज में ही घटित होते हैं और उसकी छाप भी समाज पर अवश्य ही पड़ती है। हमारा समाज भी विभिन्न बुद्धिजीवी वर्गों के द्वारा संचालित होता है। समाज या वातावरण में घटित होने वाले हर एक घटना या क्रियाकलापों का प्रभाव हमें साहित्य के माध्यम से भी देखने को मिलता है ,क्योंकि साहित्य समाज का दर्पण होता है और यह वही दिखाता है जो समाज में घटित होता है। समाज या प्रकृति में घटित होने वाली हर घटना को समय-समय पर विभिन्न साहित्यकारों ने अपनी-अपनी साहित्यिक कृतियों के माध्यम से दिखाने का प्रयास निरंतर ही किया है और निरंतर करते रहेंगे।

मनुष्य के द्वारा अपने पर्यावरण के प्रति किये जाने वाले इस असामान्य व्यवहार को भी हिंदी कथा साहित्य के विभिन्न साहित्यकारों ने अपनी साहित्यिक कृतियों के माध्यम से दिखाने का प्रयास किया है। हिंदी के कुछ प्रमुख उपन्यासकारों ने अपनी कृतियों 'एक ब्रेक के बाद' (अलका सरावगी, 2008) 'रह गई दिशाएँ इस पार' (संजीव, 2011) , 'कठ गुलाब' (मृदुला गर्ग, 1996) 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' (महुआ माजी, 2012), ग्लोबल गाँव के देवता (रणेंद्र)—आदि कथाकारों ने, विभिन्न प्राकृतिक समस्याओं एवं घटनाओं पर आधारित उपन्यास की रचना कर, इसे साहित्य के माध्यम से दिखाने का प्रयास किया है। कथाकार रणेंद्र ने 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास के माध्यम से न केवल एक प्रदेश में निवासरत आदिवासियों के जीवन-संघर्ष को चित्रित किया है बल्कि सम्पूर्ण आदिवासी समुदाय की जीवन-शैली और समस्याओं को दिखाया है।[1] 'सखुवापाट छोड़कर बाकी सारे खदानों में दूसरे ही दिन सबेरे से काम शुरू हो गया। सखुवापाट हिंडाल्को माइंस लेबर बुधनी के साथ बीच सड़क पर धरने में बैठ गए थे।'

हिंदी उपन्यासों में व्यक्त पर्यावरणीय प्रदूषण एवं खतरे (विशेष सन्दर्भ : मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ) विषयक प्रस्तुत शोध पत्र में पर्यावरणीय संकट की एक समस्या को उपन्यासकार महुआ माजी ने अपने उपन्यास 'मरंग गोड़ा-नीलकंठ हुआ' (2012) के माध्यम

से दिखाने का प्रयास किया है। महुआ माजी के इस उपन्यास में मुख्यत : विकिरण, प्रदूषण व विस्थापन से संघर्ष करते हुए आदिवासियों की कथा कही गयी है। 'मरंग गोड़ा-नीलकंठ हुआ' उपन्यास में महुआ माजी ने 'सिंहभूम' क्षेत्र के 'मरंग गोड़ा' नामक स्थान से यूरेनियम नामक प्राकृतिक तत्व के खदान से निकलने वाले सह-उत्पाद 'रेडियोएक्टिव' विकिरण से प्रभावित आदिवासी क्षेत्र का सजीव चित्र प्रस्तुत किया है। आदिवासियों के वास स्थान को विकास के नाम पर उजाड़ देने एवं प्राचीन रहवासियों को अन्यत्र विस्थापित हो कर जीवन जीने को मजबूर कर देने वाली अत्यंत मार्मिक घटनाओं का वर्णन महुआ माजी ने अपने प्रस्तुत उपन्यास में किया है।

जंगल में अपना जीवन-यापन करने वाले आदिवासियों के विस्थापन और संघर्ष की यह गाथा न केवल भारत वर्ष में बसे गाँवों, जंगलों की है बल्कि यह सम्पूर्ण विश्व के अनेक देशों यथा-अमेरिका, ऑस्ट्रेलिया, जापान तथा अन्य द्वीपों में निवास करने वाली आदिवासियों की जीवन गाथा है। आज विकास के नाम पर यूरेनियम के साथ-साथ अन्य प्राकृतिक खनिज अयस्कों के उत्खनन और दोहन से आदिवासियों के वास स्थल को विभिन्न प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है,चाहे वह विभिन्न रेडियोएक्टिव तत्वों के हानिकारक एवं जानलेवा विकिरण के प्रभाव का हो, या उन्हें मूल निवास स्थल से विस्थापित होकर अन्यत्र जाने को मजबूर कर देने जैसी हृदय विदारक तथा अमानुसिक घटनाओं के घटित होने से हो।

मनुष्य अपनी प्रकृति के साथ-साथ अपने विनाश का भी खुद कारण बनता जा रहा है। यूरेनियम के इस्तेमाल से प्रकृति में फैल रहे हानिकारक एवं जानलेवा रेडियो एक्टिव विकिरण के दुष्परिणाम हमें सम्पूर्ण मानव-जाति विशेषकर जंगलों एवं प्राकृतिक अयस्कों के उत्खनन वाले क्षेत्रों एवं उसमें निवासरत आदिवासियों पर ही विशेष रूप से देखने को मिलता है। महुआ माजी का 'मरंग गोड़ा-नीलकंठ हुआ' उपन्यास विकिरण, प्रदूषण और विस्थापन की समस्या पर लिखा एक अद्वितीय उपन्यास हैं। प्रस्तुत उपन्यास में सगेन के ततंग (दादाजी) सगेन को पत्थरों का डॉक्टर बनाना चाहते थे। यह वो समय था जब मरंग गोड़ा की स्थिति एकदम सामान्य सी थी कोई भी असामान्य सिर वाला व्यक्ति नहीं था। बीमारी की भयावह स्थिति से कोई भी पीड़ित नहीं था ,सबके जीवन सुखमय कट रहे थे।[2] 'सगेन को अपनी मातृभाषा के शब्द सामर्थ्य पर बड़ा गर्व रहा है। अक्सर मित्र मण्डली में कहता है—'अगर कोई पेड़ या उसका हिस्सा गिरा हो तो तुम लोग कहोगे—एक पेड़ गिर गया या टहनी टूट गयी।' प्रस्तुत उपन्यास में एशिया के बड़े एवं सघन साल वृक्षों के जंगल 'सारंडा' में निवास करने वाले 'सगेन' के पूर्वजों की कहानियाँ यों कहें उन दिनों की हकीकत

ही थीं।[3] 'वर्तमान और अतीत के झूले में झूलता हुआ ...आसपास के साल नाचते रहते थे उसकी निगाहों में.....ऊँचे ऊँचे ,मोटे मोटे साल!'। सारंडा का यह जंगल ही जीवन यापन के लिये इन्हें प्राप्त हुआ था। सारंडा या यह घना जंगल साल वनों से ढँका था।[4] 'साल के पेड़ों में अपनी लम्बाई के छः गुना अधिक ऊँचाई तक के इलाके को ठंडा रखने की क्षमता होती है।' सारंडा के जंगलों में लम्बा समय बिताने के बाद वे एक दिन 'मरंग गोड़ा' की ओर रवाना हुए। 'मरंग गोड़ा' झारखण्ड के सिंहभूम क्षेत्र अंतर्गत यूरेनियम की खदान है। 'मरंग गोड़ा-नीलकंठ हुआ' उपन्यास में उपन्यास के मुख्य पात्र 'सगेन' एवं उसके 'ततंग' (दादा) के जीवन एवं उनकी तीन पीढ़ियों में घटित होने वाली समस्याओं को दिखाने का प्रयास किया गया है। उपन्यास में 'जम्बीरा' का सम्पूर्ण जीवन घने जंगलों में ही गुजरता है और इन्हीं जंगलों में निवास करने और अपने रहने के लिये अनेक प्रकार से घरों को रहने लायक बनाया जाता था।[5] 'सबसे अंत में दरवाजा बुना गया। चटाई की तरह। पतली लकड़ियों को एक दूसरे के ऊपर नीचे से फंसा फंसा कर निकाला गया। फिर गोबर मिट्टी से अच्छी तरह छोप दिया गया दरवाजे को ताकि बाहर से कुछ दिखे नहीं।' अपने जीविकोपार्जन हेतु काम-काज की तलाश में 'जम्बीरा' सारंडा के जंगलों से निकलता हुआ 'मरंग गोड़ा' पहुँच जाता है। मरंग गोड़ा भी ऐसे समय में पहुँचते हैं, जब 'सुकुरमुनी' माँ बनने वाली होती है और उसे कहीं न कहीं मेंजारी का डर भी लगा रहता था, जब से उसने मेंजारी का वह दलदल वाला हादसा देखा था। तभी तो यहाँ पहुँचने पर कहती है।[6] 'सारंडा में रहूँगी तो एक न दिन वह मुझे भी मार डालेगी और मेरे होने वाले बच्चे को भी। इसी जंगल में तो भटकती रहती है उसकी आत्मा।' इस 'मरंग गोड़ा' में स्थित यूरेनियम की खदान में वह नौकरी करता है। अपने खुशहाल जीवन के कुछ ही समय बाद 'सगेन' के ततंग (दादा) को अचानक खून की खांसी आती है, शरीर में काले-काले धब्बे हो जाते हैं, देखते ही देखते वह काला धब्बा बजबजाता हुआ भयानक घाव का रूप ले लेता है। इस घाव के कारण एक दिन ऐसी स्थिति आती है कि इस भयानक शारीरिक कष्ट व असहनीय दर्द के कारण सगेन के ततंग (दादा) जम्बीरा शरीर को छोड़ देता है। परिवार के अन्य सदस्य भी एक-एक करके सगेन की दादी, भाई, पिता भी इस अज्ञात व अंजान बीमारी के कारण अपना-अपना शरीर त्यागते जाते हैं। यह अज्ञात बीमारी न केवल सगेन के घर पर थी, बल्कि सम्पूर्ण 'मरंग गोड़ा' के प्रत्येक परिवार में आये दिन ऐसी अज्ञात व अंजान बीमारी के कारण लोग काल के गाल में समाये जा रहे थे। इस अदृश्य और अज्ञात बीमारी की वजह संपूर्ण आदिवासी समाज अपनी अशिक्षा, अज्ञानता और अंधविश्वास के कारण भूत-प्रेत, जादू-टोना या डायन जैसी शक्तियों को मानते थे तथा इसके पीछे घटित होने वाली पूरी घटना को अपने ही परिवारजनों के द्वारा किये जाने

का शक या विश्वास करते थे। प्रस्तुत उपन्यास में सगेन की माँ उसकी ताई पर इसी तरह अपनी अशिक्षा और अंधविश्वास के कारण डायन होने का संदेह करती है। इन अशिक्षित और भूत-प्रेत, जादू-टोना या डायन जैसी शक्तियों में विश्वास करने वाली आदिवासी जनजातियों को समझा पाना मुश्किल था कि इस अज्ञात और अदृश्य बीमारी का कारण 'मरंग गोड़ा' में स्थित 'यूरेनियम' का उत्खनन और तत्पश्चात निकलने वाले कई हानिकारक सह-उत्पाद इसके प्रमुख कारण हैं। इन खतरनाक और हानिकारक तत्वों के कारण 'मरंग गोड़ा' के अनजान और अशिक्षित आदिवासी कैंसर, टी.बी. या किसी के सिर का विकास, शरीर के मुकाबले में या तो बहुत बड़ा या बहुत छोटा होना आदि प्रमुख असामान्यतायें थीं। 'मरंग गोड़ा' उपन्यास का प्रमुख पात्र सगेन इस भयंकर और जानलेवा यूरेनियम के विकिरण के प्रभाव से होने वाले भयावह रोगों से अत्यधिक पीड़ा महसूस करता है तथा वह इस यूरेनियम के खनन के विरुद्ध अपनी आवाज उठाना शुरू करता है। सगेन तथा 'मरंग गोड़ा' के आदिवासियों की ,यूरेनियम खनन से निकलने वाले हानिकारक विकिरण के विरुद्ध आवाज को वैश्विक स्तर पर सगेन के सहयोगी आदित्यश्री के द्वारा निर्मित एक लघु फिल्म के माध्यम से जापान जैसे देश के फिल्म महोत्सव में प्रस्तुत किया गया। तभी वहाँ के लोगों ने भी इस यूरेनियम के खनन की भयावहता को महसूस भी किया। इस दौरान सगेन और आदित्यश्री ने जापान को करीब से देखा।[7] 'जापान की धरती पर वह आखिरी रात थी। अगले ही दिन उसकी वापसी की टिकट थी।' मरंग गोड़ा उपन्यास में महुजा माजी ने सगेन एवं आदित्यश्री नामक पात्रों के माध्यम से यूरेनियम के उत्खनन और उससे होने वाले हानिकारक और जानलेवा दुष्प्रभावों को तथा उससे पीड़ित आदिवासियों की पीड़ा को न सिर्फ वैश्विक स्तर पर रखा बल्कि इसके माध्यम से यह भी तथ्य प्रकाश में आया कि न केवल 'मरंग गोड़ा' के आदिवासी समुदाय इस समस्या से पीड़ित हैं, बल्कि सम्पूर्ण विश्व के अनेक विकसित देश यथा—साउथ अफ्रीका, ऑस्ट्रेलिया, जापान आदि देशों के जंगलों में निवास करने वाली आदिम जनजातियाँ भी यूरेनियम के उत्खनन एवं तत्पश्चात होने वाले हानिकारक दुष्प्रभावों से अछूते नहीं हैं। सगेन और आदित्यश्री ने जापान के कुछ समाजसेवियों के माध्यम से जापान के कई शहरों को देखा।[8] .....और इस प्रकार आदित्यश्री और उसकी डॉक्युमेंट्री ने जापान के विभिन्न शहरों का दौरा आरंभ किया। क्योटो ....ओसाका .....नागोया ...जैसे कई शहरों में घूमना था आदित्यश्री को। सगेन और आदित्यश्री ने जापान के कई शहरों में घूमा, इस दौरान इनके साथ में प्रज्ञा ने इन्हें काफी सहयोग प्रदान किया।[9] सगेन और आदित्यश्री से भी उनके विकिरण विरोधी आन्दोलन का वृतांत सुनकर उसमें रूचि दिखलाई थी प्रज्ञा ने। कहा था—''माओवाद पर शोध पूरा होने पर अगर भविष्य में कभी मौका मिला

तो भारत आकर मरंग गोड़ा पर अवश्य शोध करूंगी।'' जहाँ एक ओर हम यूरेनियम के अनुमानित भण्डार की बात करें तो सम्पूर्ण विश्व के लगभग 63 प्रतिशत उत्पादक देशों में कनाडा, ऑस्ट्रेलिया और कजाकिस्तान में इसके भण्डार सर्वाधिक मिले हैं। वहीं हमारे देश में यूरेनियम की उपलब्धता—आँध्रप्रदेश, तेलंगाना, झारखण्ड, राजस्थान, कर्नाटक, छत्तीसगढ़, उत्तरप्रदेश आदि प्रदेशों में भी प्रमुखता से मौजूद हैं। यूरेनियम एक सफेद-सिल्वर रंग का रेडियोएक्टिव तत्व है तथा 'यूरेनियम-235' यूरेनियम का एक महत्वपूर्ण आइसोटोप है जिसका इस्तेमाल परमाणु संयंत्रों में ईंधन के स्रोत के रूप में किया जाता है। साथ ही इसके माध्यम से पानी का माध्यम बनाकर विद्युत का उत्पादन भी किया जाता है। यूरेनियम के इसी रूप से परमाणु बम बनाकर इसका उपयोग जापान के हिरोशिमा को तबाह करने में किया गया था। यूरेनियम में पाए जाने वाले हानिकारक एवं रासायनिक तत्व मनुष्य के किडनी, श्वसन (फेफड़ों) को भारी नुकसान पहुँचाते हैं साथ ही इनसे कैंसर और किडनी से संबंधित गंभीर रोग भी हो सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यूरेनियम जितना उपयोगी है ,उतना ही हानिकारक भी हो सकता है। मरंग गोड़ा में निवासरत आदिवासी समुदाय के लोगों को होने वाली गंभीर बीमारियों में यही यूरेनियम के सह-उत्पाद ही जिम्मेदार थे।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत 'हिंदी उपन्यासों में व्यक्त पर्यावरणीय प्रदूषण एवं खतरे' (विशेष सन्दर्भ : मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ) विषयक शोध पत्र में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि मानवीय क्रियाकलाप अपने स्वार्थ की पूर्ति तथा विकास की चकाचौंध को प्राप्त करने लिये किस तरह से पर्यावरण का विनाश कर रहा है। प्रस्तुत शोध पत्र 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में प्रसिद्ध समाजसेवी महुआ माजी द्वारा आदिवासी बाहुल्य 'मरंग गोड़ा' के यूरेनियम के उत्खनन और तत्पश्चात उसके दुष्प्रभाव से किस तरह मरंग गोड़ा के आदिवासी प्रभावित हो रहे हैं ,उनके स्वास्थ्य और आने वाले वंश पर कितना विपरीत प्रभाव पड़ रहा है ,यह दिखाने का प्रयास किया गया है। किस तरह से सम्पूर्ण विश्व इस पर्यावरणीय खतरे का सामना कर रहा है। तभी तो माजी ने लिखा है। 'यूरेनियम को धरती के भीतर ही पड़े रहने दो। उसे मत छेड़ो। वरना साँप की तरह हम सबको डंस लेगा।'[10] अशिक्षित, आदिवासी समाज किस तरह से 'यूरेनियम' जैसे खतरनाक और जानलेवा प्रदूषण का शिकार हो रहा है और हम सब उसके ही विनाश का कारण बनकर विकास के नये-नये कीर्तिमान स्थापित कर रहे हैं। अपने पर्यावरण के साथ-साथ हमें भी अपने अस्तित्व को यदि बचाना है तो समय रहते हमें जागरूक होकर, पर्यावरणीय विनाश को रोकना होगा और यह जागरूकता तथा पर्यावरण को बचाने का प्रयास स्थानीय से वैश्विक स्तर पर किये जाने की आवश्यकता है तभी हम अपने साथ-साथ पर्यावरण के अस्तित्व को भी बचा पायेंगे।

सन्दर्भ :

1. रणेंद्र : 'ग्लोबल गाँव के देवता', चौथा संस्करण, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन ,नई दिल्ली, 2017, पृष्ठ 56
2. माजी, महुआ : मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, प्रथम संस्करण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2015, पृष्ठ 11
3. वही, पृष्ठ 12
4. वही, पृष्ठ 13
5. वही, पृष्ठ 82
6. वही, पृष्ठ 83
7. वही, पृष्ठ 214
8. वही, पृष्ठ 215
9. वही, पृष्ठ 326
10. वही, पृष्ठ 326
11. वही, पृष्ठ 402

■

प्राकृतिक संसाधन का दोहन और पर्यावरणीय संकट

डॉ. क्रेसेन्सिया टोप्पो
सहा. प्राध्यापक अर्थशास्त्र, शास. एस.पी.एम. महाविद्यालय
सीतापुर, जिला-सरगुजा छ.ग.
डॉ. सुशील कुमार टोप्पो
सहा. प्राध्यापक समाजशास्त्र, शास. एस.पी.एम. महाविद्यालय
सीतापुर, जिला-सरगुजा छ.ग.

प्राकृतिक संसाधन वे संसाधन हैं जो प्रकृति से प्राप्त होते हैं। पर्यावरण से प्राप्त हवा, पानी, मिट्टी, वनस्पति, खनिज, लकड़ी, तेल, पवन ऊर्जा आदि। ये प्रत्यक्ष रूप से पर्यावरण से प्राप्त किये जाते हैं। मूल रूप से प्राकृतिक संसाधनों को दो भागों में जाना जा सकता है, प्रथम नवीकरणीय संसाधन और अनवीकरणीय संसाधन। नवीकरण संसाधन वे संसाधन हैं, जिनका प्रयोग बार -बार किया जा सकता है और कभी समाप्त भी नहीं होते। जैसे— मिट्टी, सूर्य की रोशनी एवं पानी। यद्यपि यह भी सत्य है कि कुछ परिस्थितियों में पानी एवं मिट्टी का आसानी से नवीकरण नहीं किया जा सकता है। अनवीकरणीय संसाधन वे संसाधन हैं जो नवीकरण नहीं होते या नवीकरण के लिए लम्बा समय लगता है, जैसे खनिज पदार्थ कोयला एक अनवीकरण प्राकृतिक संसाधन हैं, पर्यावरण नवीकरण संसाधन ऐसे भी होते हैं जो पर्यावरण में हमेशा रहते हैं और कुछ ऐसे भी संसाधन होते हैं जो सीमित और अंततः भविष्य में समाप्त हो जाने की संभावना रखते हैं।

सभ्यता के विकास के साथ साथ मानव संस्कृति उन्नत होती गयी और मानव द्वारा नई-नई चीजों का अविश्कार होता गया। जिसके कारण कच्चे माल की माँग में भी वृद्धि हुई। प्राकृतिक संसाधनों के दोहन से तेजी से समाप्ति की गंभीर समस्या बन रही है। अर्थात् संसाधनों के नवीकरण की तुलना में तेजी से उपयोग किया जा रहा है। इन संसाधनों की कमी से उत्पन्न हानियों को जाने बिना ही इसका अत्याधिक तेजी से उपयोग करते जा रहें हैं। जिसका पर्यावरण के संरक्षण सदुपयोग एवं पर्यावरण संतुलन पर विपरीत प्रभाव दूरगामी होगा।

तीव्र औद्योगीकरण और मानव की भौतिकवादी, उपभोक्ता वादी संस्कृति के कारण प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन हो रहा है। जंगल काटे जा रहे हैं उद्योगों के कारण खेतों की उर्वरता खत्म हो रही है, हरियाली पर कुल्हाड़ी चलने के कारण पृथ्वी मरूस्थल में बदल रही है। उद्योगों के लिए जल दोहन के कारण एवं खेतों में रासायनिक के प्रयोग से पर्यावरण संतुलन बिगड़ रहा है। पिछले कुछ वर्षों से विश्व के लगभग सभी देशों द्वारा नागरिकों की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति में पर्यावरण को संकट में डाला जा रहा है। प्रकृति के संसाधन सीमित मात्रा में हैं इनके उचित प्रबंधन की आवश्यकता है। पर्यावरण संकट एक वैश्विक समस्या है विश्व के अमीर एवं विकासशील सभी देशों को प्राकृतिक संसाधनों के दोहन में सामंजस्य स्थापित करने की आवश्यकता है।

भारत के आंकड़े देखें तो पता चलता है कि कार्बन डाई आक्साइड उत्सर्जन के मामले में हमने अपनी निर्धारित सीमा पार कर ली है। प्रति व्यक्ति एक वर्ष कार्बन उत्सर्जन के लिए 1.6 टन की सीमा तय की गई है जबकि भारत हर वर्ष प्रति व्यक्ति 1.7 टन कार्बन उत्सर्जन कर रहा है। मानव के स्वस्थ, सुखी एवं सम्मानजनक जीवन के लिए ही पर्याप्त संसाधनों की आवश्यकता होती है लेकिन प्राकृतिक संसाधनों का दोहन इतना अधिक न हो कि पर्यावरण संकट उत्पन्न हो जाए। विश्व में अमेरिका, यू.के. और कनाडा ऐसे देश हैं जो सम्पन्न हैं वहाँ के लोगों को सभी बुनियादी सुविधाएँ तो प्राप्त हैं पर उन्होंने अपने और प्रकृति के बीच सामंजस्य की जो सीमा है उसे पार कर दिया है तब भी सामाजिक लाभ उतना नहीं मिला है।

पर्यावरण संकट

परिवर्तन प्रकृति का नियम है। विकास की दौड़ में एक दूसरे से आगे निकलने की लालसा प्रकृति को एक भोग्या वस्तु बना रही है। प्रकृति से हमें मुफ्त में संसाधन प्राप्त होते हैं यानि प्रकृति हमसे कुछ नहीं लेती। आधुनिक जीवन शैली, औद्योगिक विकास की प्रतियोगिता में प्रकृति का अति दोहन हो रहा है। यही कारण है कि प्रकृति के सभी अंगों जैसे—जल, वायु, जमीन, जंगल, जानवर, मनुष्य, आकाश के अस्तित्व का संकट खड़ा हो गया है। बुद्धिजीवी मनुष्य सिर्फ और सिर्फ वर्तमान को जीने लगा है उसकी भावी पीढ़ी के लिए प्राकृतिक संसाधनों की संरक्षण की कोई जिम्मेदारी नहीं है।

मानव के प्रकृति के प्रति बदलते व्यवहार की ओर इंगित करते हुए हिन्दी के सुपरिचित कवि पंकज चतुर्वेदी की यह कविता जैसे विकास के वर्तमान मॉडल को चुनौती दे रही है-

चाहतें ! कितनी छोटी है उनकी
वे चूस लेना चाहते हैं पेड़ों से हरापन
पहाड़ों से दृढ़ता, नदियों से प्रवाह इनके बिना कैसे लगेगी दुनियाँ ?

प्राकृतिक पर्यावरण में वे तत्व और परिस्थितियां जिनमें लोगों या सम्पत्ति को नष्ट करने की क्षमता होती है पर्यावरण संकट कहलाती है। आपदा कहलाती है प्राकृतिक आपदाओं में भूकम्प, ज्वालामुखी, बाढ़ सूखा, चक्रवात शामिल है। पर्यावरण संकट प्रत्यक्ष रूप से मानव जनित नहीं होते। ये मानव पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालते हैं। ये प्रायः ऊर्जा के प्रचण्ड निर्मुक्ति से संबद्ध होते हैं। ये भविष्यवाणी से परे होते हैं।

मानवीय कारकों से भी पर्यावरण संकट निर्मित होते हैं जैसे—पर्वतीय क्षेत्रों में सड़क निर्माण, मानव बस्तियों के निर्माण के लिए जंगलों का नाश, अनुपयुक्त भवन सामग्री के प्रयोग से भूकम्प, भूस्खलन, दलदली भूमि का अपवाहन जैसे मानवीय कारक से बाढ़ में वृद्धि हो रही है। मानव निर्मित संकट एवं पर्यावरण संकट में भेद करना कठिन हो गया है। आज की भौतिक घटनाओं पर मानवीय क्रियाओं का प्रभाव पड़ता है, जो आगे चलकर भावी भौतिक घटनाओं की प्रकृति पर भी प्रभाव पड़ेगा।

1. **आर्थिक प्रभाव**—लैंडफिल की सफाई, लुप्तप्राय जीवों के संरक्षण जैसे मामले में आर्थिक प्रभाव हो सकता है।
2. **ओजोन परत का क्षरण**—ओजोन पृथ्वी को हानिकारक पराबैंगनी किरणों से बचाता है। जैसे-जैसे यह समाप्त होगा, हानिकारक विकिरणों को वापस पृथ्वी पर छोड़ देगा।
3. **जैव विविधता को नुकसान**—पारिस्थितिकी तंत्र के संतुलन को बनाए रखने के लिए जैव विविधता महत्वपूर्ण है वनों की कटाई, भूतापन, जनसंख्या वृद्धि, प्रदूषण, जैव विविधता के नुकसान के प्रमुख कारण हैं।
4. **मानव स्वास्थ्य पर प्रभाव**—पर्यावरण संकट का प्रभाव मानव स्वास्थ्य पर भी हो रहा है, श्वसन संबंधी रोग, चर्म रोग आदि।
5. **पर्यटन उद्योग को नुकसान**—जैव विविधता की हानि, विषाल लैंडफिल, वायु एवं जल प्रदूषण, हरित आवरण के नुकसान से पर्यटन उद्योगों को भी नुकसान हो रहा है।

पर्यावरण के लगातार बिगड़ते संतुलन से निर्मित परिस्थितियों के कारण कुछ समय पहले संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव एंटोनियों गुनटरेस को यह अपील करना पड़ा कि—''दुनिया में कुछ समय के लिए पर्यावरणीय आपात स्थिति लागू कर देना चाहिए। इस प्रकार के अपीलीय कथन से ऐसा दृष्टिगोचर होता है कि प्रकृति के प्रति मानव का व्यवहार क्रूरता का रहा है। आज आवश्यकता है अपनी भौतिक वादी संस्कृति को त्याग कर या सीमित कर प्रकृति के साथ नैतिक संबंध बनाने की।

पर्यावरणीय संकट चाहे प्राकृतिक हो या मनुष्यकृत कारण, हमारे लिए जरूरी है कि हम प्राकृतिक प्रक्रियाओं में हस्तक्षेप नहीं करें ताकि हमारे साथ हमारी भावी पीढ़ी भी सुखद एवं निरापद जीवन बिता सकें। यही समय है कि हम प्रकृति के प्रति भौतिकवादी भोगवादी संस्कृति छोड़कर नैतिकवादी रवैये अपनावें। अर्थववेद के ''भूमि सूक्त'' में मनुष्य और प्रकृति के नैतिक साहचर्य को बेहद खूबसूरती से संजोकर रखा गया है।

सत्यं बृहदृतमुग्नं दीक्षा तपों ब्रह्म यक्षः पृथ्वी धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नुयुरूलोकं पृथ्वी कृणोतु।।

पर्यावरणीय संकट, विपदा प्राकृतिक कारणों से हो या मानव जनित इसका प्रभाव पर्यावरण के सभी अभिन्न अंगों को भुगतना पड़ता है। इसमें सर्वाधिक प्रभाव मानव जीवन पर होता है। यह सत्य है कि प्राकृतिक कारणों का पूर्वानुमान एवं भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। लेकिन मानवीय कारणों से निर्मित संकट को रोका जा सकता है। पर्यावरण के संकट को मानवीय उपाय से बचाया जा सकता है ये उपाय निम्नलिखित है—

1. बड़े-बड़े बांधों एवं जलाशयों के स्थान पर छोटे जलाशय बनाया जिसमें जल के दबाव के कारण भूकम्प न आ सके।
2. वैज्ञानिकों की सलाह पर भूकम्प वाले क्षेत्र में कोई खनन एवं बांध बनाना आदि कार्य न हो।
3. चक्रवात वाले क्षेत्र में सघन वन लगाकर उनके प्रभावों को कम किया जा सकता है।
4. भूमि को ढीलापन होने से बचाने के लिए नारा, लेमन ग्रास मैपिट किकियू आदि घास लगायी जाये।
5. सहायक नदियों व धाराओं पर अनेक छोटे-छोटे बांध बनाये जाये जिससे कि वे मुख्य नदी में बाढ़ का खतरा कम करने में सहायक हो।
6. नदियों के उत्तरी क्षेत्रों में अनेक छोटे छोटे जल संग्रहण क्षेत्र बनाये जा सकते हैं इससे बाढ के वेग को कम करने में मदद मिलेगी साथ ही सूखे के महीने में जल दे सके।
7. नदियों के उपर सघन वन लगाकर भूक्षरण पर नियंत्रण किया जा सकता है।
8. पर्वतीय क्षेत्रों में सड़क निर्माण में विष्फोटकों का उपयोग कम करके भू स्खलनों पर नियंत्रण किया जा सकता है।
9. नदियों के किनारे बसने वाली बस्तियों को अतिक्रमण से रोका जाये जिससे कि गंदगी से बचाया जा सके।

10. कारखानों के लिए वायुमण्डल में गैस छोड़ने से पहले शोधन करना अनिवार्य किया जाए इससे वायु प्रदूषण नियंत्रित होगा।
11. व्यवसायिक वाहनों को गैस से चलाया जाए और हवा को जहरीला होने से बचाया जा सके।
12. औद्योगिक इकाईयों व घरेलू उत्सर्जित दूषित जल को शोधन के उपरान्त ही नदी या सरोवर में छोड़ा जाकर जलीय प्रदूषण या संकट से बचाया जा सकता है।
13. पर्यावरण संरक्षण नीतियों का पालन करके।

प्रौद्योगिकी विकास द्वारा प्रादूर्भत प्रदूषण के स्रोतों के साथ पर्यावरण संकट में मानवीय कारण को अनदेखा नहीं किया जा सकता और इसका निदान भी मानव द्वारा ही किया जा सकेगा। इसके लिए पूरी दुनिया को एक होने की आवश्यकता है संसाधनों का कम उपयोग करना पुनरावृत्ति करना, पुनः उपयोग करना इनसे पर्यावरण को संकट से बचाया जा सकता है। साथ ही सरकारी कानून द्वारा पर्यावरण सुरक्षा एवं सरंक्षण में योगदान दे सकते हैं।

संदर्भ :

1. गर्ग, डॉ. एच.एस. , डॉ. अंजली, पर्यावरण अध्ययन, विद्या भवन, इन्दौर, 2009, 2010 पृ. 120।
2. शुक्ला शशि, तिवारी एन. के., पर्यावरण अध्ययन, राम प्रसाद एण्ड संस, 2012, पृ. 130।
3. कोठारी डॉ. मिलिन्द, पर्यावरण शिक्षा, यूनिवर्सल पब्लिकेषन, आगरा, पृ. 180।
4. सिंह प्रताप शिवेष, पर्यावरण, उपयोगी प्रकाशन, अरूण प्रकाशन 2007, पृ. 74।
5. त्रिवेदी चन्द्र प्रवीण, गुप्ता गरिमा, अविश्कार, पब्लिकेशर्स, जयपुर, पर्यावरण अध्ययन, 2007 पृ. 172-175।

■

पर्यावरण संरक्षण : हड़प्पा और वैदिक सभ्यता

डॉ. अजय पाल सिंह

सहा. प्राध्यापक, इतिहास

राजीव गांधी शास. स्नातकोत्तर महाविद्यालय, अम्बिकापुर

हमारे चारों ओर का वातावरण ही पर्यावरण है। मनुष्य ही नहीं समस्त जीव जगत पर्यावरण को प्रभावित करते और प्रभावित होते हैं। भारत के प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात करें तो सर्वप्राचीन सभ्यता हड़प्पा को माना जाता है। तत्पश्चात द्वितीय प्राचीन सभ्यता के रूप में वैदिक कालीन इतिहास का अध्ययन किया जाता है। जब उक्त दोनों सभ्यताओं का सूक्ष्मता से अवलोकन किया जाता है तो पर्यावरण और इंसान का पारस्परिक संबंध ब्रह्मा की तरह उत्पत्ति कारक दिखता है, कहीं विष्णु की भांति पालन-पोषण करता दिखता है तो कहीं शिव जैसा कल्याणकारी या संहारक दिखता है।

भारत की प्राचीनतम् सभ्यता हड़प्पा की बात करें तो हड़प्पा की मान्यताओं में पशुपति शिव, उर्वरा देवी, एक शृंगी बैल, स्वास्तिक जैसे प्रतीक प्रकृति और पर्यावरण के मानवीय जीवन पर प्रभाव को प्रदर्शित करते हैं। जल संरक्षण की शानदार व्यवस्था के साथ स्वच्छता का विशेष ध्यान आज के स्वच्छ भारत की पुरानी तस्वीर प्रस्तुत करता है। यदि बात इस महान् और विस्तृत सभ्यता के पतन की होती है तो भी इतिहासकारों का एक बड़ा वर्ग इसके पतन के कारणों में पर्यावरण के बदलाव को स्वीकारता है। यह बदलाव जल-प्लावन, सूखा, भू-तात्विक परिवर्तन इत्यादि के रूप में संभाव्य प्रतीत होता है।

भारत की दूसरी प्राचीन सभ्यता यानी वैदिक सभ्यता में तो कई सूक्तियाँ पर्यावरण और मनुष्य की अन्योन्याश्रिता को परिलक्षित करते दृष्टव्य हैं। ऋग्वेद ने प्रकृति के साथ घनिष्ठता प्रदर्शित करते हुए इस ओर प्रेरित किया है कि पर्यावरण को नियंत्रित व संरक्षित किया जाए। प्रजनन क्षमता बढ़ाते हुए मानव जीवन में सुधार लाने के लिये प्रकृति से उपकृत हुआ जाए। यजुर्वेद से सीख मिलती है कि मनुष्य का संबंध पेड़-पौधों अथवा जीव-जन्तुओं के साथ प्रभुत्व व अधीनता का न होकर सम्मान व दया का होना चाहिए। अथर्ववेद में कहा गया है—"माता भूमि पुत्रो अहम् पृथिव्याः" अर्थात् हम धरती माँ के पुत्र हैं।

इस प्रकार, हमें उक्त दोनों सभ्यताओं से अनुप्राणित प्राचीन भारतीय इतिहास इस्लामिक शासन के आने से पूर्व तक पर्यावरण को बहुत महत्त्व प्रदान करता था। वह प्रकृति के उस पुत्र की भांति स्वयं को मानता था, जो अपनी माँ का स्तनपान करता है न कि रक्तपान।

कटते पेड़, उजड़ते जंगल, धुँआ उड़ाते वाहन, कचरा उगलते कारखाने, अनियंत्रित औद्योगीकरण और इस पर भौतिक सुख-सुविधाओं के प्रति बढ़ता अंध मोह और अन्धाधुन्ध विकास की चाह के फलस्वरूप आज सम्पूर्ण विश्व के लिये पर्यावरण एक ज्वलंत मुद्दा बना हुआ है। कारण है- प्रदूषण, जो कि निरंतर बढ़ता ही जा रहा है, जिसका कारण है- जागरूकता का अभाव, गिरते नैतिक मानदण्ड और गजब का स्वार्थी दृष्टिकोण। आवश्यकता है सही दृष्टिकोण की। इसके लिये भारतीय इतिहास हमारी दृष्टि को एक उपयुक्त कोण प्रदान कर सकता है।

भारत की विरासत और साहित्यिक-पुरातात्विक ऐतिहासिक स्रोत के अध्ययन-अवलोकन से पर्यावरण संतुलन के विकास और विनाश दोनों की झलक मिलती है। पर्यावरण संरक्षण के प्रति चिंता व प्रयत्न दिखता है। धर्म के आवरण में विज्ञान का ज्ञान मिलता है। आज आवश्यकता एक बार पुनः अतीत को झांकने की है। इतिहास में पर्यावरण से जुड़ी हुई गलतियों, घटनाओं व चिंतन को समझने और सीखने की जरूरत है। ताकि वर्तमान परिस्थितियों में ऐसा क्या करें कि पर्यावरण का संरक्षण हो। वैश्विक हित को धारण करती भारतीय अवधारणा को धारण करना अति आवश्यक है, जिसमें कहा गया है- ''ॐ द्यौः शान्तिः पृथ्वी शान्तिरापः शान्तिः रोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्मा सर्वः शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि।। ॐ शान्तिः शान्तिः ॐ'', अर्थात् द्यौलोक से लेकर पृथ्वी के सभी जैविक-अजैविक घटक संतुलन की अवस्था में रहें, की परिकल्पना का इतिहास भारतीय संस्कृति में मिलता है।

भारत की ज्ञात प्राचीनतम् सभ्यता हड़प्पा यानी लगभग 4500 साल पहले से निरंतर की स्थितियों का ऐतिहासिक स्रोतों के आधार पर अवलोकन करें, तो तत्कालीन समाज प्रकृति के उपकार व जीवन के लिये उसकी महत्ता के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन स्वरूप वृक्ष-जल-पशु पूजा करता दिखता है। आज से लगभग 3500 साल पहले से शुरू हुई प्राचीन भारत की दूसरी सभ्यता यानी वैदिक सभ्यता में भी आम जनमानस का प्रकृति से जुड़ाव दृष्टव्य है। स्वाभाविक रूप से प्रकृति की शक्तियों पर मानव कल्याण की निर्भरता की भावना की अभिव्यक्ति अनेक प्रकार की पूजा के रूप में हुई। उन्होंने द्यौस (आकाश) व पृथ्वी की उपासना की। 'ऋग्वेद' में उल्लेख है—''द्यौष्पितः पृथिवी मातरध्रुक'' अर्थात् द्यौ पिता और पृथ्वी माता है। 'ऋग्वेद' में ही उल्लेख है कि—''शं न सिन्धुवः उरूवक्षा उदेतु, शं पश्चतस्

प्रदिशो भवन्तु। शं न प्रवेता ध्रवयो भवन्तु, शं नः सिन्धुवः शंभु संत्वाय।।'' अर्थात् विपुल तेल वाला सूर्य हमारे लिये कल्याणकारी होकर उदित हो। चारों दिशाएँ हमारे लिये कल्याणकारी हों। अचल पर्वत हमारे लिये कल्याणकारी हों। नदियाँ हमारे लिये कल्याणकारी हों। उनका जल हमारे लिये कल्याणकारी हो। ईशोपनिषद् कहता है कि मानव के रहने के लिये संसाधन दिया गया है। उनके उपयोग का ज्ञान बहुत जरूरी है। उल्लेखनीय है कि उक्त दोनों सभ्यताओं की नीव पर ही प्राचीन भारत आगे बढ़ा है। प्रभावित व प्रेरित बौद्ध धर्म व जैन धर्म में अहिंसा की विशेष शिक्षा दी गई है। चिन्तकों जैसे चाणक्य, सुश्रुत, वाग्भट, पतंजलि आदि ने भी पर्यावरण के संरक्षण की निरंतर सलाह दी है। सम्राट अशोक व हर्षवर्द्धन आदि ने भी पर्यावरण संरक्षण की दिशा में अतुलनीय व प्रषंसनीय कार्य किये हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत की दोनों सभ्यताओं का सम्यक सम्मिश्रण भारत ही नहीं वरन सम्पूर्ण विश्व के पर्यावरण को संरक्षित कर सकता है। आवश्यकता है धर्म के वैज्ञानिक स्वरूप व विज्ञान के धार्मिक स्वरूप के प्रति समझ विकसित करने की। पशु-पक्षियों के संरक्षण के लिये धार्मिक आस्था के पुनर्जागरण की। नदियों व समुद्र की पवित्रता-अपवित्रता से होने वाले लाभ-हानि की समझ विकसित करने की। 'क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा, पंचतत्व से बना शरीरा' की वास्तविकता से आम जनमानस को अवगत कराने की। 'प्रकृति की ओर लौटो' अर्थात् प्रकृति और प्रगति में संतुलन बैठाते हुए प्रकृति को माँ मानकर उसके स्तनपान की न कि रक्तपान की कोशिश करो। प्रकृति से ही हम हैं और हम से ही प्रकृति।

संदर्भ :

1. ऋग्वेद—मनोज पब्लिकेषन्स, दिल्ली
2. अथर्ववेद—मनोज पब्लिकेषन्स, दिल्ली
3. क्या है वेदो में—मनोज पब्लिकेषन्स, दिल्ली
4. पुण्यभूमि भारत—सुरूचि प्रकाशन, नई दिल्ली
5. प्राचीन भारत का इतिहास तथा संस्कृति—के.सी. श्रीवास्तव, युनाइटेड बुक डिपो

■

आदिवासी साहित्य में जल-जंगल और जमीन का संघर्ष

डॉ. कुसुम माधुरी टोप्पो
सहायक प्राध्यापक (हिन्दी)
नवीन शासकीय महाविद्यालय कांसाबेल
जिला जशपुर (छ.ग.)

आदिवासी समुदाय आदिम काल से आदिवासियत जल, जंगल, जमीन, भाषा संस्कृति, अस्मिता और अस्तित्व की लड़ाई लड़ रहा है। आदिवासी प्रकृतिवादी होते हैं। प्रकृति से सम्पूर्ण जीवन जुड़ा हुआ है। उनकी सृष्टि मान्यताएँ, परम्पराएँ, धार्मिक अनुष्ठान, सांस्कृतिक साहचर्य आदि प्रकृति से ही है। आदिवासी को अंग्रेजी में ''इंडिजिनस पीपुल्स'' अर्थात ''देशज लोग'' कहा जाता है। विश्व स्तर पर इन्हें इंडिजिनस पीपुल्स कहा जाता है तथा भारतीय संविधान में आदिवासियों को अनुसूचित जनजाति का दर्जा दिया गया है। भारत सरकार आदिवासियों को ''इंडिजिनस पीपुल्स'' मानने से इंकार करती है। मानना है कि आदिवासी लोग भारत के प्रथम निवासी यानी ''इंडिजिनिस पीपुल्स'' नहीं हैं? इसीलिए अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन ने सन 1989 के अनुबंध क्रमांक 169 के माध्यम से ''इंडिजिनस पीपुल्स'' की पहचान के लिए दो तथ्य स्पष्ट किया—पहला कि ऐसे समुदाय के लोग जिनकी सामाजिक, सांस्कृतिक व आर्थिक स्थितियाँ राष्ट्रीय समुदाय के दूसरे वर्गों से एकदम अलग हैं और जिनकी हैसियत पूरी तरह या आंशिक तौर पर अपने रीति-रिवाजों, परम्पराओं या विशेष नियमों और नियंत्रणों द्वारा संचालित होती है। दूसरा तथ्य कि ऐसे लोग जिन्हें ऐसी जनसंख्याओं का वंशज होने के कारण देशज माना जाता है जो देश पर विजय, उपनिवेशीकरण या मौजूदा सीमाओं के स्थापित होने के पहले देश या उसके भौगोलिक क्षेत्र में रह रही थी, जिन्होंने अपनी कानूनी हैसियत की परवाह किये बगैर अपनी सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, व राजनीतिक संस्थाएँ पूरी तरह से या कुछ हद तक बचा रखा है। भारत सरकार द्वारा गठित अनुसूचित जाति एवं जनजाति आयोग ने आदिवासियों की मूलभूत विशिष्टताओं को इस प्रकार वर्णित किया है—वनवासी, आदिवासी, बोली, जीववाद,

आदिम व्यवसाय, मांसभक्षी नंगा या अर्द्धनग्न रहना खानाबदोश, मद्यपान एवं नृत्य में लीन रहना आदि। यह सभी शब्द ही गैर आदिवासियों की मानसिकता पर प्रकाश डालने के लिए काफी हैं। बात पहचान की हो, नाम की हो, अपनी अस्मिता और अस्तित्व की हो आदिवासियों का संघर्ष जारी है।

आदिवासी साहित्य की अवधारणा

आदिवासी साहित्य भी आदिवासी समाज की तरह संघर्षरत है। अपनी स्वतंत्रता और अपनी स्वायत्तता के लिए साहित्य में स्थापित होने का संघर्ष जारी है। कई लोगों का मानना है कि आदिवासी साहित्य में दर्शन नहीं है। सिर्फ उसमें वाचिक परम्परा आती है। इसीलिए आदिवासी साहित्य की अवधारणा को वैचारिक दृष्टिकोण से स्थापित करने की आवश्यकता है। वस्तुतः आदिवासी साहित्य में आदिवासियों के सम्पूर्ण जीवन के पक्ष का प्रत्यक्ष दर्शन हो, जिसे वह जीता, भोगता हो वही आदिवासी साहित्य है। आदिवासी साहित्य को विभिन्न नामों से जाना जाता है- यूरोप और अमेरिका में इसे नेटिव अमेरिकन लिटरेचर, कर्लड लिटरेचर, स्लेव लिटरेचर और अफ्रीकन-अमेरिकन लिटरेचर, अफ्रीका देशों में ब्लैक लिटरेचर और आस्ट्रेलिया में एबोरिजिनल लिटरेचर तो अंग्रेजी में इंडीजिनिस लिटरेचर, फर्स्ट पीपुल लिटरेचर और ट्राइबल लिटरेचर कहते हैं। भारत में इसे हिन्दी और अन्य भारतीय भाषाओं में आदिवासी साहित्य कहा जाता है। आदिवासी साहित्य को मुख्यतः दो रूपों में विभाजित किया जाता है-

1. मौखिक या वाचिक साहित्य
2. लिखित या शिष्ट साहित्य

मौखिक या वाचिक साहित्य में आदिवासी पुरखों द्वारा अपनी जीवन शैली को गाकर, नाचकर, कथा-कहानी, कहावतों, लोकोक्तियों, मुहावरों, पहेलियों के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता था तथा लिखित और शिष्ट साहित्य में आदिवासी साहित्यकारों द्वारा लोक साहित्य के विभिन्न अंगों या फिर आदिवासी जन जीवन के सभी पक्षों को साहित्य के सभी भागों में रचा जाता है। वह आदिवासी जीवन की अस्मिता, अस्तित्व, भाषा-बोली, संस्कृति, धरोहर, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक या उनकी मूलभूत आवश्यकताएँ जल जंगल और जमीन का संघर्ष को वह अपने साहित्य में उतारता है। आदिवासी साहित्य की अवधारण के संबंध में आदिवासी लेखिका वंदना टेटे तीन मत स्पष्ट करती हैं-

1. आदिवासी विषय पर लिखा गया साहित्य आदिवासी साहित्य है।
2. आदिवासियों द्वारा लिखा गया साहित्य आदिवासी साहित्य है।

3. आदिवासियत (आदिवासी दर्शन) के तत्वों वाला साहित्य ही आदिवासी साहित्य है।

आदिवासी साहित्य की अवधारणा पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि कई ऐसे गैर आदिवासी साहित्यकार हैं जो आदिवासी जीवन दर्शन के विषय में लिखते हैं। जैसे— रमणिका गुप्ता, संजीव, राकेश कुमार सिंह, बजरंग तिवारी आदि। दूसरी तरफ आदिवासी समुदाय के साहित्यकारों में महादेव टोप्पो, वाल्टर भेंगरा, वंदना टेटे, अनुज लुगुन, हीरा मीणा, जनार्दन गोंड़, विश्वासी एक्का, जमुना बीनी, जसिंता केरकेट्टा जैसे कई आदिवासी लेखक हैं। आदिवासी साहित्य इसी बात को स्वीकार करता है कि जिस साहित्य में आदिवासियत या आदिवासी दर्शन हो वह आदिवासी साहित्य है।

आदिवासी साहित्य के विभिन्न विधाओं में संघर्ष

आदिवासी साहित्य में विभिन्न विधाओं के अंतर्गत कविता, कहानी, नाटक, उपन्यास, आत्मकथा, संस्मरण, जीवनी, यात्रा वृतांत आदि हैं। आदिवासी साहित्यकार इन विधाओं के विभिन्न रूपों में अपनी साहित्य की रचना करते हैं। चाहे वे आदिवासी या गैर आदिवासी साहित्यकार हों। उन्होंने आदिवासी जीवन के स्वरूप, उनकी कद-काठी, नैन-नक्श, रंग-रूप, संस्कृति, भाषा-बोली, खेत-खलिहान, जल-जंगल-जमीन का संघर्ष इन सभी पक्षों का चित्रण किया है। आदिवासियों के इतिहास को देखें तो तिलका माझी, बिरसा मुड़ा, जैसे आदिवासी महानायकों ने भी जल जंगल जमीन को बचाने की लड़ाई लड़ी थी। अब भी जमीन की लूट, भूगर्भ पर छिपे अमूल्य खनिज सम्पदाओं की लूट, प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन से आदिवासी विस्थापन का शिकार हो रहे हैं। भारत के सभी राज्यों में आदिवासी इलाकों को कारपोरेट जगत ने लीलने की कोशिश की है। विस्थापन के कारण आदिवासी न सिर्फ जल जंगल जमीन खो रहे हैं, वरन् उनकी सम्पूर्ण अस्तित्व मिट रहा है। ''मौसम तो बदलना ही था'' काव्य संग्रह की कविता ''यात्रा अभी शेष है'' में छत्तीसगढ़ राज्य की आंचलिक साहित्यकार विश्वासी एक्का लिखती हैं—

'विस्थापन ने भी तो साथ नहीं छोड़ा अब तक
कैमूर पर्वत से उतर
चल पड़ा फिर कारवां
एक छोटा नागपुर
तो दूसरा विपरीत दिशा की ओर
छोड़ना पड़ा उन्हें रोहितासगढ़
हाँ एक और विस्थापन

जीवन के भूगोल पर
वे सदियों से माप रहे हैं धरती।'

इतिहास गवाह है कि आदिवासियों के विस्थापन की करूण कथा उनके लोक गीतों, लोक कथाओं में मिलती है। सिंधु घाटी की सभ्यता से लेकर शुरू हुई विस्थापन की कथा का सिलसिला सदियों पुराना है। यात्रा अभी शेष है, कविता में कवयित्री ने विस्थापन जैसे मुद्दे का चित्रण किया है। विस्थापन का संघर्ष आदिवासियों में आदिकाल से चल रहा है। भारत के विभिन्न दिशाओं में आदिवासी विस्थापित होकर निवासरत हैं। उरांव आदिवासियों की विस्थापन की कथा सिंघु घाटी से लेकर रोहितासगढ़, छोटानागपुर फिर छत्तीसगढ़ या अन्य राज्यों तक सुनाई पड़ती है। इन संघर्ष को कवयित्री ने टटोला है और रचनाबद्ध किया है। कारपोरेट जगत ने आदिवासियों को जल जंगल जमीन से खदेड़ने में कसर नहीं छोड़ी है। वर्तमान में भी कई राज्यों में झारखण्ड, छत्तीसगढ़, उड़ीसा, मध्यप्रदेश आदि राज्यों में जल जंगल जमीन के लिए संघर्ष जारी है। ''जंगल पहाड़ के पाठ'' नामक कविता संग्रह की कविता 'प्रश्नों के तहखाने' में महादेव टोप्पो लिखते हैं—

'असन्तुलित विनाशकारी इस विकास
के विरोध में
निकाले जाते हैं जुलूस
जुलूसों में खड़े देखते हैं बगल में अपने
कभी मेघा, रमणिका, अरूधन्ती तो कभी ब्रहमदेव
हमारे गाँव घरों को बचाने की खातिर-धरती का नंगापन
चलते हैं पेड़ बचाने के आंदोलन
धरती बनती रहती है फिर भी बंजर।'

आदिवासी इलाकों में उनके खेत खलिहान नदी तालाबों पर बड़े-बड़े बांध बनाये जा रहे हैं। जंगल उजाड़ कर बड़े-बड़े औद्योगिक कारखानों का निर्माण किया जा रहा है। प्राकृतिक संसाधनों का दोहन अत्यधिक हो रहा है। जसिंता केरकेट्टा की कविता ''नदी, पहाड़ और बाजार'' में इन्हीं समस्याओं पर चिंता व्यक्त की गई है—

'निकल गई बाजार
खुले दरखों के बीच देख
एक पतली पगडंडी
मैंने नन्ही पीढ़ी से कहा
देखो यहीं थी कभी गाँव की नदी

आगे देख जमीन पर बड़ी सी दरार
मैंने कहा इसी में समा गये सारे पहाड़
अचानक वह सहम के लिपट गई मुझसे
सामने दूर तक फैला था भयावह
कब्रिस्तान
मैंने कहा देख रही हो इसे ?
यही थे कभी तुम्हारे पूर्वजों के
खलिहान।'

जसिंता केरकेट्टा की कविता 'नदी पहाड़ और बाजार' में भी आदिवासी गाँवों और पगडंडियों पर पूँजीवादी कब्जे की बात की गई है। बाजारवाद औद्योगीकरण के विस्तार ने आदिवासियों की मूलभूत आवश्यकताओं को छीना और उन्हें उनसे बेदखल किया है, उज्जवला ज्योति तिग्गा ने भी "शिकारी दल अब आते ही हैं" कविता में जंगल उजड़ने के बाद औद्योगीकरण के कारण बड़े कारखानों के खुलने के कारण जो विकास की नयी परिभाषा है उसे लिखती हैं, औद्योगीकरण की चकाचौंध ने आदिवासियों की प्रकृति और संस्कृति को नष्ट कर दिया है। उज्जवला ज्योति की कविता में स्पष्ट है—

'विकास के नए मॉडल्स के रूप में
दिखाते हैं सब्जबाग
कि कैसे पुराने जर्जर जंगल
का भी हो सकता है कायाकल्प
कि एक कोने में पड़े
सूनसान उपेक्षित जंगल भी
बन सकते हैं
विश्व स्तरीय वन्य उद्यान
जहाँ पर होगी
विश्व स्तरीय सुविधाओं की टीम-टाम।'

कविताओं में आदिवासी साहित्यकारों ने जल जंगल जमीन के संघर्ष को देश में हो रहे उदारीकरण नीति के आधार पर औद्योगीकरण के विस्तार से आदिवासी इलाकों के प्राकृतिक संसाधनों के विनाश के खिलाफ संघर्ष को अपनी कविता में स्वर दिया है।

कविता की तरह आदिवासी कहानियों और उपन्यासों, में भी साहित्यकारों ने आदिवासियों के संघर्ष को पिरोया है। आदिवासी कहानीकारों में पहला नाम एलिस एक्का का गिनाया जाता है। जिन्हें पहली आदिवासी महिला कथाकार माना जाता है। आदिवासी कहानीकारों में तेमसुला आओ, रोज केरकेट्टा, रामदयाल मुंडा, वाल्टर भेंगरा, कृश्णचंद्र टुडू, लक्ष्मण गायकवाड़, शिशिर टुडु, मंगल सिंह मुंडा, फ्रीसका कुजूर, सिकरा दास तिर्की, ज्योति लकड़ा कृष्णमोहन मुंडा, गंगा सहाय मीणा, राजेन्द्र मुण्डा, रामदयाल मुण्डा, सुन्दर, मनोज हेम्ब्रम आदि आदिवासी कहानीकारों का नाम उल्लेख किया जाता है। रामदयाल मुंडा की कहानी "खरगोशों का कष्ट" में उन्होंने लिखा है कि- "खरगोश सिंह के डर से जंगल छोड़कर भाग जाते हैं और कभी जंगल वापस नहीं लौटते हैं। शिकारियों के डर से हम अपने पुराने जंगल में वापस नहीं आ सके, अब तो हमने वहीं गाँव बसा लिया है। उसने उनको बताया कि मैं अपने बिछुड़े भाइयों के साथ मिलने के लिए ही आप लोगों के पास आया हूँ।" अपनी कहानी "फिक्स्ड डिपोजिट" में रोज केरकेट्टा ने झारखण्ड के कंसजोर, सोनाजोर, अंबाझरिया, कुलाडूबा, रेवती पारस, छिंदा आदि जलाशयों में बाँध बाँधने से गाँव, खेत खलिहान और जंगल पहाड़ डूब जाने का वर्णन किया है। बड़े बाँध निर्माण के कारण आदिवासियों का जीवन खतरे में दिखाई देता है। रोज केरकेट्टा आगे लिखती है— "अचानक एक दिन सर्वे के लिए लोग आए और दिनभर नाप जोखकर खुंटा गाड़कर चले गये। टोपी पहने इंजीनियरों, ओवरसियरों और चेयरमेनों का दल इधर उधर नापता रहा। उन्होंने मनोहर दा के आंगन का हराधन लोहरा के बारी और पूरे गाँव को खम्भों के घेरों के अंदर कर दिया था। शाम को जाते-जाते उन्होंने घोषणा कर दी थी। एक वर्ष के अंदर गाँव खाली कर देना, भीड़ में किसी की हिम्मत नहीं हुई कि पूछने की कि— "खाली करके वे कहाँ जाएँगे।" रोज केरकेट्टा की कहानी "फिक्स्ड डिपोजिट" झारखण्ड के आदिवासी इलाकों में जल जंगल पर कब्जा और उद्योगपतियों, व्यापारियों, बिचौलियों द्वारा शोषण और अत्याचार की कहानी है। जमीन छीनने के नाम पर मुआवजा देने का वादा सिर्फ कागजों में मिलता है। आदिवासी जमीन के मालिक के साथ सिर्फ छलावा किया जाता है। उन्होंने आगे कहानी में लिखा है कि—'मैंने पूछा मुआवजा मिला, बहुत देर के बाद लंबी सांस छोड़ते हुए कहा— हाँ मिला। कितना ? एक लाख। कितनी जमीन थी ? तीस एकड़ खेत और डाड़ पच्चीस एकड़। किस रेट में मिला। एक नंबर, दो नंबर, तीन नंबर करके।'[9] पूर्वोत्तर भारत की कहानीकार तेमसुला आओ की कहानी "सोअबा" में नागा जनजातियों की त्रासदी की कहानी है।

यदि उपन्यास की चर्चा करें तो आदिवासी उपन्यासों में रणेन्द्र, वाल्टर भेंगरा, वीरेन्द्र पीटर, पौल एक्का, संजीव, जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी के उपन्यास आदिवासी जीवन के विभिन्न

पहलुओं को उजागर करते हैं। रणेन्द्र के उपन्यास ''गायब होता देश'' में उन्होंने झारखण्ड के मुंडा आदिवासियों के संकटों को लिखा है। रणेन्द्र जी ने लिखा है— ''इन्हें कौन रोकेगा ? अपने जनतंत्र में तो ऐसे बड़े देवताओं की पूछ है, सब पावर और पैसे के पीछे भागते हैं। हरहाल में वर्चस्व और किसी भी तरीके से सम्पदा को यूरोपीय मंत्र हमारे लोगों के जीवन भी लक्ष्य बनाया गया है।'' आगे पुनः लिखते हैं— क्या मुसीबत है कल बांध बनाकर हमारे गाँवों जंगलों को डुबोया, हमारे खेत, खलिहान झरना-मसना सब मीलों तक के सरजोर साखू डूब गए। अब बांध तोड़कर सब डुबाने की योजना है। रणेन्द्र ने ''ग्लोबल गाँव के देवता'' उपन्यास में भी आदिवासी जीवन के त्रासदी की दास्तान लिखी है।

संजीव का उपन्यास ''पांव तले की दूब'' भी आदिवासियों पर हो रहे अन्याय, शोषण, अत्याचार, कर्मचारी, ठेकेदारों, पुलिस वालों की लूट की कहानी है। वीरेन्द्र का उपन्यास ''पार'' मध्यप्रदेश के आदिवासी अंचल बोतवा के विशाल बाँध परियोजना के विस्थापितों की लड़ाई और संघर्ष को व्यक्त करता है। बुंदेखलखण्ड का एक गाँव किस तरह बांध निर्माण से विकास के चपेट में डूब जाता है।

भारत में उदारीकरण नीति के बाद शासन प्रशासन और बड़े-बड़े पूँजीपतियों, उद्योगपतियों द्वारा विकास के नये स्वरूप ने सबसे पहले आदिवासी इलाकों व जनजीवन को अपने चपेट में लिया। उनके जल जंगल जमीन छीनकर नैसर्गिक प्रकृति पर खिलावाड़ कर उन्हें उनकी मूलभूत आवशयकताओं से बेदखल किया है।

संदर्भ :

1. आदिवासी अधिकार—ग्लैडसन डुंगडुंग—आदिवासी पब्लिकेशन कोकर रांची।
2. वाचिकता आदिवासी दर्शन साहित्य और सौन्दर्य बोध, वंदना टेटे, राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली।
3. मौसम तो बदलना ही था, विश्वासी एक्का, रश्मि, प्रकाशन लखनऊ।
4. जंगल पहाड के पाठ महादेव टोप्पो अनुज्ञा प्रकाशन दिल्ली।
5. लोकप्रिय आदिवासी कविताएं, वंदना टेटे–प्रभात प्रकाशन।
6. लोकप्रिय आदिवासी कहानियां- वंदना टेटे, प्रभात प्रकाशन।
7. गायब होता देश—रणेन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ।
8. ग्लोबल गाँव का देवता—रणेन्द्र पेगुइन बुक्स लंदन।
9. छत्तीसगढ़ मित्र साहित्य और विचार का मासिक अप्रैल 2022।

■

कालिदास के साहित्य में पर्यावरण रक्षा के उपाय

राजीव कुमार
विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग
राजीव गांधी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय अंबिकापुर (छ.ग.)

कालिदास का साहित्य

कालिदास के व्यक्तित्व व कृतित्व पर विद्वानों के बीच मतभेद हैं। छोटी-बड़ी कुल लगभग चालीस रचनाएँ हैं जिन्हें अलग-अलग विद्वानों ने कालिदास की रचना माना है। निर्विवाद रूप से सात रचनाओं को कालिदास की रचना माना गया है। इनमें तीन नाटकः अभिज्ञान शाकुन्तलम्, विक्रमोर्वशीयम् और मालविकाग्निमित्रम्; दो महाकाव्यः रघुवंशम् और कुमारसंभवम्; और दो खण्डकाव्यः मेघदूतम् और ऋतुसंहार हैं।

कालिदास के नाटकों का अंग्रेजी के अलावा जर्मनी में भी अनुवाद किया गया है। कालिदास की रचनाएँ विश्व भर में आदर प्राप्त कर रहीं है। कुमारसंभवम् और रघुवंशम् महाकाव्यों को भी अप्रतिम ख्याति मिली है। खंडकाव्य में मेघदूत प्रमुख है। मेघदूत के दो भाग हैं—पूर्वमेघ एवं उत्तरमेघ ऋतुसंहारम् में सभी ऋतुओं में प्रकृति के आकर्षक एवं विविध रूपों का वर्णन किया गया है। कालिदास का वर्णन अद्भुत और जीवंत है। कालिदास के उपमा कौशल को अनुपमेय कहा गया है—उपमा कालिदासस्य।

कालिदास का प्रकृति वर्णन

संस्कृत साहित्य में कालिदास का नाम अमर है। कालिदास की उपमाओं को अद्वितीय कहा गया है। कालिदास का वर्णन सजीव और प्रकृति के निकट है। वे प्रकृति को सजीव रूप में वर्णन करते हैं।

डॉ. मोहम्मद इसराइल खां लिखते हैं—

लौकिक संस्कृत साहित्य में अन्य कवियों की अपेक्षा कालिदास ने अपनी कृतियों में प्रकृति को एक विशेष महत्व दिया है। उन्होंने प्रकृति को मानव का एक अभिन्न अंग माना है। यही कारण है कि हम कवि की कृतियों में प्रकृति को मनुष्य के दुखों में दुखी तथा सुख

में सुखी पाते हैं। अभिज्ञान शाकुंतलम् में हमें अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं, जहाँ कवि ने यह दिखाया है कि प्रकृति शकुंतला के दुख में मानव के समान दुखी है तथा सुख में सुखी है।

कालिदास की कृतियों के अध्ययन के आधार पर यदि वनस्पति जगत का चित्र खींचना चाहें तब हमें ऐसा प्रतीत होगा कि वहाँ प्रकृति के अतिरिक्त कुछ नहीं है। कवि की दृष्टि प्रकृति के सूक्ष्म तत्वों से लेकर स्थूल तत्वों के निरूपण तथा तत्वतः वर्णन में पैनी दिखाई देती है। उन्होंने अपने ग्रंथों में कुश कंटक घास दूर्वा आदि छोटी से छोटी वनस्पतियों से लेकर लताओं, वृक्षों, फलों आदि का सचिव चित्र खींचा है।[1]

अभिज्ञान शाकुंतलम् में प्रकृति के दुखी होने की स्थिति में यह अव्यक्त सन्देश छिपा हुआ महसूस होता है कि हमारे सुख दुःख का आधार प्रकृति है। इसलिए हम सभी को प्रकृति के सुख को संजोने की चेष्टा करनी चाहिए।

कालिदास के ग्रंथों में प्रकृति का चित्रण अद्भुत है। वे प्रकृति को मातृ रूप में देखते हैं। इस दृष्टि से प्रकृति को मनुष्य के जीवन का आधार माना गया है। ऋतुसंहार में कवि कालिदास ने प्रकृति का सजीव चित्रण किया है। कालिदास ने प्रकृति की बाहरी तथा आतंरिक दोनों ही स्वरूपों का वर्णन किया है। प्रकृति के मनोवैज्ञानिक प्रभाव को भी उनके ग्रंथों में स्वीकार किया गया है। मानव के स्वभाव की व्याख्या करने के लिए भी वे प्रकृति का सहारा लेते हैं। ऋतुसंहार में प्रकृति का अद्भुत चित्रण है। ग्रीष्म ऋतु का चित्र खींचते हुए वे कहते हैं—

प्रचण्डसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः सदावगाहक्षतवारिसञ्चयः।
दिनांतरम्योस्म्युपशांतमन्मथों निदाद्यकालोस्यमुपागतः प्रिये।[2]

गर्मी सूर्य की प्रचंडता को बढ़ा देती है। स्नान करने से संचित जल समाप्त हो जाता है। चन्द्रमा की प्रतीक्षा होती है।कामभाव तिरोहित होने लगता है। प्रकृति और उसके प्रभाव को सूक्ष्म तथा स्पष्ट दृष्टि देने में कालिदास सिद्धहस्त हैं।

वर्षा या मेघ के प्रभाव का वर्णन कालिदास ने बहुत ही अनूठे ढंग से किया है। वे लिखते हैं कि मेघ को देख लेने पर तो सुखी अर्थात संयोगी जनों का चित्त कुछ का कुछ हो जाता है फिर वियोगी लोगों का क्या कहना।

मेघालोके भवति सुखिनोस्प्यन्यथावृत्ति चेतः।
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे।।[3]

रघुवंश महाकाव्य में कालिदास ने प्रकृति को एक शिक्षक या आदर्श के रूप में भी रेखांकित किया है। वे जल के स्वभाव से सीख लेने को प्रेरित करते हैं। जल तो स्वभाव से शीतल है, गर्म वस्तु के सम्पर्क से भले ही कुछ समय के लिए जल में गर्मी उत्पन्न हो

जाती है किन्तु समय पाकर वह शांत भी हो जाती है। इसी प्रकार महात्मा भी प्रकृति से क्षमाशील होते हैं, अपराध करने पर वे कुछ क्षण के लिए ही उद्विग्न होते हैं, फिर उनका शांत स्वभाव लौट आता है।[4]

मेघ और चातक के उदाहरण से कवि कालिदास बहुत ही अद्भुत सीख प्रस्तुत करते हैं। सज्जन पुरुष स्वाभाव से करुणाशील होता है। सज्जनों का कारुण्य इस बात की प्रतीक्षा नहीं करता कि कोई गिड़गिड़ायेगा तभी मैं उसकी सहायता करूँगा। सज्जन का स्वभाव, मेघ या कृष्ण सा होता, जो बिन माँगे सहायता तथा दान के लिए प्रस्तुत रहता है।

निःशब्दोस्पि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः।
प्रत्युक्त हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैवा।।[5]

अभिज्ञान शाकुंतलम् के 1/13 में आश्रम का अद्भुत वर्णन किया गया है। यहाँ आश्रम के लक्षणों का वर्णन करते हुए धान, तोते, घोसले, पक्षी, मृग आदि की चर्चा की गई है। यह बताया गया है कि मृगों को यह विश्वास है कि उन्हें कोई नहीं मारेगा। शकुंतला के विदा होने पर मोरों का नाचना छोड़ देना और प्रकृति का उदास हो जाना यह बताता है कि प्रकृति के साथ मनुष्य का तादात्म्य संबंध हो सकता है। मेघदूतम में एक प्रेमी प्रकृति को आधार बनाकर अपना संदेश भेजता है। यह वर्णन अप्रत्यक्ष रूप से मनुष्य और प्रकृति के बीच के संबंध को उजागर करता है। व्यक्ति दुख और विरह में प्रकृति के सानिध्य या सानिध्य में आश्रय प्राप्त करता है। या यह कहें कि प्रकृति के प्रेम में व्यक्ति जब डूबता है तो उसका दुख तिरोहित हो जाता है। संस्कृत शोध लेखमाला में मेघदूत का शिल्प और संवेदन पर चर्चा करते हुए लिखा है—

कालिदास ने मेघ के मार्ग में नदियों एवं पर्वतों को दिखाया है। कवियों की उक्ति में सागर को नदियों का पति माना गया है। सागर आत्मा का प्रतीक है। कालिदास की दृष्टि में नदियों एवं नेक का क्या संबंध रहा होगा वह यहाँ विचारणीय है। जल को जीवन कहा गया है। नदियाँ बादलों से जल पाकर बहने लगती हैं तथा जल के अभाव में भी सूख जाती हैं, अतएव मेघ से जल पाने का तात्पर्य जीवन पाना है तथा जो पानी देने वाला मेघ है वह जीवन का दाता बनता हुआ आत्मा या ब्रह्म का प्रतीक है।[6]

प्रकृति और जीवन की घनिष्ठता को कालिदास ने वर्षा के प्रभाव से इंगित करने का प्रयास किया है। वर्षा का न केवल जड़ जगत पर अपितु चेतन जगत पर भी प्रभाव पड़ता है। कवि इसका वर्णन करते हुए लिखते हैं—जल बरसने के कारण पुष्पित कदम्ब को भ्रमर मस्त होकर देखते हैं, प्रथम जल पाकर मुकुलित कन्दली को हरिण खा रहे होंगे तथा हाथी प्रथम वर्षाजल के कारण पृथ्वी से निकलने वाली गन्ध सूँघ रहे होंगे—इस प्रकार भिन्न-भिन्न

क्रियाओं को देखकर मेघ के गमन मार्ग का स्वतः अनुमान हो जाता है। प्रकृति मनुष्य के साथ जुडी हुई है। प्रकृति का मानव के साथ साथ सम्पूर्ण जगत पर प्रभाव पड़ता है—

नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्द्धरूढै-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानकच्छम्।
जग्ध्वारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः।
सारठास्ते जललवमुचः सूचयिष्यंति मार्गम।।[7]

कालिदास ने कुमार संभव में हिमालय का वर्णन किया है—

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पुर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।।[8]

इसमें हिमालय को 'देवतात्मा' 'नागाधिराज' कहते हुए कवि ने पृथ्वी का मानदण्ड भी कहा है। देवतात्मा कहकर हिमालय की जीवनदायिनी संजीवनी शक्ति की ओर इशारा किया है। पर्वतराज कहकर उसकी विशालता और विराटता को प्रकट किया है। मानदण्ड को मेरुदंड के रूप में भी स्वीकार किया जा सकता है। वैज्ञानिक दृष्टि से ग्लोबल वार्मिंग और उसके प्रभाव को देखते हुए वैज्ञानिक आज हिमालय के आकार को घटता हुआ देखकर चिंतित हैं। उनका मानना है कि हिमालय के बिना जीवन असंभव है।[9]

कालिदास के साहित्य में प्रकृति के नए नए रूपों का वर्णन है। प्रकृति और मनुष्य के बीच के संबंध को कालिदास ने एक नई दृष्टि दी है। मनुष्य का शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य प्रकृति से जुड़ा हुआ है। इसलिए हम सभी को प्रकृति से जुड़े रहने का प्रयास करना चाहिए। जैसे बचा हुआ धर्म बचाने वाले को बचाता है वैसे ही बची हुई प्रकृति हमारी रक्षा करती है।[10]

कालिदास के साहित्य में प्रकृति एक जीवंत सत्ता की तरह अनुभूत होती है। नदी नाले पर्वत और विशेष रूप से हिमालय का वर्णन पढ़ने वाले को किसी अदृश्य लोक तक ले जाने का सामर्थ्य रखता है। इसीलिए रघुवंश महाकाव्य के मंगलाचरण में उन्होंने शब्द के सामर्थ्य का वर्णन करते हुए शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को भगवान् शिव और माता पार्वती की तरह जुडा हुआ देखा है—वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।

जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।[11]

वाणी और अर्थ जैसे अलग अलग होते हुए भी एक ही हैं उसी प्रकार पार्वती और शिव भिन्न-भिन्न होते हुए भी वस्तुतः एक ही हैं। वाणी और अर्थ सदैव एक दूसरे से सम्पृक्त अर्थात जुड़े रहते हैं। जैसे वाणी और अर्थ जुड़े हैं वैसे ही शिव और पार्वती भी अभिन्न हैं।

उपसंहार

कालिदास प्रकृति को जीवंत मानने वाले कवि हैं। वे मानते हैं कि जीवन प्रकृति का दूसरा रूप है। मन की शांति और स्थिरता के लिए प्रकृति का सान्निध्य आवश्यक है। स्वयं की रक्षा के लिए प्रकृति की रक्षा आवश्यक है। जीवन जीव जगत को कालिदास ने प्रकृति से अलग नहीं माना है। जीवन में उल्लास आनंद प्रेम का आधार भी वे प्रकृति को मानते हैं। प्रकृति के खत्म हो जाने पर जीवन का आनंद खत्म हो जाएगा। कालिदास की रचनाओं को पढ़ने से यह आभास होता है कि प्रकृति सिर्फ वह नहीं है जो आंखों से दिखाई देती है। प्रकृति का स्थूल रूप हमें दिखाई देता है। सूक्ष्म रूप दिखाई नहीं देता। जैसे सर्दी गर्मी को देखकर नहीं अपितु अनुभव के आधार पर जाना जाता है। वैसे ही प्रकृति के अनेक तत्व अनुभव से ही जाने जा सकते हैं। प्रकृति का मानवीकरण करके अपने ग्रंथों में कवि ने यह बताने का प्रयास किया है कि प्रकृति के सुख-दुख को हमें महसूस करना चाहिए। अन्यथा वह दिन दूर नहीं जब दीपशिखा[12] की तरह प्रकृति के प्रकाश के ओझल होते ही दुनिया अंधकार में डूब जाएगी। कालिदास के ग्रंथों को पढने से सार रूप में यही समझ में आता है कि प्रकृति के साथ जीने का अभ्यास ही प्रकृति की रक्षा का उपाय है। रघुकुल की रीति समझाते समझाते कवि हम सबको प्रकृति के अतिदोहन से बचने की सलाह भी देते हैं। रघुवंश में उन्होंने कर प्रणाली को समझाने के लिए उदाहरण दिया है—प्रजा के क्षेम के लिये ही वह राजा दिलीप उन से कर लेता था, जैसे कि सहस्त्रगुना बरसाने के लिये ही सूर्य जल लेता है।

सहस्त्रगुणमुत्स्त्रष्टुम् आदत्ते हि रसं रविः।।[13]

वैदिक वचनों का अनुसरण करते हुए कहा जा सकता है—नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।[14]

प्रकृति की शरण के बिना जीवन का आह्लाद कहीं नहीं है।

सन्दर्भ :

1. संस्कृत शोध लेखमाला पृष्ठ 59
2. ऋतुसंहार 1.1
3. मेघदूत 1.3
4. रघुवंश 5.54
5. कुमार संभव 2.57
6. डॉ मोहम्मद इसराइल खां कृत संस्कृत शोध लेखमाला पृष्ठ 59-60
7. पूर्व मेघ 21

8. कुमार संभव 1/1
9. हिमालय डिस्कवरी ऑफ़ इण्डिया का एक कार्यक्रम
10. धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः
11. मनुस्मृति
12. रघुवंश के इन्दुमती स्वयंवर में इन्दुमती की दीपशिखा से दी गयी उपमा इतनी प्रसिद्ध हो गयी कि कवि का नाम ही 'दीपशिखा-कालिदास' पड़ गया। इन्दुमती जिन-जिन राजाओं को छोड़कर आगे बढ़ती जाती थी, उनका मुँह उदास पड़ता जाता था जैसे राजमार्ग के वे-वे भवन जो दीपक के आगे बढ़ जाने पर धुँधले पड़ते जाते हैं।
    संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा
    नरेन्द्रमार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः।। रघुवंश 6.67।
13. रघुवंश 1/18
14. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
    तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।
    (यजु0 31/18)
    अर्थात्, मैं उस प्रभु को जानूँ जो सबसे महान् है, जो करोड़ों सूर्यों के समान देदीप्यमान है, जिसमें अविद्या और अन्धकार का लेश भी नहीं है। उसी परमात्मा को जानकर मनुष्य दुःखों से, संसाररुपी मृत्यु-सागर से पार उतरता है, मोक्ष-प्राप्ति का और कोई उपाय नहीं है।

■

फाँस उपन्यास में अभिव्यक्त पर्यावरण संकट और किसान जीवन

श्रीमती स्नेहलता खलखो
शोधार्थी सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग
शास. श्यामा प्रसाद मुखर्जी महाविद्यालय
सीतापुर जिला सरगुजा (छ.ग.)
डॉ. उमेश कुमार पाण्डेय
शोध निर्देशक एवं अस्सिटेंट प्रोफेसर (हिन्दी)
राजीव गाँधी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
अंबिकापुर (छ.ग.)

पर्यावरण संकट और किसान जीवन में मैंने संजीव कृत उपन्यास 'फाँस' को लिया है। फाँस उपन्यास महाराष्ट्र यवतमाल जिला बनगाँव का है। परंतु उपन्यास पठन के दौरान ऐसा प्रतीत होता है, यह घटना विदर्भ, आंध्रप्रदेश व कर्नाटक के किसान जीवन से लेकर भारतवर्ष के विभिन्न क्षेत्रों के किसानों की घटनाओं से जुडा है। बनगाँव जैसा कोई भी गाँव होगा जो आधा वन होगा, आधा गाँव, आधा गीला, आधा सूखा, बनगाँव के पूरब देखो तो जंगल शुरू होने लगता है, पश्चिम देखो तो पठार। कभी-कभी तो पूरब में पानी पड़ रहा होता है और पश्चिम में नहीं, सो बारिश से बचने के लिये बकरियाँ, गाय-भैंस, लोग-बाग भागकर पश्चिम आ खडे होते हैं। वैसे बारिश का क्या है, बरसी तो बरसी नहीं तो नहीं बरसी। गाँव की बस्ती मिश्रित है यहाँ ब्राह्मण, राजपूत, कुछ एक मराठा परिवार, चमरा, कुनबियाँ, मांस, मछुआरा, आदिवासी वर्ग रहते हैं। इसी गाँव का एक किसान है जिसका नाम शिवशंकर और उसकी पत्नी शकुंतला से कहानी प्रारंभ होती है। गाँव के लोगों का प्रमुख व्यवसाय खेती है। जंगल की संपति भी उनकी उपजीविका का जरिया है। हमारा भारत एक कृषि प्रधान देश है। किसान के लिये खेती व्यवसाय नहीं, बल्कि जीवन जीने का तरीका है। खेती के साथ किसानों का रक्त संबंध का रिश्ता है। किसानीपन उनके खून में है। माँ के साथ बच्चे का जो रिश्ता होता है, वही संबंध किसान का जमीन के साथ है। वह खेती

को माँ कहता है। इसलिए वह खेती करना कभी नहीं छोड सकता है। खेती उसकी जीविका का प्रमुख साधन होने के बावजूद किसान के लिये खेती उद्योग नहीं है। उद्योग का उद्देश्य पैसा कमाना होता है। इसलिये औद्यौगिक दृष्टि का अभाव हमारे देश के किसानों में है। शिबू और शकुन उनकी दो बेटियाँ सरस्वती और कलावती है, आर्थिक रूप से मजबूत न होने के कारण दोनों की पढाई बंद करा देता है। पूरे परिवार मिलकर खेती करने में जद्दोजहद लगा देता हैं फिर भी सफल नहीं हो पाते। इसलिए शकुन कहती है— 'इस देश का किसान कर्ज में जन्म लेता है, कर्ज में ही जीता है, कर्ज में हीं मर जाता है।' इनकी तरह अन्य परिवार भी इसी समस्याओं का सामना कर रहे हैं। शकुन और शिबू और शुभा का पति अमर बैंक का कर्ज चुकाने कुल सताईस हजार लेकर चल पड़े—बैंक पहुँचने पर पता चलता है कि ब्याज सहित उनका पैसा उन्तीस हजार नौ सौ साठ रू. हो गया। शिबू की स्थिति काटो तो खून नहीं हो जाता है। अचानक शिबू देखता है, शकुन के गले में हँसुली है, शकुन से हँसुली लेकर बैंक के कर्मचारी के साथ बेचकर आता है और फिर कर्ज चुकाता है। शकुन से कहता है शिबू-रानी ये कर्ज गले की फाँस है, निकाल फेंको और जिस दिन मैंने निकाल फेंका वह जैसे निहाल हो गया, गाँव भर में लडडू बँटे, गीत गाते हुए बरसात भी भींगते हुए नाचता रहा, रह-रहकर गले को देखता, चूमता-उस दिन देखा था तेरा रूप गले में हंसली निकाल रही थी तू तमतमाया चेहरा, फटकर बाहर निकल पडने की बेताब आँखे जैसे हंसुली नहीं परान खींचे चले आ रहे थे, मगर तूने छोडा नहीं, फाँस को गले से निकाल ही फेंका। घर आये। पानी बरस रहा था, वह उसी गले से लिपट गया अब तक इस फाँस ने मुझे मुझसे दूर रखा आज अब और नहीं। शिबू के पास कर्ज नहीं था, लेकिन बैंक में पहले का कर्ज अदा करने में ही तबाह होकर उसने कुएँ में डूबकर आत्महत्या कर लिया।

किसान हमारे देश का आधार स्तंभ है फाँस उपन्यास के किसान मुख्य रूप से धान, कपास, गन्ना, सोयाबीन, ज्वार गेहूँ आदि की खेती करते हैं। किसान की खेती पर्यावरण पर भी निर्भर करती है। आवश्यक्तानुसार किसान जलाऊ लकडी के लिए पेड़ काटता है किन्तु वह बदले में पेड़ लगाता है। किसानों का जीवन विभिन्न परेशानियों से घिरा हुआ है। परिवार सुखी रखने के लिए बरसात, ठंडी, गर्मी सभी जलवायु से जूझता है, फिर भी न खुद सुखी रहता है न ही परिवार को सुखी रख पाता है। किसानों के संसाधन खास कर जल, जंगल जमीन है और हमारे देश के खनिज सम्पति है। जैसे-कोयला, सोना, चांदी, इस्पात, तेल इत्यादि। परंतु बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ कृषि को समूल नष्ट कर रही हैं। भारत की कृषि को विदेश नीति ने प्रभावित व नियंत्रित किया है। अपने देश में किसानों के लिए योजनाएँ मुहैया कराने में किसानों के लिए नीति और भारत के किसानों के लिए दूसरी नीति चलाई जा रही

है। अपने देश में किसानों के लिए सब्सिडी उपलब्ध कराने वाले अमेरिका ने भारत के किसानों पर पाबंदियाँ लाने के लिए बाध्य कर दिया।

अमेरिका के कैलिफोर्निया में कॉटन उत्पादन में हैवी सब्सिडी है, वहाँ कपास के भाव 1994 के भाव से भी कम है, मगर कितने किसान आत्महत्या करते। 22 हजार करोड की सब्सिडी है। हमारे किसानों के लिए नहीं। यहाँ हुई भी तो, सिंचित भूमि के लिए है। असिंचित भूमि के लिए नहीं। मेट्रो रेल पर सब्सिडी, सब पर सब्सिडी, कृषि पर नहीं। वैश्विक नीति या कह सकते हैं तीसरी दुनिया की नीति है धीरे-धीरे देश के स्थानीय उद्योगों को खत्म कर वहाँ के लोगों को पूरी तरह परावलम्बी बनाना। यह नीति किसान को खेती छोड़ने के लिए बाध्य करने वाली थी। इसलिए खेती के क्षेत्र में विदेशी बीज, खाद और कीटनाशक दवा सभी विदेशी। इन्हीं कारणों से किसान खेतों से फसल नहीं ले पाता था और धीरे-धीरे समस्याओं के जाल में फंसता गया। बीज उत्पादन विहीन निकला एक वर्ष बीज का लाभ किसान थोडा बहुत लिया, दूसरे वर्ष थोडा कम फसल, तीसरे वर्ष बीज से फसल उत्पादन हुआ ही नहीं। रासायनिक खाद और दवाईयों की कीमत आसमान तक छूने लगी। पूर्व ही कर्ज के गर्त में फँसा किसान, आसमानी संकट में फंसा किसान, बैंक का लोन, साहूकार व्यापारी से ब्याज लेकर जीने वाले किसान की स्थिति बद से बदतर होती चली गई। अंततः किसान आत्महत्या के लिए मजबूर हो जाता है। हिन्दी में दलित समाज की पीड़ा सर्वप्रथम पन्द्रहलीं-सोलहवीं शताब्दी में भक्ति काल के संतो की रचनाओं में मुखरित हुई और उन्होंने निर्भीकता से समाज में फैली इन कुरीतियों के विरोध में अपनी आवाज बुलंद की। आदिवासियों को उनके मौलिक अधिकारों से सदैव वंचित रखा गया और किसी भी संबंध में निर्णय लेने का अधिकार उन्हें नहीं दिया गया।

कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था एवं किसान जीवन की धूरी है। ग्रामीण समाज में अधिकांश लोग कृषि पर निर्भर हैं। मैं भी ग्रमीण परिवेश में पली बढी हूँ, इसलिए किसानों की समस्याओं को बखूबी समझती हूँ। किसान जीवन का यथार्थ है परिश्रम ज्यादा मुनाफा कम। खेती में सपरिवार योगदान महत्वपूर्ण रहता है महिला या पुरूष। फाँस उपन्यास में संजीव ने किसान जीवन का चित्रण किया है जिसमें, मजबूरी, अशिक्षा, गरीबी, लाचारी और आत्महत्या का रूप दिखाई देता है। भारत के किसान बहुल देश होने के बावजूद सबसे अधिक उपेक्षा किसानों की ही होती है। फाँस उपन्यास का किसान शेतकारी आन्दोलन में बाघ की तरह दहाड़ने वाला मोहनदादा बाघमारे, गले में रस्सी बाँधकर स्वयं गाय बनकर बां-बां बोलता है। शिबू ऐसा किसान है जो बैंक का कर्ज न अदा कर पाने के कारण अपनी पत्नी शकुन के एकमात्र आभूषण हँसली को गले से निकाल कर बेंचता है।

विजयेन्द्र देवेन्द्रशर्मा की एक रिपोर्ट को पढकर सुनाता है—यूरोप के सालाना बजट का 40 फीसदी खेती को देने के बाद भी हर मिनट में एक किसान खेती को छोड देता है। नेशनल फार्म से यूनियन के सर्वे से पता चलता है कि 70 से ज्यादा कृषि आधारित व्यवसाय मुनाफा कमा रहे हैं लेकिन इस खाद श्रृखला में किसान ही है, जो घाटे में चल रहे हैं, जैसा कि मैं कहता रहा हूँ कि अमेरिका और यूरोप में 80 फीसदी से ज्यादा सब्सिडी खेती आधारित व्यवसाय में चली जाती है। किसान एक मरती हुई प्रजाति बनता जा रहा है। मार्क्स कुटनर कहते हैं - 'बरसो से अमेरिका में किसान, आम आदमी की तुलना में ज्यादा आत्महत्या कर रहे हैं। ठीक आँकडा हासिल करना कठिन है, क्योंकि ज्यादातर मौतें दर्ज नहीं होती। एक रिपोर्ट के अनुसार चीन में हर साल मौत को गले लगाने वाले 2,80,000 ग्रामीणों में से 80 फीसदी लोग भूमि अधिग्रहण के शिकार बने लोग होते हैं। भारत में 1995 के बाद से लगभग 3 लाख लोग आत्महत्या कर चुके हैं। भारत में भी अमेरिका की तरह ये मामले पूरी तरह दर्ज नहीं होते हैं।' इसलिए कलावती (छोटी) कहती है—'कारपोरेट सोशल रिसपोंसिबिलिटी इन देशी -विदेशी सेठों की जिम्मेदारी आपूर्ति उतनी ही होती है जितने में उसका ग्राहक बचा रहे। किसी को भी किसानों की आत्महत्या की फिकर नहीं, किसी को भी नहीं।'

किसान हित नीति न होने के कारण किसानों को काफी परेशानियों का संघर्ष करना पडता है। जो नीति बनती भी है उनका लाभ किसान नहीं ले पाता। वह नियम केवल सरकारी फाइलों तक ही सीमित रहता है। किसान उन लाभों से वंचित रहता है। कठोर परिश्रम कर अन्न उगाता है, सबका पेट भरता है, परंतु स्वयं भूखे पेट सोने को मजबूर है। सरकारी नीतियों में बड़ी विडम्बना नजर आती है। किसान आत्महत्या करता है, सरकार उसे पात्र या अपात्र मान किसान को मुसीबत में डाल देती है। पंचनामा करते घूस मिला तो किसान पात्र माना जायेगा अन्यथा वह अपात्र हो जाता है। स्वतंत्रता के पूर्व अंग्रेज भारतवासियों को प्रताड़ित करते रहे, स्वतंत्रता पश्चात सेठ, महाजन, साहूकार, जमींदार ने किसानों पर अपना अधिकार बना लिया।

फाँस उपन्यास में अदम्य साहस का परिचय देने वाले पात्रों की कमी नहीं है। जो गाँव घर की विपरीत परिस्थितियों का सामना करते हुए, प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने वजूद का अहसास कराते हैं—जैसे शिबू, शकुन, कलावती, सरस्वती, विजेन्द्र, सिंधु ताई, अशोक, मल्लेश, दादाजी खोबरागडे, और खिलदंड नाना। सुनील जैसे महान गाँव के हितैषी थे। जिन्होने हर संभव प्रयास किया गाँव के विकास का। जैसे हम पाते हैं शकुन, शिबू के मौत के पश्चात बिल्कुल अकेली हो जाती है। जीवन के तमाम संकट, दुख और असुविधाओं के झेलते हुए-अपना जीवन शराब उन्मूलन में झोंक देती है। इसी प्रकार शकुन की छोटी

पुत्री कला—माँ बाप का कद्र करती है किन्तु किसी बंधन में बँधकर अपने वजूद को खोना, छोटी को भाता नहीं है। अशोक से मिलकर हमेशा वह पढ़ाई-लिखाई की चर्चा करती रही यद्यपि अशोक की माँ ने इस बात पर पुरजोर विरोध जताया फिर भी इस बात को नजरअंदाज करती रही। शादी के बाद ससुराल की पाबंदियों को आत्मसात करने के कारण ससुराल छोड़ देती है। परंतु वह अपने अधिकारों के प्रति सहज रहती है। छोटी फाँस उपन्यास की शिक्षित पात्र है। अपने विवेक से काम लेकर बांसोडा ग्राम में आजादी के 65 वर्ष बाद बिजली लाने का श्रेय कलावती याने छोटी को जाता है। छोटी बिजली ऑफिस में आवेदन देकर आती है—'यदि सात दिनों के अंदर विद्युत की व्यवस्था हमारे गाँव न हुई तो हम कोई भी कदम उठाने को बाध्य होंगे।'

आशा अपने पति सुरेश बानखेड़ा और अपनी बेटी अजंता और एलोरा का लालन-पालन करती रही। खून पसीना बहाकर सफेद कपास की खेती में सफल होती है, तत्पश्चात वह अपने पति को कपास बेचने भेजती है। कपास के मूल्य के निर्धारण में समय लगने के कारण सुरेश कपास को गाड़ी में पुनः वापस घर लाता है। गाड़ी कपास की गठरी को बाहर छोड़ देती है। आशा उस कपास को बेमौसम पानी से बचाने का पूरा प्रयास करती रही किन्तु उन्हें भींगने से नहीं बचा पाई आशा कर्ज, तंगी, ब्याज में गुजर बसर करते हुए इस नुकसान को बर्दास्त नहीं कर पायी और सामने रखे कीटनाशक सल्फास को पीकर जीवन की इहलीला को समाप्त कर देती है— 'चुब्ब चुब्ब पानी पीता रहा कपास चुब्ब चुब्ब पानी में डूबता रहा मन। अवसाद की एक फीकी–फीकी सी तासीर गाढ़ी होती गयी यह सब मेरे कारण हुआ।' फाँस उपन्यास की संघर्सशील महिलाओं में मुख्य रूप से शकुन, कलावती, सरस्वती, आशा, सिंधु ताई और मंजुला आदि हैं।

शकुन्तला शिबू जी की पत्नी है जिसे प्यार से लोग शकुन कहकर पुकारते हैं। इसने अपने परिवार के लिए काफी संघर्ष किया, इसमें आदर्श पत्नी, माता, श्रमशीलता के गुण के साथ अदम्य जुझारूपन स्वभाव नजर आता है। जब मनमोहन सिह प्रधानमंत्री थे उस समय पैकेज के तहत विदर्भ के किसानों को 20000.00 की गाय को किसान से 500.00 रू लेकर गाय दिया गया। गाय मनमोहक थी 20-20 लीटर दूध देती थी। तुकाराम जब गाय लिया पूरा परिवार खुश था, किन्तु गाय का दूध खपत करना, उसे बेचना तुकाराम के लिए समस्या बन गया। उसी प्रकार अन्य किसानो ने गाय लिया, परंतु विदर्भ की सूखी धरती पर मवेशियों को खिलायेंगे क्या और दूध को बेचेंगे कहाँ। नौ हजार संग्रह कर दो दो मनमोहनी गाय लेकर, यहाँ के किसानों का क्या लाभ हुआ ? लाभ कहीं हुआ, तो बिचौलियों को। योजना मनमोहन सिंह की ठीक थी, गलत हुआ इसका स्थानीय नियोजन। यहाँ फसल के

लिए पानी नहीं, जहाँ किसान कर्ज में डूबे हुए हैं, जहाँ दूध को ग्राहक के पास पहुँचाने का उपाय न हो, वहाँ गाय का धंधा एक बोझ नही ंतो और क्या है। 'काश हम जैसे किसानों से पूछते सबका उध्दार करती है गौमाता लेकिन यहाँ तो गलत हीं गलत है, इसलिए कि कोई भी चीज अपनी माटी-पानी की नहीं। विदेशी बीज, विदेशी कर्ज, विदेशी गाय, विदेशी नीति और यहाँ का सूखा किसान, सूखी धरती किसानों के पास खाने के कुछ पैदा होता नहीं। एक फसलिया खेत। जोआरी बोथे नहीं, क्या है अब कपास खाकर मनमोहनी गाय का दूध पीकर जिंदा रहना है। इसलिए नशे की हालत में किसान कहते हैं—आपस में वे इस तरह बहकने लगे जैसे शहंशाह हों एकदम बुद्धू है सरकार। गाय तो बडे सेठ को देना चाहिए जो उसे खिला सके, पिला सके, जिला सके। हमारे लिए तो बकरी ही भली, जो खुद चर कर चली आती।' इन्हीं परिस्थितियों के कारण किसान मंहगी गाय को गाँव के सेठ महाजन को औने- पौने दाम में बेंचकर पुनः कर्ज के भार में दब जाते और आत्महत्या का रास्ता चुनते हैं।

बिज्जू से एक बुजुर्ग कहते हैं—'हमने सोचा कि सरकार और सरकारी कर्ज पर भरोसा करेंगे तो मारे जायेंगे, देने वाले का हाथ हमेशा ऊपर, और लेने वाले का हमेशा नीचे।' मेंडालेखा आदर्ष गाँव है वहाँ पर ना धर्म जाति का बंधन न किसी संपत्ति पर एकाधिकार न दारू न अन्य कोई बुराई इसलिए राव साहब कहते हैं—'जो-जो चीजें इंसान के इंसान से इंसान के प्रकृति ओर पर्यावरण से जुदा करती है अपने अंखुआने से पहले ही उनका निषेध कर दिया है। दिल्ली मुम्बई हमारी सरकार हमारे गाँव में, हम ही सरकार इस सरकार को सलाम।

किसानों की समस्याओं से निजात दिलाने के लिए सरकार को उनकी सुविधाओं को ध्यान में रखकर नई-नई योजनाएँ बनाना है। चाहे वो बैंक कर्मचारी, नेता, शासन-प्रशासन, बिचौलियों से बचाकर, लाभ किसान को देना है। किसान को मौसम पर आश्रित न होकर बदलते समय के साथ आधुनिक तकनीकी से जुडकर योजनाबध्द तरीके से खेती करना पड़ेगा, प्रकृति के प्रकोप से खेती को बचाने के लिए नलकूप, कुंआ, तालाब, बोरबेल का सहारा लेना पडेगा तभी किसान अपने फसल का मुनाफा प्राप्त करेगा। बदलते परिवेश के साथ किसान को रबी और खरीफ दोनों फसल का उत्पादन करना पड़ेगा। जिससे किसान की आर्थिक स्थिति मजबूत होगी और उनका मन आत्महत्या की ओर नहीं जायगा। उपन्यास का जिम्मेदार पात्र चाहे वह शिबू , सूनील और आशा बानखेडे हो कर्ज के साथ-साथ फसल की बर्बादी आर्थिक क्षति की वजह से आत्महत्या को गले लगाए हैं। फाँस उपन्यास का शिक्षित पात्र विजयेन्द्र बच्चों की शिक्षा, शादी, खाद, बीज, कीटनाशक बैंक से लेना उचित

मानते हैं जिससे किसान कर्ज से मुक्त होगा, पर्यावरण की सुरक्षा करते हुए भूमंडलीकरण से बचना होगा, किसानों के सहयोग के लिए शासन को फसल बीमा योजना, किसान पेंशन योजना, किसान हित में अन्य सुविधा, जल हौज अनुदान योजना का लाभ दिलाना होगा।

संदर्भ :

आधार ग्रंथ-

1. संजीव, फाँस, वाणी प्रकाशन द्वितीय 2016
   पृ. सं.- 17, 15, 63, 108, 107, 159, 196- 197, 15, 107, 134, 144, 67, 69, 71, 242, 243।

सहायक ग्रंथ-

1. गोयल कशिश एवं शाक्य अमिताभ, हिन्दी आलोचना, साहित्य सरोकार
2. किंकर राम पाण्डेय 2016 हिन्दी साहित्य में किसान सपने संघर्ष और चुनौतियाँ 21वीं सदी, वाणी प्रकाशन नई दिल्ली
4. सिंह किरण 2019 संजीव कृत फाँस उपन्यास में किसान एवं आदिवासी संघर्ष, विकास प्रकाशन, कानपुर।

■

महाकवि कालिदास के काव्यों में प्रकृति का स्वरूप

महेश कुमार अलेंद्र
सहायक प्राध्यापक (संस्कृत)
इंदिरा गाँधी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय
भिलाई, जिला—दुर्ग (छ.ग.)

महाकवि कालिदास प्रकृति नटी के कुशल चितेरे हैं, उनका प्रकृति वर्णन सूक्ष्म मार्मिक और यथार्थ है। प्रकृति को जितना महत्वपूर्ण स्थान कालिदास के काव्यों में मिला है उतना परवर्ती साहित्य में नहीं। नारी सौंदर्य के चित्रण एवम नायिकाओं के अलंकरण के लिए भी प्राकृतिक उपादानों का ग्रहण करतें हैं। प्रकृति के आलंबन, उद्दीपन, मानवीकरण उपदेशात्मक मानव की सहचरी आदि विविध रूप कवि की कुशल लेखनी से मूर्त हो उठे हैं। प्रकृति मानव की प्रारंभिक सहचरी रही है, जब से मानव ने इस भूपटल में जन्म लिया है, तभी से वह प्रकृति के साहचर्य में आया है। वह सूर्य चंद्रादि से प्रकाशित हुआ है, वृक्षों ने उसे छाया प्रदान की है, भूमि ने उसे अन्न दिया है, झरनों ने उसे शीतल जल प्रदान किया है एवं समुद्र ने उसे रत्न दिए हैं, अतः मानव एवं प्रकृति का निरंतर संयोग रहा है। इसी सुन्दर प्रकृति ने उसे यदा-कदा झंझावात, उत्पल-वर्षा व तिमिर से भयभीत एवं अस्थिर किया और इन सबके कारण उसने परमेश्वर का सहारा लेकर भय व कम्पन से छुटकारा पाने का प्रयास किया है, यही कारण है कि जगत के आदि ग्रंथो से ही हमें इंद्र, सूर्य, वरुण, चन्द्र, वायु, एवं पृथ्वी विषयक गुणगान मिलते हैं। ऋग्वेद के ही एक मंत्र में इंद्र द्वारा पर्वतो को अचल करने, कम्पित पृथ्वी को स्थिर करने व गगन मण्डल को सँभालने का सुन्दर वर्णन मिलता है—

यः पृथ्वी व्यथमानामदृंढं यः घौ पर्वतान्प्रकुपितां अरम्णादः।
यो अन्तरिक्ष विषमे वरीयो यो द्यामस्तभनात्स जनास इंद्रः।।1

पर्यावरण दो शब्दों से मिलकर बना है—'परि' + 'आवरण' से बना है। परि शब्द का आशय है—चारों ओर एवं आवरण से आशय है—घेरा अर्थात जो हमें चारों ओर से घेरे हुए है उसे पर्यावरण कहते हैं, अर्थात पर्यावरण का शाब्दिक अर्थ होता है हमें चारों ओर से घेरे हुए। पर्यावरण उन सभी प्रकार के सजीवों के अस्तित्व एवम विकास के लिए उपयुक्त और अनुकूल वातावरण/दशाओं को निर्मित करता है। अर्थात पर्यावरण किसी एक तत्त्व का नाम नहीं है, बल्कि उन समस्त दशाओं या तत्वों का सम्पूर्ण योग है, जो कि सभी प्रकार से सजीवों के जीवन एवम विकास को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रभावित करती है।

आर. एम. मैकाइवर के अनुसार—मानव आवास पृथ्वी और उस पर व्याप्त समस्त प्राकृतिक दशाएँ भूमि, जल, मैदान, पर्वत, खनिज, संसाधन, पादप, प्राणी एवं सम्पूर्ण प्राकृतिक शक्तियां, जो कि पृथ्वी पर मानव जीवन को प्रभावित करती है, पर्यावरण का एक भाग है।[2]

इस दृष्टिकोण से पर्यावरण के तत्वों को तीन समूहों में विभक्त किया जा सकता है—

1. **भौतिक तत्व**—धरातल, जलवायु, मृदा, जल, वायु, सागर, नदी, झील, खनिज, पर्वत इत्यादि।
2. **उर्जा तत्व**—वर्षा, (सूर्य, चन्द्रमा) ताप एवम प्रकाश।
3. **जैव तत्त्व**—वनस्पतियाँ एवं जीव-जन्तु।

पर्यावरण का सीधा संबंध प्रकृति से है अपने परिवेश में हर तरह के जीव जन्तु, पेड़ पौधे तथा अन्य सजीव-निर्जीव वस्तुएँ पायी जाती हैं।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने महाकाव्य में प्रकृति (पर्यावरण) चित्रण को अनिवार्य तत्व मानते हुए उसे इस प्रकार स्पष्ट किया है—

संध्या सुर्येन्दुरजनी प्रदोषध्वान्तवासराः।
प्रातर्मध्याहन मृगयाशैलतु वन सागराः।।[4]

अर्थात किसी भी महाकाव्य में संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, तारे, प्रदोष, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्यान्ह, पर्वत, ऋतु, वन, उपवन, समुद्र, नदी, मरुस्थल, झरना, तालाब, आकाश, बादल, बिजली, जल, कमल, कुमुदिनी, पशु-पक्षी, इत्यादि का यथा स्थान कही कहीं यथा संभव साङ्गोपाङ्ग चित्रण होना चाहिए।[3]

महाकवि कालिदास की प्रमुख सात रचनाएँ—

ऋतुसंहार, मेघदूत, रघुवंशम्, कुमारसंभवम्, मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम्, अभिज्ञानशाकुंतलम्।

कालिदास को प्रकृति से गहरा प्रेम है, जो इनकी रचनाओं में पर्यावरण (प्रकृति) का मानवीकरण दिखाई देता है—

1. ऋतुसंहार—में कवि ने बाह्य प्राकृतिक सौन्दर्य के निरूपण के जगह मानव पर पड़ने वाले प्रभावों का वर्णन अधिक किया है इसके ऋतुगीतों में प्रकृति के सौन्दर्य का उद्दीपक वर्णनकिया गया है। यह महाकवि की प्रथम रचना मानी जाती है। ऋतुसंहार में छह सर्गों में छह ऋतुओं में वर्णन—ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमंत, शिशिर, और वसंत ऋतु का स्वाभाविक एवम मनोहारी वर्णन किया है। काव्य का प्रारंभ—ग्रीष्म ऋतु के प्रचंड ताप से होता है—हे प्रिये ! ग्रीष्म आ गई, सूर्य की किरणे प्रचंड हो गई। चन्द्रमा सुहावना लगने लगता है निरंतर स्नान करना अच्छा लगता है, सायंकाल मनोहर लगता है, काम का वेग शांत हो गया है—

प्रचंडसूर्यः स्पृहणीयचन्द्रमाः सदावगाहक्षत वारिसंचयः।
दिनांतरम्योस्यभ्युशांतमन्मथो निद्राकालोस्यमुपागतः प्रिये।[1]

वातावरण शुष्क हो गया, फसल पक गए, सूखे पत्ते पवन के वेग से एक स्थान से दुसरे स्थान पर पहुँच गए। पटुतरदवदाहोच्छुष्कसस्यप्ररोहाः, परुषपवनवेगोत्क्षिप्तसंशुष्कपर्णाः। (1-22) क्रमशः वर्षा, शरद, हेमंत, शिशिर ऋतु का वर्णन किया है। साथ ही इन ऋतुओं के मानव जीवन में प्रभाव का यथार्थ चित्रण किया है। वर्षाकाल में विरह-पीड़ित, अश्रु पीड़ित कमल नयनाएँ उसी प्रकार शृंगार से वियुक्त हो जाती है जिस प्रकार पीले पत्ते वृक्षों से—विलोचनेन्दीवरवारि बिन्दुभी–स्थिता निराषाः प्रमदाः प्रवासिनाम। (6)

हेमंत ऋतु पूरे अंक में नायिकाओं को पीड़ित - आनंदित करती है -

नवप्रवालोद्रमसस्यरम्यः ....
हेमंतकालः समुपगतोऽयम्समुपागतः प्रिये। (1)

कवि बसंत ऋतु के मादक वातावरण में काव्य को समाप्त करते हुए चारुत्तर हो उठता है—

द्रुमाः सपुष्पाः सलिलं सपदम स्त्रियःसकामाः पवनः सुगंधितः।
सुखाः प्रदोषा दिवसाश्च रम्याः सर्वे प्रिये चारुत्तरं वसन्ते।। (6-2)

बसंत ऋतु सभी के लिए सुखकर हो—ऋतु परिवर्तन से प्रकृति के बाह्य रूप में नवीनता एवं विचित्रता आती है, ग्रीष्म के प्रचंड ताप एवम दाह पीड़ा को भोगने वाली धरती, वन पत्थर, पशु, पक्षी वसंत के मधु-वैभव को प्राप्त करते हैं।

''भवतु तव वसंत-श्रेष्ठ कालः सुखाय''।5

2. मेघदूत—मेघदूत में विरही यक्ष जब पहाड़ी ढलान पर मेघ को देखता है तो मेघ से प्रभावित होकर यक्ष कह उठता है—धूमो ज्योतिः सलिल मरुताम सन्निपातः क्व मेघः। (1-5)

धुआं, अग्नि, जल और वायु से समन्वित रूप मेघ भी आकाश में विभिन्न रूप धारण करता है। पुष्कर और आवर्तक नामक मेघ का वर्णन हुआ है।

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः,
शापेनास्तठमितमहिमा वर्षभोग्येन भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनया स्नान पुष्योद्केषु,
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु। (1-1)

पवित्र जल वाले तथा छायादार वृक्षों से युक्त रामगिरी आश्रम का वर्णन, वेत्रवती नदी के चंचल लहरों वाले एवं मधुर जल (त्सभ्रुमङ्गःमुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि), माल नामक पठार, आकाश में उमड़े हुये (बादल) तुमको पथिकों की स्त्रियाँ (पतियों के घर लौट आने के) विश्वास से आशापूर्ण होकर बालों के अग्रभाग को ऊपर लिए हुए देखेंगी। (त्वामारुढं पवनपदवीमुद्ग्रहीतालकान्ताः), जहाँ (अलकापुरी में) वृक्ष सदा पुष्पों से युक्त (अतएव) मतवाले भौरों से गुंजायमान हैं, कमल लतायें (या बावलियाँ) नित्य कमलों वाली (अतएव) हंसों की पंक्तियों की मेखला (तगड़ी) बांधे हुये है, चमकते हुये पंखो वाले पालतू मोर शब्द करते समय गर्दन ऊपर उठाये रहते हैं, और रात अंधकार दूर होने के कारण छिटकी हुई चांदनी वाली (अतएव) परम सुहावनी होती है।

यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पा,
हंसश्रेणीरचितरशना नित्यप नलिन्यः।
केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा,
नित्यज्योत्सनाप्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः।। (2-3)

अनुकूल पवन तुझे धीरे-धीरे ठीक ही ले जा रहा है, यह अभिमानी चातक तेरी बाँई ओर स्थित होकर मीठा-मीठा बोल रहा है गर्भाधान के आनंद के अभ्यास के कारण आकाश में पङ्क्तियाँ बाँधे हुये बगुलियाँ आँखों को सुंदर लगने वाले तेरे पास अवश्य पहुँचेगी।

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकुलो यथा त्वां, वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगर्वः।
गर्भधानकण परिचयान्नूनमाबद्रमालाः सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः।।(10)

(हे! मेघ) मै जानता हूँ कि तुम भुवनों में प्रसिद्व पुष्कर और अवर्तकों के कुल में पैदा हुये हो, इच्छा के अनुसार रूप धारण करने वाले इंद्र के प्रधान पुरुष हो, इसलिए भाग्यवश दूर-बन्धु (स्त्री) वाला मै तुम्हारा याचक बना हूँ। अधिक गुण वाले (व्यक्ति) के प्रति की गई प्रार्थना निष्फल हुई (भी) अच्छी है, नीच के प्रति सफल हुई (भी) अच्छी है।

जातं वशे भुवनविदिते पुष्करावर्तकानां,
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरुपं मधोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद् दूरबन्धुर्गतोऽहं,
याञ्चा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा।। (1-4)

उज्जयिनी के महलों के ऊपर वाले वाले भागों का परिचय प्राप्त करने से विमुख न होना। वहाँ (उज्जयिनी में) बिजली की रेखाओं की चमक से भौचक्की (डरी) हुई नगर की नारियों की चंचल कनखियों वाली आंखो का यदि तुमने आनंद नही लिया तो तुम (जीवन सफलता से) अपने को वंचित ही समझो।(27) (वक्रःपन्था यदपि भवतःप्रस्थितस्योन्तराशा.), सौधात्सठप्रणयविमुखो मा स्म भुरुज्जयिन्याः।(27) वर्षा को उड़ेले हुए तुम जंगली हाथियों के सुगन्ध वाले मद से सुगन्धित (और) जामुनों के कुञ्जों द्वारा रोके गये वेग वाले उस (नर्मदा) के जल को लेकर जाना (तस्यास्तिक्तैर्वनगज मदैर्वासितं वान्तवृष्टि, जम्बू कुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः) (20) आषाढ के पहले दिन पहाड़ की चोटी से सटे हुये बादल को देखा, जो कि टीले से मिट्टी उखाडने के खेल में तिरछे दाँतों से प्रहार करते हुए हाथी के समान दिखाई दे रहा था।

आषाढस्य प्रथम दिवसे मेघमाश्लिष्टसानुं,
वप्रक्रीड़ापरिणत गज प्रेक्षणीयं ददर्श। (1-2)

ले जाने वाले पवन (अलका) द्वारा नई-नई जल कणिकाएँ सुन्दर तस्वीर को खराब करके डरे हुए से, धुएँ के निकलने का अनुकरण करने में चतुर बने हुए तुम्हारे -जैसे मेघ बिखर के जल्दी -जल्दी खिडकियों से निकल भागते हैं।

(उ.8) हे प्रिये! धातुओं के रंगों से पत्थर पर प्रेम के कारण रूठी हुई तुम्हारी तस्वीर बनाकर ज्यो ही अपने आपको तुम्हारे पैरों पर गिरा हुआ बनाना चाहता हूँ, त्यों ही बार-बार उमड़े हुए आंसुओं से मेरी आँखें भर आती है। निर्दयी दैव उस (चित्र) में भी हमारे मिलन को नहीं सहते।

त्वमालिख्य प्रणयकुपिताम धातुरागैः शिलाया—मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम।
अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितै-ष्टिरालुप्यते में क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते संगमं नौ कृतान्तः।। (2-45)

मेघदूत में प्राकृतिक वातावरणों का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है—मालप्रदेश, क्षिप्रानदी, मानसरोवर, कैलाश पर्वत, कुरूक्षेत्र, गंगा नदी, यमुना नदी, स्वेतहंस, मृग, वेत्रनदी, इत्यादि का मानवीकरण चित्रित किया गया है।[6]

3. रघुवंशम—महाकाव्य में महर्षि वशिष्ठ के आदेशानुसार राजा कामधेनु की पुत्री नंदिनी गौ की सेवा का व्रत—

अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जाया प्रतिगृहीतगंधमाल्यम।
वनाय प्रीतप्रतिबध्दवत्साम यशोधने धेनुमृषे र्मुमोच।। (1)

वायु से संचरितवन की कोमल लताओं ने अपने समीप उपस्थित होने से अग्नि सदृश राजा दिलीप पर फूलो की वर्षा की जिस प्रकार नगर कन्या स्वागतार्थ माँगलिक खीलों की वर्षा करती हैं—

मरुतप्रयुक्ताश्च मरुत्सखाभं तमच्यमारादभिवर्तमानम।
अवकिरण बललताः प्रसुनैराचारलाजेरिव पौरकन्या।। (10)

राजा दिलीप के पर्वत पर पहुँचने मात्र से वन प्रदेश की दावाग्नि शांत हो गई, फूलों और फलों से समृद्ध हो गई। साथ ही राजा-रानी के बीच नन्दनी गाय ऐसी शोभा दे रही है जैसे—दिन और रात के बीच में संध्या। देवदारु वृक्ष पेड़ को देख रहे हों इसे शंकर ने पुत्र भाव से माना है, इसे माता पार्वती ने सोने की घट से जल का अस्वाद लिया। अमुम पुरः पश्यति देवदारु पुत्रिकृतोऽसौ .....पयसाम् रसज्ञाः। (47)

पर्वतीय झरनों के जल बिन्दु, शीतल मंद वायु, हिमालय पर्वतीय गुफा का वर्णन, देवदारुवृक्ष, कैलाश पर्वत के समान शुभ्र बैल का मित्र कुम्भोदर नामक शेर हूँ (कैलाशगौरं वृषमाःरुक्षो ...निकुम्भमित्रं), तृतीय सर्ग में अश्वमेघ यज्ञ का वर्णन, आठवें सर्ग में–वसंतऋतु का वर्णन, नौवें सर्ग में–राम द्वारा समुद्र तट और समुद्र मार्ग का वर्णन,सोलहवे सर्ग में रात्रिकाल में कुश के शयन कक्ष में आराध्य देवी आगमन का वर्णन, कुश के जल विहार का सजीव चित्रण किया गया है।[7]

4. कुमारसंभवम—कुमारसंभवम में ऐसे रमणीय चित्र विद्यमान हैं, जो सहज ही आकृष्ट कर लेते हैं। प्रथम सर्ग में पावर्ती का सौन्दर्य और प्रथम सर्ग में ही प्रथम श्लोक में हिमालय पर्वत का वर्णन मानो वह प्रकृति को मापने का विशाल शुभ्रदण्ड हो—

अस्त्युत्तरस्याम दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाहय स्थितः पृथिव्या इव मानदंडः।।(1-1)

शिव के महिमामय स्वरूप का दर्शन भी परिलक्षित करता है -चर्म पर बैठे समाधिस्थ शिव का जटा-जूट सर्पों से बंधा, पवनों को रोक कर अचल बैठें हैं, जैसे ना बरसने वाले श्याम बादल हो, बिना लहरों वाला निश्छल जलाशय हो या अचल पवन में विमान दीपशिखा वाला दीपक हो।

कुमार सम्भवम का वर्षा चित्रण भी बढ़ा भयावह है—

घोरान्धकरनिकरप्रतिमों युगांतकलानलप्रबलधुमनिभो नभोसन्ते।

गर्जारवैर्विघटयन्नवनीधरानाम श्रृंगाणि मेघनिवहो घनमुनज्जगाम।। (2-2)

कुमार कार्तिकेय के वरुणास्त्र चलाते ही भयंकर अँधेरा करती हुई प्रलय की आग से उठे हुए धुएँ के समान ऐसी काली -काली घटायें आकाश में छा गयी जिनके गर्जन से पहाड़ की चोटियों तक दरारें पड़ गयी।

देवर्षि नारद द्वारा वर रूप में शिव का उल्लेख करने पर पिता के पास बैठी पार्वती के हृदयगत् अनुराग नारी सुलभ लज्जा और संकोच की सहज अभिव्यक्ति.....

एवं वादिनी देवर्षि पार्श्वे पितुरधोमुखी

लीलाकमल पत्राणि गणयामास पार्वती। (6-84)

तृतीय सर्ग में असमय वसंत ऋतु का आगमन शिव का तृतीय नेत्र का खुलना।

इत्यादि सर्गों में प्रकृति का चित्रण किया गया है।[8]

5. मालविकाग्निमित्रम—नायक-नायिका के गुणों का वर्णन किया है -किसी विशेष पात्र योग्यता वाले पात्र से किसी अन्य का संपर्क होने पर उनके गुणों में परिवर्तन संभव होता है जैसे—बादल से बरसे जल की बूंद समुद्र की सीपी में प्रवेश करती है।

पात्र विशेष न्यस्तम गुनान्तरम व्रजति शिल्पमाधातुः।

जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलताम जयोदस्य।।(1-6)

आम्र के वृक्ष में कोयल का कूकना, आम्रमंजरी की सुगंधित वातावरण दाहिनी ओर वायु प्रवाहित हो रही है—आमत्तानाम श्रावणसुभगैः कुंचितै कोकिलानाम .....माधवेन। (3-4) नायिका की सुन्दरता की तुलना प्रकृति की नव पल्लव से किए है जिसे नाखून से खरोचा नहीं गया है, अशोक वृक्ष अभी कुसिमित नहीं हुई है—

नवकिसलय रागेणाग्रपादेन बाला स्फुरति नखरुचा द्वौ हन्तुमर्हत्यनेन।

अकुसुमितमशोकम दोहदापेक्षया वा प्राणमितशिरसं वा कान्तामार्द्रापराधम।। (3-12)

ज्ञानी पुरूष के साथ ही गधे और भृंग बारिश और तेज हवाओं के समय कोटर (गुफा) में चले गये।

मधुरखरा परभृता भ्रमरीच विबुद्ध सूतसंगिन्यौ।

कोटरम् कालवृष्टयाः प्रबल पुरो वातया गतिमतेः। (4-2)

राजा को धारिणी का यह संदेश मिलता है कि अशोक वृक्ष से पुष्प पुष्पित हो चुके है। अतः वे रक्त अशोक के पास पहुँचे वहाँ उनकी प्रतीक्षा कर रही है। उधर राजा के पास

यह भी समाचार आता है कि उनकी सेना ने विदर्भ नरेश यज्ञसेन को परास्त कर माधवसेन को मुक्त करा लिया है—

परभृत कलव्याहारेषु त्वमात्तरतिर्मधु, नयसि, विदिशातीराद्यानेष्ठठ इवाठ।

विजयकारिणामालानत्वं गतः प्रबलस्य ते, वरद! वरदारोधोवृक्षैः सहावनतो रिपुः।।

धारणीं ने मालविका को प्रमदवन में जाने का वचन दिया कि यदि पाँच दिन में अशोक पुष्प पुष्पित हो जायेंगे तो मालविका का मनोरथ पूर्ण कर देंगी।[3] यद्यपि सम्पति पर साँप के समान रानी मालविका पर निगाह रखती है। रक्त रंजित पैर से मालविका द्वारा अशोक वृक्ष पर प्रहार, राजकुमारी वसुमती को बन्दर ने डरा दिया है, जिससे वह रोना बंद ही नहीं कर रही है।[4] राजा को धरणी का सन्देश मिलता है कि अशोक पुष्पित हो चूका है, अतः उसे स्वीकृति दे।

पुडरीका वदन सूर्योदय और सूर्यास्त के समय सुंदरलालिमा से युक्त एक क्षण के लिए स्त्री का चेहरा समान रूप से दिखाई दे रहा है—

सूर्योदये भवति या सुर्यास्तमेंय च पुंडरीकस्य।

वदनेन सुवदनायास्ते समवस्थेव क्षणाढूढें।। (4-7)[9]

6. विक्रमोर्वशीयम्—विक्रमोर्वशीयम् नाटक की कथा कुट शिखर के आसपास घटित होती दिखाई देती है। विक्रमोर्वशीयम् के प्रथम अंक भी अविर्भते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रिः। यहाँ चन्द्रमा उदित हो रहा है रात्रि अंधकार के परदे से निकलती जाती है तथा धुएँ का आवरण क्रमशः अदृश्य होता चला जा रहा है, कगारों की गिरने की प्राकृतिक छटा चित्रित कर रही है।

राजा पुरुरवा अप्सरा उर्वशी की राक्षस से रक्षा करता है, अप्सरा उर्वशी फूलों के समान सुकुमार उनका हृदय अब तक कांपना नहीं छोड़ सका—मुंचति न तावदस्य कम्पं सुमुख सम्बन्धनम् हृदयं। (पृष्ट-14)

द्वितीय अंक में अप्सरा उर्वशी की अपनी सखियों के साथ गंगा, यमुना नदी की तट पर आनन्द विहार का वर्णन किया है—

न तथा नन्दयसि माँ सख्या विरहिता तथा

संगमें पूर्व-ष्टेव यमुना-गंगा विना।। (2-15)

राजा पुरुरवा अप्सरा उर्वशी की सुन्दरता को देखकर मोहित हो जाते हैं और उसकी सुन्दरता का वर्णन-आभरणों की आभरण, सजावटी में सुन्दर, उपमानो में उपमान, इनकी देह ऐसी विलक्षण सुंदरी है—

आभारणस्याभरणम प्रसाधनाविधे प्रसाधनविशेषः।

अमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः।। (2-3)

अप्सरा उर्वशी द्वारा स्वर्ग में इंद्र के दरबार में एक कार्यक्रम में परमेश्वर की जगह राजा पुरुरवा का नाम आ जाने पर देव ने धरती जाने का श्राप दे दिया। उर्वशी धरती पर आ जाती है। एक ओर राजा पुरुरवा-उर्वशी के यादों में दुखित होकर पागलों की तरह इधर-उधर भटक रहें है, इसका वर्णन कवि ने हंस-हंसी की जोड़ा से किया है—

सहचरी दुखालीढ सरोवरे स्निग्धं।

वाचावलिंगतनयन ताम्यति हंसी युगलम।। (4-2)

चित्रलेखा के मुख को देखकर मुरझाये कमल के समान दुःख से सिमटे अधीर हंस युगल सरोवर में तकलीफ उठा रहे हैं। प्रिय मयूर, कोयल, चक्रवाक, हाथी, भ्रमर, पर्वत, नदी, मृग, तुम्हारे अमंगल के धूमधाम किससे नहीं पूछा?

मयूरः परभृंध्दसो राथांगोअलीगर्जः पर्वत सरित्कुरंगः।

तव कारणेननाख्ये भ्रमता को न खलु पृष्टो मया रुदतो।। (4 -70)10

7. अभिज्ञानशाकुंतलम के मंगलाचरण में जल, अग्नि, यजमानरूप मूर्ति, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी, वायु, अष्टमूर्ति रूप की वंदना की है - या सृष्टिः सुष्टूराघ्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री..(1-1)। ग्रीष्म ऋतु में जल का स्नान करना और रमणीय वातावरण का वर्णन—

सुभगसलिलावगाहाः पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः।

प्रच्छायसुलभनिंद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः।।(1-3)

शकुंतला का सौन्दर्य बाह्य सौन्दर्य की अपेक्षा नहीं करता है। सुंदर वस्तु सभी अवस्था में सुंदर प्रतीत होती है। इयमधिकमनोज्ञा.... मण्डनम्नाकृतिनाम् (पृष्ट- 61)

प्रकृति से मानव भिन्न नहीं है, उनके विचार में एक दूसरे की पूरक हैं। शकुंतला को एक विसर्ग कन्या के रूप में चित्रित किया है। वह तपोवन के वृक्ष, लता, पशु-पक्षियों आदि के सदृश एक कोमल पुष्पलता के सामान है—अधरः किसलय रागः कोमलविटपपानुकारिनौ बाहू ....। (पृष्ट -53) आम्र वृक्ष के समीप खड़ी हुई शकुंतला उसकी प्रियतमा लता के समान प्रतीत होती है—त्वया समीप-स्थितया लतासनाथ इवायम चुतवृक्षः प्रतिभाति (पृष्ट - 65) शकुंतला के विदाई के समय हिरण ने ग्रास उगल दिए, मोरें ने नाचना त्याग दिए—उदगीर्णदर्भकवला मृगी परित्यक्तनर्तना मयूरी, अपसृतपांडुपत्रा मुंचन्ति अश्रु इवलताः। शकुंतला के विदाई के समय तपोवन के अनेक वृक्ष अनेक प्रकार के वस्त्र आभूषण देकर महर्षि को सहायता करते हैं—

क्षौमं केन चिदिन्दुपांडु तरुणामाँगल्यमाविश्कृतं

निष्ठुय तश्चरणोंपरागसुभगो लाक्षारसः केनचित।

अन्येभ्यो वनदेवताकरतलैरापर्वभागोत्थीतै-

र्दत्तान्याभरणानि नः किसलयच्छायापरिस्पर्धिभिः। (4, 7)

प्रकृति भावी मंगल और अमंगल की सूचना भी देती है। माधवी लता का मुकुलित होना -शकुन्तला के पाणिग्रहण को सूचित करता है—श्रुत मया तात कण्वस्य मुखात .....(चतुर्थ अंक) भ्रमरों के द्वारा शिरीष पुष्पों का स्वाद लेने के पश्चात् उन्हें भूल जाना यह संकेत है कि दुष्यंत भी शकुन्तला से विवाह करके भूल जाएगा—ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः (1, 4) पांचवें अंक में शक्रवातर नामक स्थान में सचि तीर्थ नदी की वंदना, सातवें अंक में अदिति के द्वारा पाले गए मंदारवृक्ष वाले महर्षि मारीच के आश्रम में प्रवेश, सिह के शावक के साथ बालक भरत का खेलते हुए कहता है—ङ्किाम्भास्व रे सिंहशावक! ङ्किाम्भास्व दन्तान ते गणयिश्यामी।

पाँचवें अंक में शकुंतला को देख कर राजा ने उसकी रूपराशि का बड़ा ही हृदय ग्राही वर्णन किया है और साँतवें अंक में वियोगिनी शकुंतला का रूप सौन्दर्य पूर्णतः स्वभाविक तथा दर्शनीय है—असने परिधुसरे-विभर्ति। (7-21)

एक साथ सूर्य का उदय होना तथा चन्द्र का अस्त होना यह शिक्षा देता है कि प्राकृतिक वातावरण परिवर्तनशील है।[11]

महाकवि कालिदास-कृत काव्यों में प्रकृति वर्णन संस्कृत साहित्य में ही नही अपितु विश्व साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। वे केवल मानव सौन्दर्य के ही नही अपितु प्रकृति सौन्दर्य के भी उपासक हैं। उन्होंने प्रकृति के आलम्बन और उद्दीपन दोनों पक्षों का सुंदर चित्रण किया हैं। महाकवि ने देश, काल, वनोपवन, पर्वत, सरिता, सागर, आश्रम व ऋतु वर्णन इत्यादि क्षेत्रों में प्रकृति वर्णन प्रस्तुत किये हैं। कालिदास के मेघदूत में प्रकृति में नायिकत्व की कोमल भावना का एक वृहद निदर्शन हैं। जिसमें सरसता, सहृदयता और प्रेम स्रोत फूट रहा हो। जो दुःखाकुल मानव हृदय को आशा और सांत्वना का सन्देश दे रही है। यदि प्रकृति नटी का रूप धारण कर विविध रूप लेकर प्रकट होती है, तब मानव जीवन पूर्णरूप से नीरस नहीं होता है अन्यथा हो जायेगा। साथ ही प्राकृतिक वातावरण को संरक्षित करने, वृक्षारोपण को बढावा देने, आश्रम में जीव-जन्तुओं के संरक्षण हेतु सन्देश महाकवि कालिदास के ग्रंथो में दिखाई देता है।

संदर्भ :

1. चतुष्टयी डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल (पृ. 108)
2. पर्यावरण अध्ययन—डॉ. एम. एम. सक्सेना, डॉ. सीमा मोहन, कैलाश पुस्तक सदन भोपाल (पृ. 7,8)

3. पर्यावरण और पारिस्थितिकी - डॉ. बी. पी. राव, डॉ. वी. के. श्रीवास्तव, वसुंधरा प्रकाशन, गोरखपुर (पृ. 13,30)
4. आप्टे शिवराम वामन संस्कृत - हिंदी शब्द कोश प्रका. पृष्ठ 684
5. ऋतुसंहार (महाकवि कालिदास), आचार्य शिवप्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणासी 2012
6. मेघदूतम् (महाकवि कालिदास), डॉ. संसारचंद, पं. मोहनदेव पंत, मोतीलाल बनारसी दास, 41 बंगलोरोड, जवाहर नगर, दिल्ली
7. रघुवंशम (महाकवि कालिदास), चतुष्टयी डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भेपाल
8. कुमारसंभवम् - चतुष्टयी डॉ. राधावल्लभ त्रिपाठी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भेपाल (पृ. 105)
9. मालविकाग्निवित्रम (महाकवि कालिदास), काशीनाथ पांडर परब, वासुदेव लक्षमण सरस्वती, पंचशिखर, बॉम्बे 1924
10. विक्रमोर्वशियम (महाकवि कालिदास), पं. श्री रामचंद्र मिश्र, चौखम्बा, सीरिज़ बनारस-1, प्रकाशन जयकृष्ण दास हरिदास गुप्त 1953
11. अभिज्ञानशाकुंतलम् (महाकवि कालिदास), तारिणीशा झा प्रकाशन केंद्र डालीगंज सीतापुर रोड, लखनऊ।

■

आदिवासी कविता में पर्यावरण चिंतन

मनोरमा पाण्डेय
शोधार्थी
राजीव गांधी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय अम्बिकापुर छ.ग.

काव्य साहित्य की वह विधा है जिसमें साहित्य के लगभग पुरातन ग्रंथ लिखे जाते रहे है। कविता के विषय में संस्कृत आचार्यों ने अपने विचारों को विभिन्न ढंग से बताया है। संस्कृत की काव्य मीमांसा से लेकर आधुनिक कविता तक इसे समझने की एक परम्परा बनी रही। पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः काव्यम्' अर्थात् सुंदर प्रतिपादित करने वाले शब्द को काव्य माना है, उसी प्रकार साहित्य दर्पण के रचयिता आचार्य विश्वनाथ ने 'वाक्यम् रसात्मक काव्यम्' अर्थात् रस युक्त वाक्य को काव्य माना। कहना उचित होगा कि कविता के माध्यम से मनुष्य के हृदय में रस, लय एवं रागात्मक गति भरपूर रूप से समाहित होती है। इसी सम्बन्ध में आदिवासी साहित्यकार वंदना टेटे कहती है कि ''कविता के बारे में क्या यही समझ अदिवासियों की है ? जिनका समस्त जीवन ही काव्यात्मक होता है। लय, रस और गति से भरपूर। जिनका चलना और बोलना ही नृत्य और गीत है या फिर संस्कृत और हिन्दी से इतर गीत व कविता की उनकी अपनी दुनिया है। जिसमें उनके अपने प्रतिमान और जीवन को देखने समझने और उसे अभिव्यक्त करने की एक भिन्न दृष्टि है। जो यह बताती है कि कविता सिर्फ 'रस की अनुभूति, सुंदरता का अर्थ बताने और मात्र मनुष्य के रागात्मक संबंध की रक्षा के लिए नहीं होती। वह असल में सुंदरता और असुंदरता की परिधि से बाहर समूची दृष्टि की अभिव्यक्ति होती है। जिसे गाते तो सभी है, पशु-पक्षी, जंगल पहाड़ और वनस्पतियाँ, नदियाँ और झरने, बादल, बारिश और हवाएँ सूरज चाँद और सितारे, और इन सबके साथ मनुष्य भी। पर चूँकि हम सिर्फ मनुष्यों की भाषा जानते हैं इसलिए सृष्टि के अन्य तत्वों के गीत और काव्य को नहीं समझ पाते। कविता की समझ को लेकर यह मूल अंतर है आदिवासी और गैर आदिवासी समाज की 'गीत' काव्य परम्परा में।''[2] आदिवासी कविता के माध्यम से आदिवासी साहित्यकारों ने पर्यावरण के प्रति अपना विचार

दिया। साहित्यकारों ने आदिवासी जीवन शैली को हमारे समक्ष रख साहित्य को नयी दिशा प्रदान की। एक समय था जब स्त्री विमर्श, दलित विमर्श कविता का एक मुख्य बिंदु हुआ करता था किन्तु नब्बे के दशक के बाद आदिवासी एवं गैर आदिवासी साहित्यकारों ने आदिवासी विमर्श को साहित्य में समावेश कर साहित्य जगत में हल-चल मचा दी। आदिवासी साहित्यकारों ने अपनी कविताओं में आदिवासी जनजीवन पर विचार किया और कहा कि आदिवासी का अस्तित्व एवं अस्मिता उनका जल-जंगल, जमीन है और इन जंगलो पर उनका पूर्ण अधिकार है वे प्रकृति के उपासक है और इनको हनन करने पर विद्रोही भी हो जाते हैं। आदिवासी प्रकृति के साथ होने वाले छेड़छाड को बर्दाश्त नहीं कर सकते इस पर ग्रेस कुजूर प्रकृति पर चिंतन करती हुई कहती है—

"..... इसलिए फिर कहती हूँ
न छेड़ो प्रकृति को
अन्यथा यह प्रकृति करेगी भंयकर बगावत।
और तब न तो तुम होगे न हम होंगे।"[3]

आदिवासियों का पर्यावरण के साथ अनोखा सम्बन्ध है। प्रकृति को ईश्वर रूप में पूजा करते हैं। ये आदिवासी प्रकृति की आदिकाल से ही रक्षा करते आये। आदिवासी कवि अपने-अपने कविता के माध्यम से आदिवासी द्वारा भोगा गया सत्य एवं संघर्ष जैसी समस्याओं को सामने लाते हैं।

आदिवासी कौन? अब वर्तमान में प्रश्न यह उठता है कि आदिवासी है कौन? क्या आदिम जातियों और जनजातियों के लिए 'आदिवासी' शब्द का प्रयोग होता है? इस विषय पर विनायक तुकाराम कहते हैं कि "वर्तमान स्थिति में आदिवासी शब्द का प्रयोग विशिष्ट जीवन पद्धति तथा परम्पराओं से सजे और सदियों से जंगल, पहाड़ों में जीवन यापन करते हुए अपने धार्मिक और सांस्कृतिक मूल्यों को संभालकर रखने वाले मानव समूह का परिचय करा देने के लिए किया जाता है और बहुत बड़े पैमाने पर उनके सामाजिक दुःख तथा नष्ट हुए संसार पर दुःख प्रकट किया जाता है। उनके प्रश्नों तथा समस्याओं पर जी तोड़कर बोला जाता है।"[4]

आदिवासी प्रकृति और पूर्वजों का सम्मान करते हैं इनमे मुख्यतः हम की भावना निहित होती है। जंगल, जमीन को माँ मान कर उसके बचाव के लिए खुद को उसका संरक्षक भी मानता है। "अधनंगे रहने के कारण या लंगोटी पहने शिकार के लिए जंगल-जंगल भटकने से भी उन्हे 'भूमिपुत्र' या 'वन पुत्र' कहना समीचीन समझते हैं। आजकल 'आदिपुत्र' जैसे नामों का प्रयोग भी उनके लिए किया जा रहा है। जंगल के 'अनाभिषिक्त राजा' के रूप में

भी उनका उल्लेख किया जाता है।"[5] आदिवासी अपने ही जीवन में मस्त रहते हैं आशा सुषमा किस्कू ने आदिवासी जीवन का चित्रण अपनी कविताओं में इस प्रकार प्रस्तुत किया—

"तीर धनुष, बाँसुरी व फूलों के शुंगार में
रहते मस्त आदिवासी अपने ही संसार में,
श्याम रंग, नंगे बदन प्रकृति के अंक में
राजाओं में क्या मिलेगा छिपा जो इस रंक में
कीमत उसकी कौन आंके दुनिया के बाजार में
रहते मस्त आदिवासी अपने ही संसार में
हँसते-हँसते इसको चट्टानों से लड़ना आता है।
हर विपदा, हर बाधा, से शेरों से भिड़ना आता है,
इतनी तेज इसके तन में न किसी तलवार में
रहते मस्त आदिवासी अपने ही संसार में।"[6]

आदिवासी प्रकृति के उपासक है साथ ही इनको हनन करने वाले के प्रति विद्रोही भी हो जाते हैं। साहित्य में आदिवासियों के पर्यावरण, प्रकृति संघर्ष की समस्याओं को आदिवासी कवियों ने अपनी कविताओं के माध्यम से जगत के समक्ष रखा। आदिवासी कवियों में निर्मला पुतुल, ग्रेस कुजुर, वंदना टेटे, महादेव टोप्पो, अनुज लुगुन, जसिंता केरकेट्टा, हरिराम मीणा, वाल्टर भेगरा 'तरूण', रामदयाल मुण्डा, जमुना बीनी, विश्वासी एक्का, रोज केरकेट्टा इत्यादि ने अपनी लेखनी के द्वारा आदिवासियों की प्रकृति संबंधी, जल, जंगल, जमीन, संघर्ष, पर्यावरण संबधित चिंतन को कविता के माध्यम से प्रस्तुत किया।

आदिवासी कविताओं में प्रकृति के विकास पर जहाँ खुशी दिखती है वही दूसरी ओर प्रकृति का हनन करने वालों पर तीखी हाहाकार भी देखने मिलती है, क्योंकि आदिवासी प्रकृति पूजारी है प्रकृति, पर्यावरण उनकी माता है उनके संरक्षण के लिए वे सदियों से संघर्ष करते आ रहे है। इसी संदर्भ में वंदना टेटे अपनी कविता में लिखती है—

"हम सब
इस धरती की माड़
इस सृष्टि के हांड
विध्य,अरावली और नील गिरि हमारा रक्त
लोहित, दामुदह, नरमदा और कावेरी हमारी देह
गंगा, जमना, कृष्णा के मैदान हमारी छातियाँ

जैसे झारखण्ड के पठार
और जैसे कंचन जंघा
हम फैले हुए है
हम पसरे हुए है...।''[7]

वंदना टेटे ने उपरोक्त कविता में आदिवासियो का सौन्दर्य चित्रण प्रकृति के माध्यम से किया है, आदिवासी का न कोई सत्ता है न कोई धर्म। वे केवल प्रकृति को ही सबसे बड़ा धर्म मानते हैं आदिवासी कवि अपनी कविता में आदिवासियो के संघर्ष के साथ-साथ उनके जीवन के समस्त पहलुओं (किसानी जीवन, स्त्री जीवन, श्रम, पर्यावरण चिंतन) इत्यादि को मुख्य विषय बनाया। आदिवासी कविता में आदिवासियों का जितना शोषण दमन प्रतिकार है उतना ही उनका पर्यावरण और प्रकृति बचाने के लिए चिंता का भाव भी निहित है। जंगल की कटाई से प्रकृति को तो नुकसान हो ही रहा है साथ ही पर्यावरण के असंतुलन से वन्य जीवों को भी इसका परिणाम झेलना पड़ रहा है वे एक जंगल छोड़ कर दूसरे जंगल भाग रहे है। वृक्षों की कटाई से पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है। इस कविता में कवि में चिंता का भाव दिखाई दे रहा है—

आँवला, बहेड़ा, हरड़ के पेड़ पौधे
देते थे जीवन मानव को
वीरान होते, उजड़ते जंगल, कटते पेड़
प्रदूषण का जाल फैला
बादल उड़ा उड़ गई बारिश भी
भाग गये है जानवर, एक जंगल से दूसरे जंगल।''[8]

आदिवासी पर्यावरण को किसी भी स्थिति में नष्ट होते नहीं देख सकते। प्रकृति से उसका सम्बन्ध माता के समान है। जल, जंगल, जमीन का उसके जीवन में विशेष महत्व है किन्तु आज वृक्षो की कटाई से जहाँ जन जीवन को क्षति पहुँच रही है साथ ही वन्य जीवो को भी इसका खामियाजा भुगतना पड़ रहा है आदिवासियो को अपने ही जंगल जमीन से अलग किया जा रहा है जिनके वे स्वयं मालिक है। आदिवासी प्रकृति के हनन को बर्दाश्त नही करता और विद्रोही स्वर अपना लेता है। अनुज लुगुन की पंक्तियाँ इस प्रकार है-

हमने चाहा कि
पंडुको की नींद गिलहरियो की धमाचौकड़ी से भी टूट जाए
तो उनके सपने न टूटे

हमने चाहा कि
फसलों की नस्ल बची रहे
खेतो के आसपास के साथ
हमने चाहा कि जंगल बचा रहे
अपने कुल-गोत्र के साथ
पृथ्वी को हम पृथ्वी की तरह ही देखें
पेड़ की जगह पेड़ ही देखें
नदी की जगह नदी
समुद्र की जगह समुद्र और
पहाड़ की जगह पहाड़।''[9]

उपरोक्त पंक्ति पारिस्थितिक तंत्र का एक अच्छा उदाहरण है, प्रकृति एक समान स्थिर बनी रहे, मनुष्य के साथ पंडुक और गिलहरी भी महत्वपूर्ण होते हैं नदी के स्थान पर नदी, पेड़ के स्थान पर पेड़, समुद्र पहाड़ों को अपने ही स्थान में देखना पर्यावरण को नियंत्रित रखने का सर्वोत्तम उदाहरण है। आदिवासी सदियो से जंगल से जुड़े हुए है, जंगल की भाषा को वो भलीभांति समझते हैं। जंगल ही उनकी प्रथम पाठशाला है जो उन्हे गुरू की भांति सब कुछ सिखा देता है। इस संदर्भ में पूनम वासम लिखतीं है-

स्कूल भी नहीं सिखा पाता हमे
'अ से अनार' या 'आ से आम' के
अलावा कोई दूसरा सबक
ऐसा नहीं कि हममें सीखने
की ललक नहीं, या हमें सीखना
अच्छा नहीं लगता
हम सीखते हैं
हमारी पाठशाला में सब कुछ
प्रायोगिक रूप में
'नंबी जलप्रपात की सबसे ऊँची
चोटी से गिरते तेज पानी की धार
हमे सिखाती है संगीत की महीन
धुन,

'चापड़ा' की चटपटी चटनी
सिखाती है
विज्ञान के किसी अम्ल की
परिभाषा!...।''[10]

आदिवासी आज जंगल की समस्या के साथ-साथ जल की समस्या से भी जूझ रहा है। जल ही जीवन है किन्तु आज आदिवासी नालों का पानी पीने को विवश है और मौत को गले लगा रहे हैं। आदिवासी कवियत्री जसिंता केरकेट्टा अपनी कविता 'नदी और लाल पानी' के माध्यम से जल की समस्या पर अपनी चिंता व्यक्त करते हुए कहती है कि-

''कोका-कोला बनाकर
तुमने उसे ठंडा का मतलब बताया
तो अब दुनिया को भी बताओ
सारंडा के नदी नालों में बहते
लाल पानी का मतलब क्या है?
पीकर जिसे मौत को गले लगा रही सोमारी
उसकी लाल आँखे सवाल पूछती है तुमसे।''[11]

जसिंता केरकेट्टा ने अपनी कविता में आदिवासी के पीने के पानी की समस्या को उजागर किया है। आज जहाँ शहरो में कोका-कोला को ठंडा बता कर अपनी प्यास बुझाया जाता है वहीं दूसरी ओर आदिवासी दूषित पानी पीकर अपनी मौत को गले लगा रहा है।

वर्तमान में जल, जंगल, जमीन आदिवासी का प्रमुख मुद्दा बना हुआ है। अत्यधिक पेड़ो की कटाई, अपने ही जमीन में मालिकाना हक ना मिलना, जीविका साधन उपलब्ध ना होना, बेरोजगारी, गरीबी और तो और जमीन से जुड़े आदिवासी आज अपने ही जमीन के लिए संघर्ष कर रहा है। छत्तीसगढ़ के सरगुजा जिले के उदयपुर में कोयले खनन हेतु हसदेव अरण्य के वृक्षों को काटा जा रहा है इसे बचाने के लिए कई आदिवासियों ने आंदोलन भी किया और विद्रोह का स्वर अपनाया इस संदर्भ में आदिवासी कवयित्री विश्वासी एक्का ने कोयले खनन हेतु पेड़ो के कटाई से उत्पन्न होने वाले खतरे के प्रति अगाह करती हैं—

''अगर तुमने जंगल छीना
दहक उठेगा बसंत
बौरा जाएंगी अमराइयाँ
जल कर काली हो जाएगी कोयल
कैरी के बदले
पेड़ो पर लद जांएगे बारूद

तुम्हारे छुने मात्र से
हो जाएगी विस्फोट...
तुम्हारे हाथ कुछ नहीं आएगा
न जली लकड़ियों की राख
और न ही कोयला।''[12]

आदिवासियों का अस्तित्व आज खतरे में है क्योंकि उन्हे उनके जमीन से अलग किया जा रहा है। यही विडम्बना है कि अपने ही जंगल से उन्हे हटाया जा रहा है। आज वे शहरो में आकर घरेलू नौकर, मजदूरी, श्रम करते दिखाई देते हैं। इसी संदर्भ में रामदयाल मुण्डा कहते हैं कि ''आदिवासियों का अस्तित्व अगर समाप्त करना है तो उसे उसकी जमीन से अलग कर दीजिये, जैसा कि अभी हो रहा है। आदिवासी के लिए यह विचित्र विडम्बना है कि जब वह कृषि के आधार पर एक आत्म निर्भर जीवन व्यतीत कर सकता है, वह पंगु और परजीवी बनने को विवश किया जा रहा है।''[13]

अतः कहना उचित होगा कि वर्तमान में आदिवासी जीवन जिन समस्याओ से जूझ रहा है वह वास्तव में उनका अस्तित्व है क्योंकि 'उनका अस्तित्व ही उनका जमीन है।' आदिकाल से ही प्रकृति, जंगल, जमीन से जुड़े आदिवासी आज अपने जंगल रूपी अस्मिता के बचाने के लिए संघर्ष कर रहा है जो वास्तव में उनकी ही है। आदिवासी कवियों ने अपनी कविता में पर्यावरण संबंधित चिंतन समाज के समक्ष रखा। कवियो ने जहाँ जंगली जड़ीबूटी की महत्ता बतायी तो कई कवियों ने पर्यावरण को हानि पहुँचाने वालों पर कटाक्ष भी किया। आज औद्योगीकरण के कारण जंगलों को काटा जा रहा है वृक्षों की कटाई की जा रही है जिससे पर्यावरण दूषित हो रहा है पेड़ों की कटाई पर जसिंता केरकेट्टा अपनी कविता 'जड़ों की जमीन' में इसका विरोध करती हुई कहती है कि—

''वे पेड़ो को बर्दाश्त नहीं करते
क्योंकि उनकी जड़ें जमीन माँगती है।''[14]

आदिवासियों का जीवन जंगल और जमीन से जुड़ा हुआ हैं, जंगल आदिवासियों के लिए विशेष महत्व रखता है, प्रारंभ से ही आदिवासियों का अस्तित्व वनों पर ही निर्भर रहा है। आदिवासियों का आर्थिक जीवन भी वनों पर आश्रित हैं किन्तु वर्तमान में जंगल कटाई से आदिवासियों में निराशा देखने को मिल रहा हैं, जल, जंगल, जमीन पर उनका पूर्णतः अधिकार होने पर भी उन्हें उनसे बेदखल किया जा रहा है इसी संदर्भ में विभिन्न आदिवासी कवियों ने अपनी कविता के माध्यम से पर्यावरण के प्रति अपनी चिंता व्यक्त की है और पर्यावरण/प्रकृति का आदिवासियों के लिए कितना महत्व है इसे अपनी कविता के माध्यम से बताने का प्रयत्न किया है।

संदर्भ :

1. पंचांगे, डॉ. चांदणी लक्ष्मण, 'निर्मला पुतुल की कविताओं में आदिवासी संवेदना', (लघुशोध परियोजना), औरंगाबाद (महाराष्ट्र), पृष्ठ 25
2. एक्का विश्वासी, 'लछमनिया का चूल्हा', प्यारा केरकट्टा फाउण्डेशन चेशायर होमरोड बरियातु राँची, प्रथम संस्करण जनवरी 2018, पृष्ठ 5
3. बन्ने पंडित (सं.), 'हिन्दी साहित्य में आदिवासी विमर्श', अमन प्रकाशन कानपुर 2014, पृष्ठ-37
4. चौधरी उमाशंकर (सं.) 'हासिये की वैचारिकी, विनायक तुकारामः आदिवासी कौन?' अनामिका पब्लिशर नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2008, पृष्ठ-251
5. गुप्ता रमणिका (सं.) 'आदिवासी कौन', राधाकृष्णन प्रकाशन, प्रथम संस्करण जनवरी 2017, पृष्ठ-15
6. पंचागे, डॉ. चांदणी लक्ष्मण, 'निर्मला पुतुल की कविताओं में आदिवासी संवेदना', (लघुशोध परियोजना), औरंगाबाद (महाराष्ट्र), पृष्ठ -70,71
7. कुंदन संजय, साहित्य में पर्यावरणः संघर्ष की आदि कविताएँ।
8. सिंह बड़ाइक, सरिता, 'आज का जंगल', समकालीन आदिवासी कविता,(सं.) हरिराम मीणा, अलख प्रकाशन, संस्करणः2013,पृष्ठ-82
9. लुगुन अनुज, 'हमारी अर्थी शाही नही हो सकती', समकालीन आदिवासी कविता, (सं.) हरिराम मीणा, अलख प्रकाशन, संस्करणः2013,पृष्ठ-15,16
10. वासम पूनम, 'जंगल है हमारी पहली पाठशाला'
11. पंचागे, डॉ. चांदणी लक्ष्मण, 'निर्मला पुतुल की कविताओं में आदिवासी संवेदना', (लघुशोध परियोजना), औरंगाबाद (महाराष्ट्र), पृष्ठ -67
12. एक्का, विश्वासी, 'मौसम तो बदलना ही था', रश्मि प्रकाशन, कृष्णा नगर, लखनऊ, पहला संस्करण-2021, पृष्ठ-55
13. मुण्डा रामदयाल, मानकी, रतन सिंह 'आदि धरम' (भारतीय आदिवासियों की धार्मिक आस्थाएँ), राजकमल प्रकाशन नयी दिल्ली, पटना, इलाहाबाद पहला संस्करण 2009, पृष्ठ-15
14. केरकेट्टा जसिंता, 'जड़ो की जमीन'.

■

छत्तीसगढ़ी उपन्यास 'पखरा ले उठे आगी' में व्यक्त प्रकृति और संस्कृति का समन्वय

डॉ. (श्रीमती) अलका पंत
सहायक प्राध्यापक हिंदी (शोध निर्देशिका)
सी.एम.दुबे स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)
श्रीमती वंदना रानी खाख़ा
सहायक प्राध्यापक हिंदी (शोधार्थी)
शासकीय बिलासा कन्या स्नातकोत्तर स्वशासी महाविद्यालय, बिलासपुर (छ.ग.)

किसी भी राज्य या राष्ट्र का इतिहास उसकी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के परिचय के बिना आधा-अधूरा सा प्रतीत होता है। यदि किसी भी देश के इतिहास को अच्छी तरह जानना या समझना है तो वहाँ की संस्कृति को जानना अति आवश्यक है। संस्कृति के बिना इतिहास निष्प्राण सा प्रतीत होता है। हमारे छत्तीसगढ़ का इतिहास संस्कृति और प्रकति इन दोनों ही तत्वों से अनुप्राणित है। इन दोनों का समन्वय ही छत्तीसगढ़ी संस्कृति का परिचायक है। यहाँ के निवासियों द्वारा प्रकृति की पूजा की जाती है, प्रकृति को ईश्वर के समतुल्य माना जाता है। ऐसी मान्यता है कि हमें जीवन तथा जीवन जीने का साधन इसी प्रकृति से प्राप्त होता है, इसलिए प्रकृति की रक्षा व देखभाल जरूरी है। छत्तीसगढ़ के निवासी प्रकृति पर अपनी पूर्ण आस्था रखते हैं, विशेषकर यहाँ निवासरत् जनजातियाँ जो कि पहाड़ों, पर्वतो व वृक्षों की पूजा करके उसके संरक्षण व संवर्धन का कार्य करते हैं, यही उनकी संस्कृति भी है। यहाँ की यह संस्कृति कहीं न कहीं 'कबीर' जी के इस दोहे को पूरी तरह से चरितार्थ करते हुए दिखायी देती है—

''पाहन पूजे हरि मिले तो मैं पूजूँ पहाड़
घर की चाकी कोई न पूजे पीस खाए संसार।''

यहाँ के निवासी अभी भी अपनी परंपरागत संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए हुए हैं। ''संस्कृति शब्द 'सम्' उपसर्ग व 'कृ' धातु से निष्पन्न होता है। संस्कृत व्याकरण के अनुसार

सम् उपसर्ग के आगे 'कृति' अथवा 'कार' शब्द को जोड़ देने पर इसके फलस्वरूप सम् + कृति = संस्कृति तथा सम् + कार = संस्कार आदि शब्दों की निष्पत्ति का विधान होता है। संस्कृति शब्द का अर्थ है संस्कार किया हुआ; पालिश किया हुआ, दोष तथा त्रुटियों को निकाल कर शुद्ध किया हुआ। इसी प्रकार से संस्कार शब्द का अर्थ है किसी वस्तु का संशोधन करना, उत्तम बनाना तथा उसका परिष्कार करना।''[1]

''संस्कृति वह जीवन शैली है, जिसे मनुष्य पूर्वजों से ग्रहण करता आया है। संस्कृति मानव जीवन जीने की एक उच्च भाव-भूमि प्रदान करती है।''[2]

संस्कृति किसी देश में निवासरत् व्यक्तियों की आत्मा होती है, जिसमें उसके उन सब संस्कारों का बोध होता है, जिनके सहारे वह अपने सामाजिक जीवन के आदर्शों का निर्माण करता है। इस तरह व्यक्ति अपने संस्कारों के साथ सामाजिक जीवन का निर्वहन करता है।

''छत्तीसगढ़ की जनता को तो संस्कृति विरासत में मिली है, इसलिए कम शिक्षित होने के बावजूद उनमें सरलता, साधारणता, निष्ठा, कृतज्ञता आदि गुण है। दयाशंकर शुक्ल लिखते हैं—छत्तीसगढ़ ने अपने विशाल वृक्ष पर अनेक संस्कृतियों का पोषण कर उन्हें सुरक्षित रखा है।''[3] यहाँ के लोग प्रकृति से उसी तरह से जुड़े है, जैसे एक बच्चा अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनी माँ पर निर्भर रहता है उसी प्रकार यहाँ के निवासी अपनी दैनिक जीवन की आवश्यकताओं के लिए प्रकृति पर निर्भर रहते हैं। वे प्रकृति को अपनी माँ मानकर उस पर पूर्ण श्रद्धा रखते हैं, उनकी यही श्रद्धा व आस्था उनकी संस्कृति की भी परिचायक है।

''प्रकृति की एक मूल्यवान देन है, वह वनस्पति जो मानव के हस्तक्षेप किये बिना पृथ्वी पर प्रसरित है। प्राकृतिक वनस्पति की सघनता, तापमान, वर्षा भूतल का स्वभाव मिट्टी आदि तत्वों पर निर्भर करता है।''[4] यहाँ का अधिकांश भू-भाग घने वनो से आच्छादित है इसके अतिरिक्त औषधीय पौधों व खनिज संपदा की भी यहाँ अधिकता है। यहाँ साल, सागौन व शीशम जैसे बहुमूल्य वृक्ष है। इसके साथ ही तेंदू जैसे वृक्षों की बहुलता है जो कि यहाँ के लोगों की आजीविका के महत्वपूर्ण साधन है।

विश्व के अन्य साहित्यकारों की तरह छत्तीसगढ़ के सुविख्यात साहित्य सर्जकों ने अपनी कृतियों में छत्तीसगढ़ी संस्कृति, परम्पराओं, लोक विश्वासों, मान्यताओं, प्रकृति के प्रति अपनी मान्यताओं, आस्था और विश्वास को भी कथाओं तथा पात्रों के द्वारा प्रदर्शित किया है। अनेकानेक प्रसंगों की योजना प्रकृति और संस्कृति के अन्योन्याश्रित संबंध को उजागर करने की दृष्टि से की गई है। स्थान-स्थान पर पात्रों के कथनों द्वारा मनुष्य-प्रकृति-संस्कृति के सह सम्बन्ध को दर्शाया गया है।

श्री रामनाथ साहू द्वारा रचित उपन्यास 'पखरा ले उठे आगी' भी इसका जीवन्त प्रमाण है। इस उपन्यास में प्रकृति और मानव के अटूट संबंध तथा उसी तारतम्य में संस्कृति की अविरल बहती धारा से उसके समन्वय को अत्यन्त सहजतापूर्वक वर्णित किया गया है।

प्राचीन काल में मनुष्य जीवित रहने के लिए पूरी तरह से प्रकृति पर ही निर्भर था। प्रकृति से प्राप्त वस्तुओं का उपभोग करके वह अपना व परिवार का जीवन-यापन व भरण-पोषण करता था, इसलिए वह प्रकृति को नुकसान नहीं पहुँचाता था। साहू जी ने अपने उपन्यास में इसका उल्लेख भी किया है। ''मोला लागे कि ये धरती हर सदाकाल अइसन फल फुल जरी कांदा सिंघाड़ा पोखरा मन ला भरे रहय, अउ जउन ल खायके मन लागही, वोहर वो फर-फूल के तीर म पहुँच जाय, अउ पेट भर के खा ले, फेर उजारे एको झन, बिना काम के धरती के जिनिस मन ला सकेले झन।''[5]

उपन्यासकार का कहना है कि ये धरती हमेशा से ही फल-फूल से भरा हुआ है यहाँ के तालाब कांदा व सिंघाड़ा जैसे कंदमूल से भरे रहते हैं और जिसे भी खाने की इच्छा हो यहाँ आकर इन्हें तोड़कर भरपेट खा सकता है, बस अकारण इस धरती को किसी प्रकार का कोई नुकसान न पहुँचाए। प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं का उपभोग करके मनुष्य जीवित व खुश रह सकता है, इसके साथ ही प्रकृति को किसी भी प्रकार से हानि न पहुँचाना मानव के संस्कार को प्रदर्शित करते हैं।

प्रकृति के बीच रहकर उनसे जुड़कर व्यक्ति के मन व हृदय को जो सुख मिलता है वैसा सुख और कहीं नहीं मिल सकता इसका वर्णन करते हुए साहू जी लिखते हैं—''मोला गीला कइंचा माटी म खेले म बड़ आनन्द आय। अइसन करे ल मोर हाथ मोर अंगली मन बड़ सुख पाँय। फेर सच कहँव तब, हाथ-अंगली मन ले ज्यादा, मोर मन हर सुख पाय। अउ अउ मन ल जादा हिरदे भीतर हर सुख पाय .....।''[6] व्यक्ति हमेशा अपनी माटी से जुड़ा रहता है और इस मिट्टी को स्पर्श करने से मन से कहीं ज्यादा सुख हृदय को मिलता है। जिसे हम आंतरिक सुख की अनुभूति कह सकते हैं। यह अनुभूति ही प्रकृति से हमारे प्रेम की सघनता को प्रदर्शित करती है।

यदि हम प्राचीन काल की बात करें तो उस समय, समय बताने के लिए घड़िया नहीं होती थीं, फिर भी उस समय के लोग प्रकृति से प्राप्त सूचना के आधार पर समय का पता लगा लिया करते थे, उपन्यासकार ने इसे निम्न प्रकार से रेखांकित किया है ''अउ चिरई चुरगुन के चूँ चूँ ..... के संग में हमू मन उठ गएन।''[7] चिड़ियों की चहचहाहट से प्रातः होने की सूचना लोगों को मिल जाती थी और लोग अपने दिन-भर के काम के लिए तैयारी में जुट जाते थे।

प्रारंभ में मनुष्य जब जंगलों में निवास करता था, तब वह जंगली जानवरों से सुरक्षा के लिए गुफा या कंदराओं का सहारा लिया करता था, आग उसके लिए मित्र भी थी और शत्रु भी। यदि जंगल की आग नियंत्रण में रहे तो मित्र के सदृश होती है और यदि नियंत्रण से बाहर हो जाए तो शत्रु के सदृश कार्य करती है। साहू जी ने इसे बहुत ही बेहतर तरीके से अभिव्यक्त किया है—"हमन जब घनघोर वन डोंगरी बीच म रहत रहेन, तब हमन बर आगी हर मितान घलो रहीस और शत्रु घलव। जतका डर हमन ल बनइला जनाउर पशु मन से लागे, वोतकी डर हमन ल आगी के घलव लागे। एक तो ज्यादा आगी तीर म झन आय और दूसर जउन अभी हमारे पास म हे, वोहर बुझाय झन बस।"[8]

छत्तीसगढ़ के निवासियों की अपनी विशिष्ट जीवन-शैली होती है जिससे वे अपनी परंपरागत संस्कृति को अक्षुण्ण बनाये रखने में सफल होते हैं। "ये परंपरायें सामूहिक अनुभव की देन होती है। इसमें पीढ़ियों का ज्ञान संचित होता है। पंरपराओं से ही लोक संस्कृति का निर्माण होता है। हर देश की अपनी परंपरा होती है जिनका पालन कर हर व्यक्ति गर्वित होता है।"[9] यहाँ भी मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक के अनेक संस्कार होते हैं जिसका सभी पालन करते हैं। बच्चे के जन्म के बाद उसके नाल को घर के पास की मिट्टी में दबाने की परंपरा है, उनकी इस संस्कृति की झलक इन पंक्तियों में उद्धृत है—"यह जगह ह हमन के मोह-माया हर गड़ गय रहीस। कतका झन नावा पहुना मन हमर घर मन म आए रहीन। वो सब मन के नाल पोटा हर इहाँ गड़े रहीस। संग में हमर कतको झन मन यह दुनिया ल छोड़ घलव देय रहिन। वो सब मन ल लो तो एईच तीर तखार म हमन छोड़े रहेन। यह जगह ल छोड़ई हर अच्छा नि लागत रहिस।"[10] हम यह कह सकते हैं कि प्रकृति की गोद में रहते हुए मानव अपनी संस्कृति व संस्कार से जुड़ा हुआ है।

जिस तरह प्रकृति में परिवर्तन परिलक्षित होते हैं, उसी तरह मानव जीवन भी है जिसमें क्षण प्रतिक्षण परिवर्तन दिखायी देता रहता है। प्रकृति और मानव जीवन की यही समानता प्रदर्शित करते हुए लेखक लिखते हैं "ठीक अइसन दिन अउ रात होवत देखत हमन ल पता रहय, कब चंदा हर पूरा गोलवा हे, फेर धीरे-धीरे खियात-खियात एक दिन तो दिखबे नि करे, फेर धीरे-धीरे तिल बाढ़त फेर पूरा गोलवा हो जाथे। नारी-परानी मन के देंहे म घलव चंदा असन बदलाव आय।"[11] प्रकृति में चन्द्रमा के घटने-बढ़ने का क्रम निर्धारित है। यह क्रम चलता ही रहता है उसी तरह मनुष्य के जीवन में भी समय के अनुसार बदलाव होते रहते हैं। कहा भी जाता है परिवर्तन ही प्रकृति का नियम है। प्रकृति में भी समय के अनुसार ही सभी कार्य होते रहते हैं, इसका उल्लेख इस पंक्ति में दृष्टव्य है—

"समय म पान झारथे, समय म फेर पान-फूल-फर सब आवत रथें।"[12] प्रकृति से मनुष्य अपनी जरूरत की सभी वस्तुओं को लेकर अपने जीवन-यापन के लिए उसका उपभोग करता है और बदले में प्रकृति उनसे कुछ भी वापस नहीं लेती है। मनुष्य मेहनत के द्वारा प्रकृति से सोना तक उगलवा सकता है लेखक ने इसे इन कथनों के माध्यम से चिन्हांकित किया है "अब हमन अपन जरूरत के पुरता पोनी अउ कपसा ल खेत बनाके उपजाय के शुरू कर दे रहेन। ये पइत तो हमर घर कतेक न कतेक पोनी-कपसा हर भर गया रहय।"[13]

मेहनत व बुद्धि के बल द्वारा मनुष्य प्रकृति प्रदत्त वस्तुओं का उपयोग करके अपनी आजीविका का निर्वहन कर सकता है व जीवन में नए रंग भर सकता है। जैसे कि इस उपन्यास में बुनाई वाले ने पोई भाजी के फल से लाल रंग बनाया, सेमी पत्ते से हरा रंग व परसा के फूल से लाल रंग बनाकर उसका उपयोग कपड़े को रंगने में किया। इस तरह बुनाई वाले ने अपनी योग्यता व समझ के द्वारा अपने आस-पास मिलने वाली वस्तुओं के उचित प्रयोग से अपने काम में नवीनता लाया, जिससे उसके पास उसे लेने वालो की दिन-भर भीड़ लगने लगी। इस तरह उसने प्रकृति प्रदत्त सामग्री का सही उपयोग कर अपनी आजीविका के साधन को बढ़ा लिया। इन पंक्तियों के माध्यम से इसका पता चलता है "बुनला हर तो भारी होशियार हो गय रहिस ओनहा बनाय बर। अब तो वोहर पोनी के डोर मन ल कई ठन रंग मन म बोर के रंग वाला ओनहा बनाय। पोई भाजी के फर मन ले बढ़िया ललहू खोखमा फूल असन रंग बनाय। सेमी पान मन ले हरियर रंग अउ परसा फूल मन ले परसाहु लाल रंग बनाय।"[14]

प्रारंभ में मनुष्य अपनी आजीविका के निर्वहन के लिए पूरी तरह से प्रकृति पर निर्भर रहता था। वह प्रकृति से प्राप्त वस्तुओं का उचित प्रयोग कर उससे धन कमाने लगा एक वस्तु से दूसरी वस्तुओं का निर्माण करने लगा जिससे कि उसे धनोपार्जन हो सके। वर्तमान में भी प्रकृति से मिलने वाली वस्तुओं का उपयोग कर धन प्राप्त किया जाता है, जैसे—प्रकृति से मिलने वाली खनिज संपदा व वन संपदा, इससे प्राप्त संपदा कई व्यक्तियों के आजीविका का साधन है। "आज तो रूनु हर नदिया तीर ल बनेच अकन सुंदर-सुंदर सादा सुतई अउ शंख-घोंघी मन ल लान के छेद के पानी ले बने डोर भरत जात रहिस। अउ जब ये जिनिस हर बनेच लंबा हो गय। तब वोहर अपन गला म बांध लिस। मंय देखें अइसन करें ले वोकर सुंदरई हर कतेक न कतेक बाढ़ गिस हे। अब तो वोहर अइसन-अइसन कै न कै ठन बनाके सबो ल शरीर म समो लेय रहिस। गला, बहाँ, गोड़ सब हर रगबग ल उबक गय रहिस। अइसन पिन्हो ले ओहर आन जगहा ल आय मनखे लागत रहिस।"[15]

इन पंक्तियों के माध्यम से लेखन ने नदियों से प्राकृतिक तरीके से प्राप्त संपदा का मनुष्य के द्वारा उपयोग करने के बारे में बताया है। मनुष्य नदियों से प्राप्त शंख व घोंघी में छेद करके उसे आभूषण की तरह उपयोग करने लगा। वर्तमान में भी शंख व घोंघी से बने आभूषण बहुत महंगे मिलते हैं और घर सजाने की सामग्री के रूप में भी इसका प्रयोग किया जाता है। समुद्र में मिलने वाले शंख का प्रयोग पूजा-अर्चना के लिए किया जाता है, कोई भी शुभ कार्य की शुरूआत में शंख को फूँका जाता है, यह हमारे संस्कार में शामिल है।

मनुष्य जब दिनभर काम करके थक जाता है तो वह अपनी थकान मिटाने के लिए नृत्य व संगीत का सहारा लेता है। यह प्रथा पारंपरिक रूप से चली आ रही है। वह वाद्य यंत्रों व नृत्य के माध्यम से अपनी कला व संस्कृति को भी जीवित रखता है, यह संस्कृति ही मनुष्य को तनाव मुक्त कर शांति प्रदान करने का काम करती है। साहित्यकार ने इन पंक्तियों के माध्यम से प्रकृति व संस्कृति का अद्भुत समन्वय दर्शाया है "अब तो हमू मन अपन लकरी के बाजा मन ल निकालत उहाँ कूद परेन। देखते-देखते बाजा रूंझी छिड़क गय। अउ ऊपर ल बरसा के बूँदी मन घलव जोर पकड़ लेय रहिन। हमर नाचा ल देख के मंजूर मन घलव रूक गइन फेर हमन नि रूकेन। ये नाच के हमन के शरीर, मन अउ जीवरा भीतर म आनंद हर भर गय रहिस। हमन ल एक संग एक मय होए के एकठन नावा तरीका मिल गय रहिस।"[16] मोर के नृत्य के साथ-साथ मनुष्य का भी नृत्य करना अद्भूत प्रतीत होता है। यह प्रकृति व संस्कृति के अद्भुत मिलन का परिचायक है।

प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक हम सभी प्रकृति पर ही निर्भर हैं। प्रकृति के बिना मनुष्य का जीवन ही संभव नहीं हैं। मनुष्य प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से प्रकृति पर ही निर्भर है। इसलिए इस धरती को माता की संज्ञा दी गयी है। यहाँ के निवासी प्रकृति पर अपनी पूर्ण आस्था रखते हैं व प्रकृति के पूजक होते हैं। ये प्रकृति की रक्षा के लिए हमेशा तैयार रहते हैं, इसका जिक्र इस उपन्यास में भी किया गया है। "बस वोइच पवित्तर गोठ कि ..... ये धरती हर हमर महतारी आय। काबर ..... ? जइसन लइका हर महतारी के क्षीर ल वोकर कोरा म रहत ल पीथे, ठीक वइसन धरती महतारी के सीना ल निकलइया तीर हर ..... धान के बाल मन म आके भरथे, जउन ल हमन खा के अपन पेट ल भरथन। तभे तो धरती हर हमर महतारी ये। अउ हमर महतारी के रक्षा करना हर हमर बुता ये। येहर हमर धरम आय।"[17]

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि छत्तीसगढ़ सांस्कृतिक व प्राकृतिक दृष्टि से समृद्ध है। यहाँ के घने वन यहाँ की प्राकृतिक सुंदरता की जीवंत मिसाल है। छत्तीसगढ़ अंचल प्राकृतिक संपदा से परिपूर्ण है, प्राकृतिक संपदा के साथ-साथ छत्तीसगढ़ का यह क्षेत्र खनिज

संपदा से भी भरा हुआ है। यहाँ पर मनुष्य-प्रकृति-संस्कृति का सुन्दर समन्वय परिलक्षित होता है।

साहित्य समाज का दर्पण होता है। छत्तीसगढ़ी उपन्यासकारों ने अपने उपन्यास के पात्रों के माध्यम से छत्तीसगढ़ी संस्कृति व यहाँ के पारंपरिक मूल्यों के साथ-साथ प्रकृति को भी रेखांकित व चिन्हित करने का बहुत ही अच्छा प्रयास किया है, जिसमें वे पूर्णतः सफल रहे हैं। इनके उपन्यासों के माध्यम से अन्य क्षेत्र में निवासरत् लोग यहाँ की संस्कृति से परिचित होगें व यहाँ से जुड़ाव महसूस करेंगे।

कहा भी जाता है कि यदि किसी क्षेत्र की संस्कृति को जानना है तो वहाँ के साहित्य का अध्ययन करना आवश्यक है क्योंकि साहित्य में उस क्षेत्र की सभी विशेषताओं का समावेश होता है, यहाँ की तो विशेषता ही वनाच्छादित क्षेत्र है, जो कि यहाँ के निवासियों का जीने का साधन है। यहाँ के निवासी प्रकृति और संस्कृति को साथ लेकर चलने में विश्वास करते हैं।

संदर्भ :

1. उपाध्याय, कृष्णदेव : लोक संस्कृति की रूपरेखा, लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, 2019, पृष्ठ-10-11
2. शर्मा, डॉ. पालेश्वर प्रसाद : छत्तीसगढ़ का सांस्कृतिक इतिहास, प्रथम संस्करण, मित्तल एवं संस प्रकाशन, दिल्ली, 2008, पृ.-245
3. वही, पृष्ठ-52
4. वही, पृष्ठ-35
5. साहू, रामनाथ : पखरा ले उठी आगी, प्रथम संस्करण, सर्वप्रिय प्रकाशन, दिल्ली, 2021, पृष्ठ-20
6. वही, पृष्ठ-24
7. वही, पृष्ठ-26
8. वही, पृष्ठ-41
9. शुक्ल, उर्मिला : छत्तीसगढ़ी संस्कृति और हिंदी कथा साहित्य, प्रथम संस्करण, वैभव प्रकाशन, रायपुर, 2013, पृष्ठ-59
10. साहू, रामनाथ : पखरा ले उठी आगी , प्रथम संस्करण, सर्वप्रिय प्रकाशन, दिल्ली, 2021, पृष्ठ-42
11. वही, पृष्ठ-65
12. वही, पृष्ठ-66

13. वही, पृष्ठ-79
14. वही, पृष्ठ-80
15. वही, पृष्ठ-82
16. वही, पृष्ठ-84
17. वही, पृष्ठ-10

■

हिंदी साहित्य में प्रकृति और पर्यावरण: विजय राठौर के काव्य के संदर्भ में

गोवर्धन प्रसाद सूर्यवंशी
(शोधार्थी)
संत गहिरा गुरु विश्वविद्यालय, सरगुजा अंबिकापुर (छ.ग.)
डॉ. पुनीत कुमार राय
(शोध निदेशक)
सहायक प्राध्यापक (हिंदी)
अरुण प्रताप सिंहदेव शासकीय महाविद्यालय शंकरगढ़, जिला–बलरामपुर (छ.ग.)

हिंदी साहित्य में प्रकृति के संरक्षण एवं संवर्धन के साथ उसके विविध रूपों का वर्णन मिलता है। हिंदी साहित्य की सभी विधाओं में प्रकृति का मानवीकरण करते हुए प्रकृति के अलग-अलग रूपों को मानवीय जीवन से जोड़ने का प्रयास किया गया है। हिंदी साहित्य के अलग-अलग वादों और विचारधाराओं के अनुसार प्रकृति चित्रण में विभिन्नता दिखाई देती है। जहाँ एक ओर कवियों के काव्य में प्रकृति के मनोरम रूपों का चित्रण मिलता है तो वहीं दूसरी ओर प्रकृति के कठोर रूपों का चित्रण भी मिलता है। काव्य में पर्यावरण के विभिन्न तत्वों पेड़-पौधों, पानी, वायु, पहाड़, नदी, जीव जंतुओं, समुद्र, मैदान, बादलों आदि का अलग-अलग रूप में चित्रण मिलता है।

हिंदी साहित्य के प्रारंभिक काल आदि काल में प्रकृति और पर्यावरण का जो रूप मिलता है उसमें नारी सौंदर्य का वर्णन, युद्धों का चित्रण, प्रकृति के विभिन्न अंग-उपांगो का तुलनात्मक रूप में वर्णन आदिकालीन कवियों के काव्य में मिलता है जो उस काल की भाषा अपभ्रंश में रचित है।

मध्य काल में भक्ति काल और रीतिकाल में प्रकृति और पर्यावरण का व्यापक वर्णन अलग-अलग रूपों में दिखाई देता है। भक्ति काल की सगुण भक्ति शाखा में राम और कृष्ण के ऊपर लिखे गए काव्यों में राम और कृष्ण के जीवन चरित्र और घटनाक्रमों के साथ-साथ

उनके प्रकृति के साथ संबंधों को भी दिखाया गया है। चाहे वह सूरदास का बाल लीला वर्णन हो या भ्रमरगीत में प्रकृति का आलंबन कर गोपियों की दीन दशा का वर्णन। सभी स्थानों पर सूरदास ने ब्रजभाषा में प्रकृति का सूक्ष्मता से चित्रण किया है।

"मधुबन तुम कत रहत हरै।
बिरह वियोग श्यामसुंदर के, ठाड़े क्यों न जरैं।"[1]

इसी प्रकार से तुलसीदास ने अपनी सभी कृतियों के साथ रामचरितमानस के विभिन्न भागों में प्रकृति के विभिन्न तत्वों का वर्णन अवधी भाषा में किया है।

"वर्षा विगत शरद ऋतु आई।
लछिमन देखहु परम सुहाई।।
फुले कास सकल महि छाई।
जनु वरषा कृत प्रकट बुढ़ाई।।"[2]

इसके अलावा निर्गुण भक्ति में कबीर के दोहे एवं पदों पर भी प्रकृति एवं पर्यावरण के कुछ अंश मिलते हैं जबकि प्रेम मार्गी शाखा के कवि मलिक मोहम्मद जायसी ने पद्मावत में प्रकृति के विविध रूपों का वर्णन किया है। नागमती वियोग खंड में 'बारहमासा' में किया गया प्रकृति चित्रण विशेष उल्लेखनीय है। इसके अलावा पद्मावत में और अनेक स्थानों पर प्रकृति चित्रण के उदाहरणों का उल्लेख है।

"सावन बस मेंह अनि पानी।भरनि परी हौं बिरह जुरानी।।
लाग पुनरबसु पीऊ न देखा।भई बावरी कहँ कंत सरेखा।।
परवत समुद्र अगम बीच, बीहड़ घन बन ढाँख।
किमी के भैटों कंत तुम्ह, ना मोहि पाँव न पाँख।।"[3]

भक्ति काल के पश्चात रीतिकालीन कवियों ने नारी के सौंदर्य के साथ प्रकृति चित्रण किया है जिसका समावेश रीतिकालीन काव्य में मिलता है। रीति सिद्ध कवि बिहारी के सतसई में भी प्रकृति चित्रण के रूप दृष्टिगोचर होते हैं।

"कहलाने एकत बसत, अहि मयूर मृग बाघ।
जगतु तपोवन सौ कियौ, दीरघ दाघ निदाघ।।"[4]

रीतिकाल के रीतिसिद्ध कवि बिहारी ने भीषण गर्मी का चित्र अपने दोहे में इस प्रकार से किया है कि ज्येष्ठ माह के दोपहर में भीषण गर्मी के कारण छांह को भी छाया की आवश्यकता महसूस हो रही है।

"बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन तन माँह।
देखि दुपहरी जेठ की, छाँहौं चाहति छाँह।।"[5]

रीतिकाल में अनेक कवियों को प्रकृति चित्रण की जानकारी प्राप्त होती है जिसमें कवि सेनापति का प्रकृति चित्रण विशेष उल्लेखनीय है। कवि सेनापति ने तो प्रकृति का जिस प्रकार से चित्रण किया है वह अप्रतिम है। सेनापति ने ऋतु वर्णन में सभी प्रमुख ऋतुओं के साथ उपऋतुओं का भी चित्रण किया है। उनके द्वारा किया गया प्रकृति चित्रण हिंदी साहित्य की अनुपम देन है। ग्रीष्म ऋतु की भीषणता का चित्रण कवि ने इस प्रकार किया है।

"वृष को तरनि तेज, सहसों किरन करि। ज्वालन के जाल बिकराल बरखत है।
तचति धरनी जग, जरत झरिनि सीरी,छांह को पकरि पंथी-पंछी बीरमत हैं।
सेनापति नेकु दुपहरी के ढरत होत,धमका विषम जो न पात खरकत हैं।
मेरे जान पौनों सीरी ठौर को पकरि कौनो,घरि एक बैठि कहूँ घामे बितवत हैं।।"[6]

कवि सेनापति ने ऋतुराज बसंत का चित्रण भी बड़ी सूक्ष्मता से किया है। सेनापति द्वारा रचित कविताओं को पढ़ने से प्रकृति के सान्निध्य में रहने का भाव प्रस्तुत होता है।

"बरन बरन तरु, फूले उपवन वन। सोई चतुरंग संग, दल लहियतु है।।
बंदी जिमि बोलत बिरद बीर कोकिल है। गुंजत मधुप गान, गुन गहियतु है।।
आवे आस-पास पुहु-पन की सुवास सोई। सोने के सुगंध मांझ, सने रहियतु है।।
शोभा को समाज सेनापति सुख साज आज। आवत बसंत रितु-राज कहियतु है।।"[7]

सेनापति के काव्य में सादृश्यमूलक अलंकारों जैसे उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, एवं संदेह अलंकार का चित्रण बहुतायत मात्रा में मिलता है। कवि ने इन अलंकारों का प्रयोग बड़ी सूक्ष्मता से किया है। बसंत ऋतु का एक और उदाहरण निम्न है।

"लाल लाल केसू फूले, रहे हैं बिसाल संग। श्याम रंग भेंटि मानो, मसि में मिलाए हैं।।
तहां मधु काज आई, बैठे मधुकर पुंज। मलय पवन उप-वन बन धांए हैं।।
सेनापति माधव महीना में पलाश तरु। देखि देखि भाउ कविता में मन आएँ हैं।।
आधे अन सुलगि सुलगि रहे आधौ मानो। बिरही बदन काम क्वैला परचाएँ हैं।।"[8]

रीतिकाल के रीतिबद्ध कवियों के काव्य में भी प्रकृति का चित्रण अलग-अलग रूपों में दिखाई देता है। सेनापति के साथ अन्य कवियों ने अपने काव्य में प्रकृति और पर्यावरण का अलग-अलग चित्रण किया है। कविवर देव के प्रकृति चित्रण का एक उदाहरण दृष्टव्य है।

"झहरि झहरि झीनी, बूंद है परति मानो।
घहरि घहरि घटा, घिरी है गगन में।।
आनि कह्यो श्याम मो सौ 'चलो झूलिबे को आज'।
फूली न समानी भइ, ऐसी हौं मगन मैं।।"[9]

इसी तरह रीतिकालीन कवि श्रीपति ने भी पावस ऋतु का वर्णन सूक्ष्मता से किया है। रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने ब्रजभाषा को काव्य भाषा के रूप में स्वीकार करते हुए प्रकृति चित्रण ब्रज भाषा में किया है। कवि श्रीपति का वर्षा ऋतु का वर्णन दृष्टव्य है।

''जलभरे झूमै मानो, भूमै परसत आय। दसहु दिशान घूमें, दामिनि लए-लए।।
धुरिधार धूमरे से, धूम से धूंधारे कारे। धुरवान धारे धावै, छबि सौं छए-छए।।
श्रीपति सुकवि कहै, घेरि घहराहि। तकत अतन तन, ताव तें तए-तए।।
लाल बिनु कैसे लाज, चादर रहेगी आज। कादर करत मोहिं, बादर नए नए।।''[10]

रीतिकालीन कवि राम के द्वारा चित्रित प्रकृति वर्णन भी उल्लेखनीय है।

''उमड़ि घुमड़ि घन बहत अखंड धार। चंचला उठति तामें, तरजि तरजि के।।
बरही पपीहा मेक, पिक खग टेरत हैं। धुनि सुनि प्रान उठे, लरजि लरजि के।।
कहे कवि राम लखि, चमक खदोतन की। पीतम को रही मैं, तो बरजि बरजि के।।
सावन दुबन आयो गरजि गरजि के।।''[11]

आधुनिक काल में भी प्रकृति के वर्णन के विविध रूप दिखाई देते हैं। आधुनिक काल का विभाजन करने पर भारतेंदु काल से लेकर वर्तमान समय की विभिन्न विधाओं तक प्रकृति चित्रण का विविध स्वरूप दिखाई देता है, जिसमें छायावादी कवियों के द्वारा चित्रित प्रकृति चित्रण विशेष उल्लेखनीय है। जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' आदि के काव्य में प्रकृति के कोमल एवं कठोर दोनों रूपों का चित्रण मिलता है।

छायावादी कवि सुमित्रानंदन पंत के काव्य में प्रकृति का कोमल रूप दृष्टिगोचर होता है। प्रकृति के सुकुमार कवि सुमित्रानंदन पंत ने पर्वतीय प्रदेशों में होने वाली वर्षा से पल-पल बदलते मौसम का सूक्ष्मता से चित्रण किया है।

''पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश,
पल-पल परिवर्तित प्रकृति वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार, अपने सहस्त्र दृग सुमन फाड़।
अवलोक रहा है बार-बार, नीचे जल में निज महाकार।
जिसके चरणों में फैला ताल, दर्पण सा फैला है विशाल।।''[12]

एक ओर इसी काल खंड में प्रकृति चित्रण के कोमल रूप तो दूसरी ओर सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' द्वारा लिखे गए 'बादल राग' में प्रकृति के कोमल एवं कठोर दोनों रूपों के चित्रण का उल्लेख मिलता है।

''सुरपति के हम ही हैं अनुचर,जगत्प्राण के भी सहचर;
मेघदूत की सजल कल्पना,चातक के प्रिय जीवन धर।।''[13]

जयशंकर प्रसाद जी के काव्य में प्रकृति चित्रण का व्यापक स्वरूप दिखाई देता है। प्रसाद जी ने अपने महाकाव्य कामायनी में प्रकृति के कोमल और कठोर दोनों रूपों का चित्रण किया है। जलप्रलय होने पर हिमालय प्रदेश में प्रकृति के कोमल एवं कठोर रूपों का चित्रण सूक्ष्मता से किया है। जलप्लावन से जल स्तर का बढ़ना, जीव जंतुओं और वनस्पतियों का उसमें समाहित होना, कालरात्रि का तांडव करना, काल रात्रि के गुजर जाने के पश्चात जलप्लावन के बाद जल स्तर का नीचे उतरना, प्रकृति का पुनः सचेतन होना जैसे सभी घटनाओं का सूक्ष्मता से चित्रण किया है।

''नव कोमल आलोक बिखरता, संसृति पर भर अनुराग।
सित सरोज पर क्रीड़ा करता, जैसे मधुमय पिंक पराग।।''[14]

प्रसाद जी ने प्रकृति चित्रण करते हुए सागर, सरिता एवं निर्झर के मनोरम दृश्यों का चित्रण किया है। प्रस्तुत प्रकृति चित्रण में कवि धरती के अशांत और कोलाहल पूर्ण वातावरण से दूर धरती से आकाश तक फैले सिंधु के निर्जन तट पर जाने की बात कह रहे हैं।

''ले चल वहाँ भुलावा देकर,मेरे नाविक धीरे-धीरे।
जिस निर्जन में सागर लहरी,अंबर के कानों में गहरी।
निश्छल प्रेम कथा कहती हो,तज कोलाहल की अवनी रे।।''[15]

आधुनिक काव्य में नदी-नाले, झरने, तालाब, वन एवं क्षेत्र विशेष में होने वाले पेड़ पौधों एवं अन्य पर्यावरणीय तत्वों के वर्णनों की विविधता है। आधुनिक काल में हिंदी साहित्य की पद्य विधा के साथ गद्य विधाओं में भी प्रकृति के अलग-अलग रूपों का चित्रण मिलता है। कहानी, उपन्यासों, नाटकों एवं अन्य विधाओं में प्रकृति के अंग-उपांगो का वर्णन मिलता है। आधुनिक काल में पर्यावरण में होने वाले परिवर्तन एवं क्षति को भी साहित्यकारों ने विषय बनाकर जनमानस के सामने प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। देश काल और वातावरण के अनुसार प्रकृति चित्रण में विभिन्नता दिखाई देती है। गद्य के सभी विधाओं में भी प्रकृति चित्रण का एक अलग स्वरूप दिखाई देता है।

विजय राठौर एक समकालीन कवि हैं जिनके काव्य में प्रकृति के कोमल एवं कठोर दोनों रूपों का चित्रण मिलता है। वर्तमान समय में हो रहे पर्यावरण क्षति को उन्होंने अपने काव्य में अनेकों स्थानों पर चित्रित किया है। उनके गीतों में प्रकृति संवेदना से परिपूर्ण पंक्तियां दिखाई देती है जिसमें मानवीय संवेदना खुलकर एकाकार हो जाती है और भविष्य का प्रतीक बन जाती है। समकालीन कविता में विजय राठौर का प्रकृति चित्रण विशेष उल्लेखनीय है।

''उमड़-घुमड़ कर बादल आया, फिर बरसा है पानी।
फिर धरती के पोर-पोर ने,तृप्ति किया महसूस।
छुपा हुआ मेंढक टकराया,धरती का जासूस।
दरकी धरती के सीने में, जरा हुआ आसानी।।''[16]

विजय राठौर ने अपने काव्य एवं समकालीन गीतों में वर्तमान समय में हो रहे पर्यावरणीय बदलाव को भी स्थान दिया है। वर्तमान समय में पर्यावरण प्रदूषण से होने वाले खतरों का सूक्ष्मता से चित्रण मिलता है। साथ ही समस्या का समाधान समय पर नहीं करना परंतु वर्तमान परिदृश्य में समस्या के समाधान के बजाय केवल चिंतित होकर किये जाने वाले प्रदर्शन एवं क्रियाकलापों का भी चित्रण उनकी कविताओं में मिलता है।

''छियालिस डिग्री धूप गिरी है..व्याकुल है सब जीव,
पेड़ पौधे सब झुलसे।
ताल तलैया गए तलहटी में नदियां सूखी।
प्यासे हैं नलकूप, प्यास में, गौरैया रूखी।
हाहाकार मची है तब तो
सूझ रहा सबको
निकालेंगे वे जलसे।।''[17]

देशभर में पर्यावरणीय बदलाव और उसके स्वरूपों पर भी विजय राठौर की लेखनी चलती है। प्रकृति के सभी अंग-उपांगो पर लिखकर वर्तमान स्थिति को चित्रित करने का उनका प्रयास सफल हो रहा है। औद्योगिकीकरण एवं नगरीकरण के इस दौर में हो रहे पर्यावरण प्रदूषण का कवि ने सूक्ष्मता से चित्रण किया है।

''बह रही है वायु जहरीली, जिंदगी जीना बड़ा दुश्वार है।
कारखानों का जहर पीकर,
आजकल तो हर नदी बीमार है।
मछलियों की साँस गिरवी है,और मछुए भूख से व्याकुल।
ठौर दूजा ढूंढते कछुए, और सारस प्यास से आकुल।।
मर रही है प्यास से लहरें,नाद कल-कल है न, हाहाकार है।।''[18]

पूरे देश के साथ विश्व में हो रहे पर्यावरण के बदलाव के कारण प्रकृति का स्वरूप बिगड़ता जा रहा है। ऐसे में किसानों का बदलते मौसम के प्रति सशंकित और भयभीत होना स्वाभाविक है।

''फिर किसान टकटकी लगाए,देख रहा आसमान को।
फलित नहीं होता है अब तो,मौसम का पूर्वानुमान भी।
काम नहीं आता दिखता है,छेरछेरा का अन्नदान भी।।
बादल आते टा-टा करते, बदल रहे ऋतु के विधान को।।''[19]

बदलते हुए परिवेश और पर्यावरण प्रदूषण पर कवि ने सूक्ष्मता से चित्रण करते हुए न केवल पर्यावरण बदलाव अपितु सामाजिक बदलाव का चित्रण किया है। इस पर कवि का दृष्टिकोण उल्लेखनीय है।

''गंध मान था मन का उपवन,कब बबूल वन हुआ न जाने।
इतनी गर्म हवाएँ आती,सपने झुलसे, कुम्हलाते हैं।
साध जरा सा अँकुराई तो, दुर्दिन पंछी चुग जाते हैं।
लिपटे हैं भुजंग चाहों के,तन कब चंदन हुआ न जाने।।''[20]

वर्षा ऋतु का चित्रण कवि ने अपने अनुभवों से नये बिंबो एवं प्रतीकों के माध्यम से किया है।

''खिले हुए मुख दिखते सारे, मन हरसाया है।
चहुँ दिशि देखो आज धरा पर, यौवन छाया है।
नदिया पी से मिलने उमड़ी, सुध बुध भूल गई।
नई नवेली दुल्हन बाहों में, जो झूल गई।
बीरबहूटी ने भी अपना, रंग दिखाया है।।''[21]

प्रकृति वर्णन और बदलते ऋतु का चित्रण भी कवि की कविताओं में सूक्ष्मता से मिलता है।

''पीपल के पत्ते ललछौंहें,नए सृजन के सोहर गाते।
अभी-अभी निर्मम पतझड़ ने,पत्तों को चुन-चुन मारा है।
जिजीविषा अभी बाकी है,तरु ने फिर भी स्वीकारा है।
आम्र वनों के बौर देख लो,इस मौसम में हैं मदमाते।।''[22]

वर्तमान समय में बेतहाशा आधुनिकीकरण एवं नगरीकरण से मनुष्य के मनोवृति में हुए बदलाव का चित्रण भी कवि ने सूक्ष्मताओं से किया है।

''कंकरीटी जंगलों के लोग पथरीले,
किसे दुखड़ा सुनाएं।
रेतीली नदिया, सरोवर, प्यास से व्याकुल।

शहर है स्मार्ट, गाँव की, है बत्ती गुल।
बुजुर्गों के आँख के, क्यों कोर हैं गीले,
किसे दुखड़ा सुनाएं।।''[23]

भारतीय संस्कृति में गाँवों का एक अलग परिदृश्य दृष्टिगोचर होता है। वर्तमान परिदृश्य में आधुनिक सभ्यता के संपर्क में आकर ग्रामीण क्षेत्रों में भी अनेकों बदलाव आ रहा है। वर्तमान परिदृश्य में बदलते हुए गाँवों का वर्णन एवं बदले हुए ग्रामीण जीवन का चित्रण दर्शनीय है।

''कटे हरे जंगल, उग आए कंकरीट के गाँव।
अमराई वाले गाँव का, सपना आता है।
पनघट का गुपचुप बतियाना, नहीं सुहाता है।
हुए अपरिचित पीपल बरगद, और नीम के छांव।।''[24]

वर्तमान समय में पेड़ों की अंधाधुंध कटाई और आधुनिकीकरण व नगरीकरण से होने वाले विभिन्न क्रियाकलापों का उल्लेख कवि ने अपनी कविताओं में सूक्ष्मता से चित्रित किया है। वर्तमान शासन व्यवस्था पर व्यंग्य करते हुए कवि लिखते हैं।

''सबकी आंखों में आंसू है,हाथों में रुमाल।
जंगल कटने लगे, कटे फिर, बादल के भी पांव।
इसलिए सब के प्राणों का,लगा हुआ है दांव।
लोग हुए सब टेड़े, टेड़ी, हुईं ग्रहों की चाल।।
सबका अपना तवा, सभी की, अपनी रोटी है।
नेताओं को सूट, प्रजा को, सिर्फ लंगोटी है।
उन पर असर नहीं होता, उनकी है मोटी खाल।।''[25]

बदलते हुए परिवेश और पर्यावरण प्रदूषण पर कवि की दृष्टि बहुत ही सूक्ष्मता से पड़ रही है जिसके कारण हो रहे बदलाव का संकेत वे अपनी कविताओं में करते हैं।

''नदी में रेत की चादर, सरोवर बिन कमल दल के।
शहर में मौज मस्ती है, कृषक के पांव में छाले।
घरों में श्वान पलते हैं, निराश्रित हो गए ग्वाले।
फँसी है जाल में नारी, पुरुषों के दाँव है छल के।।''[26]

प्रकृति चित्रण करते हुए वर्तमान परिदृश्य में जो बदलाव दिखाई दे रहा है उनका सूक्ष्मता से चित्रण कवि अपनी कविताओं में करते हैं।

''गरज बरस कर गगन आज फिर, शायद प्यास बुझाए।
अभी हमारे मन आंगन में, कुछ बादल उतरेंगे।
बरसा कर अमृतमय बूंदे, पागल ही कर देंगे।
रिम-झिम, रिम-झिम झूम-झूम कर, मेघ मल्हार सुनायें।
प्यासी नदियां तटबंधों तक, भर फिर मुस्कायेंगी।
गौरैया गोखुर के जल में, डूबी उतराएगी।
कोयल गाए, झिंगुर चीखे, दादूर भी टर्राये।।''[27]

इसके अलावा कवि किसी भी नये स्थान पर जाते हैं तो वहाँ के सौंदर्य का चित्रण अपनी रचनाओं में जरूर शामिल करते हैं। प्रकृति की वादियों में स्थित नैनीताल में कवि का दृष्टिकोण इस प्रकार से परिलक्षित हुआ है।

''प्रकृति सुंदरी से मिलने, हम पहुँचे नैनीताल।
नैनी झील के तट में, नैना देवी यहाँ विराजे।
भक्तों की है भीड़ निरंतर, घंटा ध्वनि भी बाजे।
माल रोड में मिल जाता है। जो जो चाहे माल।।
प्रकृति सुंदरी की नैयनो से,नैनी झील सुहाए।
केश राशि सा फैला जंगल, पर्वत को हरिआए।
सड़के चम-चम चमके जैसे, हो गोरी के गाल।।''[28]

भारत का स्वर्ग कहे जाने वाले कश्मीर की यात्रा के दौरान वहाँ के प्रकृति का चित्रण भी कवि बड़ी बारीकी से करते हैं—

''धरती के स्वर्ग में,
अपनी पूरी भव्यता के साथ,
खड़े हैं बड़े-बड़े चिनार के वृक्ष।
इन्हें शिकायत थी ईश्वर से,
कि इन्हें नहीं नवाजा ईश्वर ने,
मीठे-मीठे फलों और लुभावने फूलों से।
तब ईश्वर ने कहा—
जाओ चिनार!
मीठे फलों और फूलों के बिना भी,
तुम्हारा वैभव वर्णनातीत होगा।।''[29]

इसी तरह कवि दक्षिण भारत के विभिन्न स्थानों पर भ्रमण करते हुए वहाँ के प्रकृति और पर्यावरण का चित्रण भी अपनी कविताओं में करते हैं।

"तमिलनाडु के सघन वनों से, गुजरे हैं श्री राम।
और किया दशमुख का, लंका में ही काम तमाम।।
चलते-चलते थके कहीं तो, पिये नारियल पानी।
रस्ते में सारी दलितों की, सुनते राम कहानी।।
भोले वनवासी लोगों का, पाते सहज प्रणाम।।
कभी धूप की गर्मी भारी, कभी बरसता मेंघ।
केले पत्तों पर हो भोजन, घास फूस की सेज।।
जनक नंदिनी से मिलने, वह चलते थे अविराम।।"[30]

इस तरह हिंदी साहित्य की सभी विधाओं में प्रकृति और पर्यावरण के संरक्षण और संवर्धन का संदेश देते हुए अनेकों पंक्तियां दृष्टिगोचर होती है। वर्तमान समय में मनुष्य का अस्तित्व बचाने के लिए प्रकृति को संरक्षित और संवर्धित करना बहुत आवश्यक है, इसी से मनुष्यता का विकास संभव है। विजय राठौर की कविताओं में भी प्रकृति से सामंजस्य स्थापित करने एवं उसके संरक्षण का संदेश मिलता है। कवि ने अपनी कविताओं में वर्तमान परिदृश्य का बिना लाग-लपेट के खरा-खरा निरूपण किया है। प्रकृति विकास में किसी भी तरह से बाधक नहीं है बल्कि विकास में प्रकृति के सभी तत्व हमारे सहयोगी हैं। इस बात का ध्यान रखते हुए हमें प्रकृति का संरक्षण करने की आवश्यकता है। मानवीय अस्तित्व को बचाने और जीवों के बेहतर जीवन के लिए प्रकृति का सानिध्य बहुत उपयोगी है।

संदर्भ :

1. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, कमल प्रकाशन, पृ. क्र.- 124
2. तुलसी दास, रामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड पृ. क्र. 641
3. जायसी, मलिक मोहम्मद, प्राचीन हिंदी काव्य (संपादक- डॉ. सत्यभामा आडिल) छत्तीसगढ़ ग्रंथ अकादमी रायपुर, पृ. क्र.-44
4. बिहारी, बिहारी सतसई
5. बिहारी, बिहारी सतसई
6. सेनापति कृत कवित्त रत्नाकर, संपादक- उमाशंकर शुक्ल, हिंदी परिषद प्रकाशन, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण 1936
7. तदैव
8. तदैव
9. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, कमल प्रकाशन, पृ. क्र.- 188
10. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, कमल प्रकाशन, पृ. क्र.- 191
11. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, हिंदी साहित्य का इतिहास, कमल प्रकाशन, पृ. क्र.- 185
12. पंत, सुमित्रानंदन, पर्वत प्रदेश में पावस
13. पंत, सुमित्रानंदन, हिंदी साहित्य भाग-2 (संपादक- जय प्रकाश), पृ. क्र.-13
14. प्रसाद, जयशंकर, कामायनी, आशा सर्ग, पृष्ठ क्रमांक-23
15. प्रसाद, जयशंकर, लहर, पृष्ठ क्रमांक-10
16. राठौर, विजय कुमार, संबंधों में चीनी कम है, बोधि प्रकाशन 2018, पृ. क्र. 93
17. तदैव, पृ. क्र.- 131
18. राठौर, विजय कुमार, है सफर में पांव मेरे, बोधि प्रकाशन 2022, पृ. क्र.- 116
19. राठौर, विजय कुमार, संबंधों में चीनी कम है, बोधि प्रकाशन 2018, पृ. क्र.- 82
20. राठौर, विजय कुमार, है सफर में पांव मेरे, बोधि प्रकाशन 2022, पृ. क्र.- 113
21. तदैव पृ. क्र.-76
22. राठौर, विजय कुमार, फूल अमलतास के, लोकोदय प्रकाशन- लखनऊ 2019, पृ. क्र.- 112
23. राठौर, विजय कुमार, है सफर में पांव मेरे, बोधि प्रकाशन 2022, पृ. क्र.- 72
24. तदैव, पृ. क्र.- 73
25. राठौर, विजय कुमार, संबंधों में चीनी कम है, बोधि प्रकाशन 2018, पृ. क्र. 86
26. राठौर, विजय कुमार, फूल अमलतास के,लोकोदय प्रकाशन लखनऊ 2019, पृ. क्र.- 104
27. राठौर, विजय कुमार, संबंधों में चीनी कम है, बोधि प्रकाशन 2018, पृ. क्र.- 160
28. तदैव, पृ. क्र.- 156
29. राठौर, विजय कुमार, यह जो मेरा नहीं है, उद्भावना प्रकाशन, जुलाई 2015, पृ. क्र.-09
30. राठौर, विजय कुमार, फूल अमलतास के, लोकोदय प्रकाशन लखनऊ 2019, पृ क्र.- 40

■

ऋषि दयानंद के साहित्य में पर्यावरण चिंतन

डॉ. अजय आर्य
स्नातक शिक्षक (संस्कृत)
केंद्रीय विद्यालय दुर्ग (छ.ग.)

19 वीं शताब्दी के सबसे प्रखर समाज सुधारकों में ऋषि दयानंद सरस्वती का नाम अग्रगण्य है। सन् 1875 में आर्य समाज की स्थापना करते हुए उन्होंने सामाजिक सुधार, सांस्कृतिक चेतना के लिए अनेक कार्य किए। ऋषि दयानंद सरस्वती स्वतंत्रता संग्राम के भी प्रेरणा स्रोत रहे। समाज सुधारक होने के साथ-साथ वे आध्यात्मिक गुरु भी थे।

कर्नाटक के पूर्व राज्यपाल श्री त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी के अनुसार—

स्वामी दयानन्द सरस्वती भारतीय इतिहास में एक विलक्षण तथा संघर्षशील व्यक्तित्व एवं विद्वत्ता की ऐसी विभूति हैं जिनका उन्नीसवीं शताब्दी के पुर्नजागरण में एक अद्वितीय स्थान है। उनके मौलिक चिन्तन, देश का परिभ्रमण, प्रमुख सामाजिक और धार्मिक नेताओं से विचार विमर्श तथा उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज उनकी विचारधारा के सर्वतोमुखी प्रभाव ने भारत में एक सामाजिक, धार्मिक और वैचारिक क्रान्ति पैदा की जिसकी गूँज आज भी सुनाई देती है। स्वदेशी, जनोन्मुखी सुशासन, स्वराज देशभक्ति, राष्ट्रीयता, स्वभाषा, वैश्विक सहानभूति, सत्य के प्रखर आग्रह, लोकसत्तात्मक प्रणाली में विश्वास, आत्मनिर्भरता सर्वग्राही संवेदनशीलता, आत्म सम्मान, समता, निडरता, शैक्षणिक परिवर्तन, दलितों और महिलाओं को समान अधिकार, जाति प्रथा निर्मूलन आदि विषयों में उनके द्वारा प्रतिपादित विचारों सिद्धान्तों ने तत्कालीन भारतीय समाज के पतनोन्मुखी काल में महती जीवनदायिनी संजीवनी का प्रभावी कार्य किया।

स्वामी दयानन्द का प्रधान प्रेरणा स्रोत सदैव देश का वैदिक धर्म, इतिहास, संस्कृति, देव-भाषा संस्कृत और भारत के निवासियों का पौरुष एवं प्राचीन गौरव और उसके भविष्य की सम्भावनाएँ ही रहा है।[1]

ऋषि दयानंद का आध्यात्मिक चिंतन वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित तर्कसंगत विचार है। उन्होंने मनु आदि ऋषियों को उद्धृत करते हुए वेद उपनिषद दर्शन जैसे ग्रंथों के आधार

पर प्रामाणिक विचारों को समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। इसीलिए आर्य समाज विश्व भर में एक जानी मानी प्रभावशाली सामाजिक संस्था है।

ऋषि दयानंद के ग्रंथों में पर्यावरण चेतना के अमूल्य सूत्र मिलते हैं। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के लिए जिस सुरम्य स्थान की कल्पना ऋषि दयानंद सरस्वती ने की थी वह प्रकृति का अद्भुत केंद्र है। ऋषि दयानंद का मानना था कि प्रकृति के निकट ही व्यक्ति की शिक्षा दीक्षा की जानी चाहिए। इसलिए उन्होंने नदी के निकट पर्वतों से घिरे स्थान को गुरुकुल शिक्षा के लिए उपयुक्त माना था।

उपह्वरे गिरीणां संगमे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत।[2]

पर्वतों के निकट नदियों के संगम में व्यक्ति विचारशील होकर बुद्धिमान बनता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा लिखित गौ करुणा निधि ग्रन्थ को सामान्यतः गौरक्षा मात्र का विचार समझा जाता है। किन्तु इसमें मांसाहार का भी विरोध इस दृष्टि से है कि इससे प्रकृति की हानि होती है।[3] इस ग्रन्थ का एक प्रसंग निम्न है–

जिन पशुओं और पक्षियों अर्थात् जंगल में रहने से उपकार किसी का नहीं होता और हानि होती है, उन का मांस खाना नहीं चाहिये।[4]

न खाना चाहिये, क्योंकि वे भी उपकार में आ सकते हैं।[5] जितनी शुद्धि करते हैं; उनसे अधिक एक सुअर व मुर्गा अथवा मोर आदि पक्षी सर्प आदि की निवृत्ति करने से पवित्रता और अनेक उपकार करते हैं और जैसे मनुष्यों का खान-पान दुसरे के खाने-पीने से उनका जितना अनुपकार होता है, वैसे जंगली मांसाहारी का अन्न जंगली पशु और पक्षी हैं और जो विद्या वा विचार से सिंह आदि वनस्थ पशु और पक्षियों से उपकार लेवें तो अनेक प्रकार का उनसे भी हो सकता है। इस कारण मांसाहार का सर्वथा निषेध होना चाहिए।

भला, जिन के दूध आदि खाने पीने में आते हैं, वे माता-पिता के समान माननीय क्यों न होने चाहियें ? ईश्वर की सृष्टि से भी विदित होता है कि मनुष्यों से पशु और पक्षी आदि अधिक रहने में कल्याण है, क्योंकि ईश्वर ने मनुष्यों के खाने पीने के पदार्थों से भी पक्षियों के खाने पीने के पदार्थ घास, वृक्ष, फूल, फलादि अधिक रचे हैं, और वे विना जोत बोए सींचे पृथ्वी पर स्वयम् उत्पन्न होते हैं और वहाँ वृष्टि भी करता है, इसलिये समझ लीजिये कि ईश्वर का अभिप्राय उन के मारने में नहीं किन्तु रक्षा ही करने में है।

जो मनुष्य पशु को मार के मांस खावें उनको पाप होता है, और जो बिकता मांस मूल्य से ले वा भैरव, चामुण्डा, दुर्गा जखैया, वाममार्ग अथवा यज्ञ आदि की रीति से चढ़ा समर्पण कर खावें तो उन को पाप नहीं होना चाहिये, क्योंकि वे विधि करके खाते हैं।

जो कोई मांस न खावे, न उपदेश और न अनुमति आदि देवे, तो पशु आदि कभी न मारे जावें। क्योंकि इस व्यवहार में लाभ और बिक्री न हो, तो प्राणियों का मारना बन्द ही हो जावे।[6]

देखिये, जो पशु निःसार घास तृण पत्ते फल-फूल आदि खावें और सार दूध आदि अमृतरूपी रत्न देवें, हल-गाड़ी में चल के अनेक-विध अन्न आदि उत्पन्न कर सब के बुद्धि बल पराक्रम को बढ़ा के नीरोगता करें, पुत्र-पुत्री और मित्र आदि के समान पुरुषों के साथ विश्वास और प्रेम करें, जहाँ बाँधे वहाँ बँधे रहें, जिधर चलावें उधर चलें जहाँ से हटावें वहाँ से हट जावें, देखने और बुलाने पर समीप चले आवें, जब कभी व्याघ्रादि पशु वा मारने वाले को देखें, अपनी रक्षा के लिये पालन करने वाले के समीप दौड़कर आवें कि यह हमारी रक्षा करेगा। जिनके मरे पर चमड़ा भी कंटक आदि से रक्षा करे, जंगल में चर के अपने बच्चे और स्वामी के लिये दूध देने को नियत स्थान पर नियत समय चले आवें, अपने स्वामी की रक्षा के लिये तन, मन लगावें, जिन का सर्वस्व राजा और प्रजा आदि मनुष्यों के सुख के लिये है, इत्यादि शुभ गुणयुक्त सुखकारक पशुओं के गले छरों से काटकर जो मनुष्य अपना पेट भर सब संसार की हानि करते हैं, क्या संसार में उन से भी अधिक कोई विश्वासघाती, अनुपकारी, दुःख देनेवाले और पापी जन होंगे ?[7]

ऋषि दयानंद ने गौ करुणा निधि में आगाह किया है कि पशुओं की हत्या करने के कारण खान पान खेत खलिहान की व्यवस्था छिन्न भिन्न हो जाएगी। वे लिखते हैं—

''इससे यह ठीक है कि गौ आदि पशुओं के नाश होने से राजा और प्रजा का भी नाश हो जाता है, क्योंकि जब पशु न्यून होते हैं.. तब दूध आदि पदार्थ और खेती आदि कार्यों की भी घटती होती है। देखो! इसी से जितने मूल्य से जितना दूध और घी आदि पदार्थ तथा बैल आदि पशु सात सौ वर्ष के पूर्व मिलते थे, उतना दूध, घी और बैल आदि पशु इस समय दशगुणे मूल्य में भी नहीं मिल सकते। क्योंकि सात सौ वर्ष के पीछे इस देश में गवादि पशुओं को मारने वाले मांसाहारी विदेशी मनुष्य बहुत आ बसे हैं। वे उन सर्वोपकारी पशुओं के हाड़मांस तक भी नहीं छोड़ते, तो 'नष्टे मूले नैव पत्रं न पुष्पम्।''[8]

ऋषि दयानन्द ने गाय, भैंस और बकरी की एक पीढ़ी के उपकार अथवा उपयोगी होने का पूरा गणितीय शास्त्र प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार एक गाय 410440 मनुष्यों का पालन करती है। इसी तरह बकरी 2160 मनुष्यों का कल्याण करती है।[9]

मनुस्मृति में प्रतिदिन यज्ञ नहीं करने वाले को जाति से बाहर कर देने का विधान किया गया है। ऋषि दयानंद यज्ञ को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि हम प्रकृति का जितना बिगाड़ करते हैं हमें प्रकृति को उतना ही सुधारना भी चाहिए। गीता में इसीलिए यज्ञ से वृष्टि होने

का प्रमाण स्वीकार किया गया है। महर्षि दयानंद का यज्ञ विधान भी इस दृष्टि से प्रकृति के संरक्षण का उपाय है। उन्होंने अनेकत्र इस बात को लिखा है।[10]

स्वामी दयानंद ने यज्ञ के प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए एक प्रश्नोत्तर में लिखा है—

प्रश्न—होम से क्या उपकार होता है?

उत्तर—सब लोग जानते हैं कि दुर्गन्धयुक्त वायु और जल से रोग, रोग से प्राणियों को दुःख और सुगन्धित वायु तथा जल से आरोग्य और नीरोग होने से सुख प्राप्त होता है।[11]

एक मन्त्र के भावार्थ में वे लिखते हैं—

'विद्वत्सठ विद्योन्नितिर्होमशिल्पाख्यैर्यज्ञैर्वायुवृष्टिजलशुद्धयश्च सदैव कार्य्या इति'

विद्वानों का संग तथा विद्या की उन्नति से वा होम शिल्प कार्यरूपी यज्ञों से वायु और वर्षा जल की शुद्धि सदा करनी चाहिए।[12]

ऋषि दयानंद मानते थे कि यज्ञ में सुगंधित पुष्टि कारक औषधियों का प्रयोग करने से अनेक रोग दूर किए जा सकते हैं। उन्होंने अपने पत्रों तथा अपने साहित्य में इस बात का उल्लेख किया है कि जब देश में राजा महाराजा बड़े-बड़े यज्ञ करते थे तब प्रजा स्वस्थ तथा निरोग रहती थी। यज्ञ के आध्यात्मिक सांस्कृतिक तथा प्राकृतिक लाभ हैं। यज्ञ के साथ आयुर्वेद का सीधा संबंध है। यजुर्वेद में यज्ञ से आयु धन-संपत्ति सब कुछ प्राप्त करने का भी वर्णन आया है। ऋषि दयानंद का यज्ञ विधान भी प्रकृति का पोषक है।

ऋषि दयानंद का यज्ञ विधान कर्मकांड से बढ़कर प्रकृति की रक्षा का उपाय था। वे इसे स्पष्ट करते हुए प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं—

प्रश्न—क्या इस होम करने के विना पाप होता है ?

उत्तर—हाँ क्योंकि जिस मनुष्य के शरीर से जितना दुर्गन्ध हो के वायु और जल को बिगाड़ कर रोगोत्पत्ति का निमित्त होने से प्राणियों को दुःख प्राप्त कराता है उतना ही पाप उस मनुष्य को होता है। इसलिये उस पाप के निवारणार्थ उतना सुगन्ध वा उससे अधिक वायु और जल में फैलाना चाहिये। और खिलाने पिलाने से उसी एक व्यक्ति को सुख विशेष होता है। जितना घृत और सुगन्धादि पदार्थ एक मनुष्य खाता है उतने द्रव्य के होम से लाखों मनुष्यों का उपकार होता है परन्तु जो मनुष्य लोग घृतादि उत्तम पदार्थ न खावें तो उन के शरीर और आत्मा के बल की उन्नति न हो सके, इस से अच्छे पदार्थ खिलाना पिलाना भी चाहिये परन्तु उससे होम अधिक करना उचित है इसलिए होम का करना अत्यावश्यक है।

प्रश्न—प्रत्येक मनुष्य कितनी आहुति करे और एक-एक आहुति का कितना परिमाण है?

उत्तर—प्रत्येक मनुष्य को सोलह-सोलह आहुति और छः-छः माशे घृतादि एक-एक आहुति का परिमाण न्यून से न्यून चाहिये और जो इससे अधिक करे तो बहुत अच्छा है। इसीलिये आर्यवर शिरोमणि महाशय ऋषि, महर्षि, राजे, महाराजे लोग बहुत सा होम करते और कराते थे। जब तक इस होम करने का प्रचार रहा तब तक आर्यावर्त्त देश रोगों से रहित और सुखों से पूरित था, अब भी प्रचार हो तो वैसा ही हो जाय। ये दो यज्ञ अर्थात् ब्रह्मयज्ञ जो पढ़ना-पढ़ाना सन्ध्योपासन ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करना, दूसरा देवयज्ञ जो अग्निहोत्र से ले के अश्वमेध पर्यन्त यज्ञ और विद्वानों की सेवा संग करना परन्तु ब्रह्मचर्य में केवल ब्रह्मयज्ञ और अग्निहोत्र का ही करना होता है।[13]

अग्निहोत्र को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—

अग्निहोत्र से वायु, वृष्टि, जल की शुद्धि होकर वृष्टि द्वारा संसार को सुख प्राप्त होना अर्थात् शुद्ध वायु का श्वास, स्पर्श, खान पान से आरोग्य बुद्धि बल पराक्रम बढ़ के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अनुष्ठान इसीलिये इसको देवयज्ञ कहते हैं।[14]

उपसंहार

ऋषि दयानंद के चिंतन में जीवन की सहज सरल व्याख्या का सबसे पुरातन आधार वेद है। उन्होंने सार्वभौम सिद्धांतों को उजागर किया। विदेशी लेखक रोमां रोल्या भी उनके विचारों से प्रभावित थे।[15]

ऋषि दयानंद के साहित्य का विहंगम अध्ययन करने के पश्चात यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋषि दयानंद सरस्वती का दृष्टिकोण एक व्यवहारिक दृष्टिकोण है। पूजा का अर्थ भी करते हैं कि जो व्यक्ति वस्तु पदार्थ जिस हेतु बनी है उसका समुचित उपयोग करना ही पूजा है। ऐसी व्याख्या करके नदी आदि में फल फूल शव आदि बहाने का विरोध करते हैं। वे प्रकृति के पोषण के लिए यज्ञ कर्म को अनिवार्य बताते हैं। यज्ञ में भी डाले जाने वाले पदार्थों का चयन करते हुए सुगंधी युक्त रोग नाशक पुष्टि कारक पदार्थों का आग्रह करते हैं। ऋषि दयानंद का यज्ञीय चिंतन बहुत ही व्यापक है। सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि, पंचयज्ञ विधि, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका' में इस सम्बन्ध में उन्होंने पर्याप्त चिंतन प्रस्तुत किया है। कोविड 19 के दौर में स्वच्छ हवा स्वच्छ जल मके साथ साथ स्वच्छता के विशेष पक्ष को हम सबने महसूस किया होगा, जिसकी ओर ऋषि दयानन्द ने सदियों पहले हम सबका ध्यान दिलाया था।[16]

यह कहा जा सकता है कि स्वास्थ्य के लिए ऋषि दयानंद के चिंतन में प्रकृति की रक्षा सर्वोपरि है।

सन्दर्भ :

1. नवजागरण के पुरोधा (प्राक्कथन) पृष्ठ 1
2. यजुर्वेद : 26.15
3. स्वामी दयानन्द कृत गौकरुणा निधि पृष्ठ 13, प्रकाशक विजय कुमार गोविन्दराम हासानंद, दिल्ली
4. हिंसक व रक्षक
5. वर्त्तमान में भंगी शब्द असंसदीय है। स्वामी जी द्वारा लिखित ग्रन्थ 100 वर्ष से अधिक पुराना है। कथन की प्रमाणिकता के लिए उद्धरण को यथावत रखा गया है।
6. स्वामी दयानन्द कृत गौ करुणा निधि पृष्ठ 13
7. वही पृष्ठ 7-8
8. वही पृष्ठ 8
9. वही पृष्ठ 6-7
10. पं बुद्धदेव विद्यालंकार कृत पंच यज्ञ प्रकाश
11. सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास पृष्ठ 44
12. यजुर्वेद अ0 1 मन्त्र 21
13. सत्यार्थ प्रकाश तृतीय समुल्लास पृष्ठ 45
14. सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास पृष्ठ 89
15. भारत का एक ऋषि, संत रोमा रोल्यां पृष्ठ 11
16. यज्ञ के वैज्ञानिक प्रभाव को समझने के लिए स्वामी विवेकानंद जी कृत अग्निहोत्र यज्ञ : विज्ञान की दृष्टि में (स्वामी समर्पणानंद शोध संस्थान मेरठ) पुस्तक उपयोगी होगी।

■

भारत में पूँजीवाद और जलवायु संकट

धवल गुप्ता
सहायक प्राध्यापक, वाणिज्य विभाग
शासकीय नवीन महाविद्यालय, भैरमगढ़, बीजापुर (छ.ग.)

परिचय

विश्व मौसम विज्ञान संगठन (डब्ल्यूएमओ) और अन्य वैज्ञानिक संस्थानों द्वारा प्रकाशित यूनाइटेड इन साइंस 2020 रिपोर्ट में कहा गया है कि 2016-2020 में दुनिया भर में समुद्र के स्तर में औसत वृद्धि प्रति वर्ष लगभग आधा सेंटीमीटर थी। समुद्र के स्तर में वृद्धि की दर अब बीसवीं शताब्दी के औसत से काफी अधिक है, मुख्य रूप से अंटार्कटिका और ग्रीनलैंड पर बर्फ की बड़ी चादरों से बर्फ के नुकसान के अलावा गर्म समुद्र के पानी के विस्तार के कारण।

भारत अपने हाल के इतिहास में सबसे खराब बाढ़, चक्रवात, लू और सूखे का सामना कर रहा है। भारत में जलवायु परिवर्तन के प्रमुख चालकों में बड़े पैमाने पर औद्योगिक उत्सर्जन, वनों की कटाई, शहरों की भीड़भाड़ और कॉर्पोरेट के नेतृत्व वाली कृषि पद्धतियाँ शामिल हैं। पूंजीवाद के तहत, राज्य के सुधारों पर निर्भर रहना, पर्यावरण के अनुकूल कानूनों पर जोर देना, पूंजीपतियों या व्यक्तियों से अपील करना जलवायु परिवर्तन के संबंध में कोई ठोस हल नहीं कर सकता है।

विनाशकारी प्रदूषण

प्रदूषण भारत में जलवायु आपदाओं का सबसे बड़ा कारण है। भारत में अत्यधिक प्रदूषण औद्योगिक उत्सर्जन के कारण होता है। कारखाने पर्यावरण और अन्य कानूनों की सीमा के बाहर काम कर रहे हैं। फ़ैक्टरी मालिक कभी भी उत्सर्जन को हवा में छोड़ने से पहले उसका उपचार करने की जहमत नहीं उठाते। ऐसा करने के लिए उन्हें पैसे खर्च करने पड़ते हैं और यह उनके मुनाफे को खा जाता है। विशाखापत्तनम में एक रासायनिक संयंत्र से हाल ही में गैस रिसाव पाँच किलोमीटर के दायरे में फैल गया, जिसमें 11 लोगों की मौत

हो गई और लगभग 1,000 लोग प्रभावित हुए। भारत सरकार के पास प्रदूषण नियंत्रण पर कानून का पहाड़ है। फिर भी, जब कार्यान्वयन की बात आती है, तो उसे पूंजीवादी व्यवस्था के तहत भ्रष्ट राज्य तंत्र का सामना करना पड़ता है। फैक्ट्री मालिक अक्सर सभी प्रकार के निरीक्षणों से गुजरते हैं और रिश्वतखोरी, या अन्य प्रकार से राज्य के जुर्माने से बचते हैं।

दूसरा सबसे बड़ा प्रदूषण का प्रकार वाहन उत्सर्जन है। अकेले दिल्ली की सड़कों पर प्रतिदिन 1,400 नए वाहन जुड़ते हैं। जो मुख्य रूप से डीजल और पेट्रोल पर चलते हैं। इसी तरह की स्थिति देश भर के अन्य शहरी केंद्रों में मौजूद है। लॉजिस्टिक इन्फ्रास्ट्रक्चर घिसे-पिटे और उच्च उत्सर्जन वाले ट्रकों और टैंकरों से भरा है। सड़कों पर निजी वाहनों में वृद्धि के लिए सार्वजनिक परिवहन बुनियादी ढाँचे की कमी और सस्ते कार ऋण जिम्मेदार हैं।

एक अन्य, सबसे हालिया प्रदूषण स्रोत की पहचान पंजाब जिले में अवांछित फसल पौधों को जलाने के रूप में की गई थी। पंजाब में किसानों ने अपनी ज़मीन साफ़ करने के लिए नवंबर 2019 में अपनी बची हुई फ़सल या ठूँठ को जला दिया, जिससे उत्तर-पश्चिम भारत और पड़ोसी देशों में बड़े पैमाने पर पर्यावरणीय आपदा पैदा हो गई। प्रमुख शहर और कस्बे धुंध से भर गए। सुप्रीम कोर्ट ने सांकेतिक रूप से 2020 में हस्तक्षेप किया था, लेकिन अभी भी इस संकट के समाधान के लिए कोई प्रगति नहीं हुई है।

बाढ़, सूखा और खाद्य असुरक्षा

भारत में जहाँ भी बाढ़ आती है, उसका प्रभाव हमेशा गरीबों पर पड़ता है। आधिकारिक तौर पर, यह बताया गया था कि असम सहित देश भर के 11 राज्यों में अगस्त 2020 में बाढ़ में लगभग 900 लोग मारे गए थे। इसके अलावा, केरल राज्य में हुए भूस्खलन ने 22 लोगों की जान ले ली है। यह हाल के इतिहास में सबसे खराब मानसून के बाद था, जिसमें करोड़ों लोग प्रभावित हुए थे और गृह मंत्रालय के आपदा प्रबंधन प्रभाग के आंकड़ों के अनुसार 850 लोगों की जान चली गई थी। बाढ़ बचाव कर्मियों के बीच कोविड-19 मामलों में वृद्धि की भी खबरें रहीं।

निजी बिल्डरों द्वारा अनियंत्रित निर्माण और शहरी विस्तार से भारी बारिश से बाढ़ की संभावना बढ़ जाती है। बारिश का पानी सतह पर रहता है और ढीली मिट्टी की जगह निर्माण कार्य के दौरान बह जाता है। छोटी गलियां पानी के तेज बहाव वाले चैनलों के रूप में काम करती हैं। इसके अलावा, जल निकासी प्रणाली पूरी तरह से ठप हो जाती है और पानी लंबे समय तक सतह पर बना रहता है। रिवरबैंक कमजोर हैं और कभी भी रखरखाव नहीं करते हैं। वे तुरंत टूट जाते हैं, जिससे नदी पड़ोसी कस्बों और गाँवों में बाढ़ आ जाती है।

प्रौद्योगिकी और नवीनतम नगर नियोजन विधियां बाढ़ की समस्या को टाल सकती हैं। हालांकि, न तो सरकार और न ही पूंजीपतियों को गरीब लोगों के जीवन और संपत्ति की रक्षा में कोई दिलचस्पी है।

गाँवों में सूखे का प्रभाव गंभीर है। कृषि योग्य भूमि पानी की कमी वाली भूमि में बदल गई है, जो कृषि योग्य नहीं है और ग्रामीण भारत में गरीबी के चरम स्तर में योगदान दे रही है। फसल बर्बाद होने से लाखों किसान जिंदा रहने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। प्रायः अनुत्पादक भूमि से संबंधित आर्थिक मुद्दों के कारण लगभग 10 किसान प्रतिदिन आत्महत्या करते हैं। किसान आत्महत्या दर आमतौर पर सूखे के वर्ष के दौरान बढ़ जाती है। यह प्रवासी श्रम को बढ़ावा दे रहा है और शहरीकरण बढ़ा रहा है। कर्नाटक के 80 प्रतिशत और महाराष्ट्र के 70 प्रतिशत जिलों को सूखा प्रभावित घोषित किया जा चुका है। एक रिपोर्ट में कहा गया है कि अकेले महाराष्ट्र में लगभग 6,000 टैंकर 15,000 गाँवों और बस्तियों में पानी की आपूर्ति करते हैं। अगले दो से तीन वर्षों में दिल्ली और बैंगलोर सहित 21 प्रमुख शहरों में भूजल खत्म होने का अनुमान है।

लू-श्रमिकों के लिए जीवित नरक

पिछले वर्षों में आधिकारिक आंकड़ों ने गर्मी की लहरों के कारण 5,000 मौतों की सूचना दी। असली आंकड़े इससे कहीं ज्यादा हैं। अत्यधिक गर्म मौसम श्रमिकों के लिए नारकीय स्थिति पैदा करता है, जो चिलचिलाती गर्मी में काम करने के लिए मजबूर हैं, अन्यथा वे और उनके परिवार भूखे मर जाएंगे। अत्यधिक गर्मी के दौरान श्रमिकों के लिए कोई अवकाश नहीं है। इसके विपरीत, पूंजीपति वर्ग के पास अच्छी तरह से निर्मित, गर्मी-रोधक घर हैं जिनमें एयर कंडीशनर 24/7 चलते हैं। यहाँ तक कि वे खुद को हाइड्रेटेड और स्वस्थ रखने के लिए एनर्जी ड्रिंक और मौसमी फल भी खाते हैं, जबकि गरीब दिन के दौरान पीने के पानी तक नहीं पहुँच पाते हैं और कुछ राहत पाने के लिए पंखे तक के लिए बिजली भी नहीं होती है।

अत्यधिक गर्मी के दौरान, सरकार स्वास्थ्य और सुरक्षा कारणों से काम रोकने का आदेश भी नहीं देती है, विशेष रूप से निर्माण और गर्म और आर्द्र वातावरण वाले उद्योगों में, जैसे कपड़ा रंगाई और छपाई। सरकार आदेश देती भी है तो उसके निर्देश का पालन नहीं किया जाता है।

चरम मौसम

चरम जलवायु घटनाएँ हाल के वर्षों में भारत (और दुनिया भर में) में अधिक तीव्र और लगातार हो रही हैं—विशेष रूप से चरम वर्षा की घटनाएँ। इसके परिणामस्वरूप बाढ़,

संपत्ति का नुकसान और मौतें होती हैं—जैसे कि अगस्त 2018 में दक्षिणी राज्य केरल में, जिसमें 350 लोग मारे गए थे। इसके साथ ही ग्रीष्म मानसून में भी गिरावट आई है, जिससे भारत को अपनी वार्षिक वर्षा का 75 प्रतिशत प्राप्त होता है।

लुप्त होते ग्लेशियर, बढ़ते महासागर और समुद्री जीवन का विलुप्त होना

भारत हिमालय में बर्फ के पिघलने की चपेट में है क्योंकि इसकी अधिकांश नदियाँ वहीं से आती हैं। हिमालय में ग्लेशियर हैं जो उन 1.65 बिलियन लोगों के लिए महत्वपूर्ण जल भंडार हैं जो उन नदियों पर निर्भर हैं जो चोटियों से पड़ोसी देशों में बहती हैं।

हिमालय के ग्लेशियर, जो परंपरागत रूप से अधिक स्थिर हैं, अब ग्लोबल वार्मिंग के खतरे का सामना कर रहे हैं। गायब होने वाले ग्लेशियर नदियों में पानी के प्रवाह की सीमाओं को धक्का देंगे, जिसके परिणामस्वरूप किनारे फट जाएंगे और बाढ़ से गाँवों और कस्बों को तबाह कर दिया जाएगा। 2060 तक, प्रमुख नदियाँ कम होने लगेंगी और छोटी नदियाँ गायब हो जाएँगी, जिससे सूखे की चुनौतियाँ और बढ़ जाएँगी।

बर्फ के तेजी से पिघलने का सीधा प्रभाव समुद्र के स्तर में वृद्धि पर पड़ता है। भारत की तटरेखा लगभग 7,500 किलोमीटर लंबी है और इसमें नौ राज्य शामिल हैं। प्रमुख तटीय कस्बों में 560 मिलियन लोगों की आबादी वाली राज्य की राजधानियाँ शामिल हैं जो समुद्र के बढ़ते स्तर से सीधे खतरे में हैं।

पिछले 2019-2020 के मानसून के मौसम से मछली पकड़ने में उल्लेखनीय गिरावट आई है, जैसा कि सेंट्रल मरीन फिशरीज ऑफ इंडिया द्वारा पुष्टि की गई है। डेटा से पता चलता है कि पिछले वर्ष की तुलना में 2018 में कुल मछली पकड़ने में 9 प्रतिशत की गिरावट आई है। ये रूढ़िवादी अनुमान हैं, और वास्तविकता इससे भी बदतर है। कर्नाटक में इसी अवधि में सार्डिन में 54 प्रतिशत और केरल क्षेत्रों में 39 प्रतिशत की गिरावट आई। सार्डिन भारतीय समुद्री मछली पकड़ने में मुख्य योगदानकर्ता हैं। एक अन्य प्रमुख कारण कॉर्पोरेट मछली पालन है। बड़ी कंपनियों ने समुद्री मछली पालन में उद्यम किया है, उनके मेगा ट्रॉलर साल भर काम करते हैं। कर्नाटक राज्य ने दिसंबर से बुल ट्रॉलिंग पर प्रतिबंध लगा दिया है, लेकिन बड़े पैमाने पर भ्रष्टाचार के कारण, ट्रॉलिंग में कोई बदलाव नहीं आया है। राज्य के अधिकारी मानते हैं कि इसे नियंत्रित करना असंभव है।

सरकार की भूमिका

1986 में, भोपाल आपदा हुई, जिसमें अमेरिकी रासायनिक कंपनी यूनियन कार्बाइड कॉर्पोरेशन (डॉव केमिकल की सहायक कंपनी) ने भारतीय पूंजीपतियों के साथ मिलकर हजारों स्थानीय लोगों की हत्या कर दी, जब जहरीली गैस संयंत्र से हवा में लीक हो गई। कांग्रेस सरकार ने लोगों के गुस्से को शांत करने के लिए एक सांकेतिक कदम उठाया और

पर्यावरण संरक्षण अधिनियम 1986 पारित किया। बाद में, परियोजनाओं के पर्यावरणीय प्रभाव का आकलन करने के लिए एक अधिक औपचारिक अभ्यास 1994 में शुरू किया गया जिसमें उन्होंने सार्वजनिक जाँच शुरू की। समय के साथ, एक के बाद एक आने वाली सरकारों ने कई खामियां पैदा कीं जिससे पूंजीपति कानून के बावजूद पर्यावरण को प्रदूषित करना जारी रख सके। पूंजीपति अपनी परियोजनाओं को मंजूरी दिलाने के लिए स्थानीय राजनेताओं और राज्य की नौकरशाही को रिश्वत में नकद राशि देते हैं, जिसे भारत में आदर्श माना जाता है। मोदी ने अपने विपक्ष के समय में इस तरह की रिश्वत को पर्यावरण मंत्री के नाम पर 'जयंती टैक्स' करार दिया था। नौकरशाह अक्सर अनुमोदन प्रक्रिया को गति देने के लिए बड़ी रिश्वत के लिए पूंजीपतियों के साथ सौदेबाजी करने के लिए परियोजनाएँ चलाते हैं।

सरकार, जो हमेशा पूंजीपतियों की कठपुतली के रूप में काम करती है, को यह आभास देना होगा कि उन्हें 'लोगों की भागीदारी' की परवाह है। लेकिन वर्तमान संकट पूंजीवाद के असली चेहरे को उजागर कर रहा है और सरकारों की मौलिक भूमिका को भी।

पूँजीवाद की विफलता

भारत में जलवायु परिवर्तन से जुड़ी समस्याओं का पैमाना बहुत बड़ा है। यह एक ऐसी समस्या है जिसके लिए मजदूर वर्ग के लोग जिम्मेदार नहीं हैं। लोग आर्थिक रूप से कम सुरक्षित होते जा रहे हैं और उनका स्वास्थ्य बिगड़ रहा है। वे बीमारी के प्रति अधिक संवेदनशील होते जा रहे हैं और उन्हें अपने क्षेत्रों में जलवायु संकट से बचने के लिए पलायन करना पड़ रहा है। जलवायु आपदाओं के लिए बड़े पूंजीपति जिम्मेदार हैं। इस पूंजीवादी व्यवस्था के तहत, सरकारें मौन हैं और जलवायु के मुद्दों को गंभीरता से संबोधित करने में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं है, उदाहरण के लिए, उत्सर्जन को नियंत्रित करना और लोगों पर जलवायु संकट के प्रभाव को कम करना।

उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व के तहत, निजी मुनाफाखोर कंपनियों से जलवायु की देखभाल करने की अपील करना असंभव है। वे पर्यावरण की दृष्टि से विनाशकारी गतिविधियों पर अपना पैसा लगाना जारी रखेंगे और जलवायु परिवर्तन के परिणामों से लाभान्वित होंगे।

सरकारी ऊर्जा सब्सिडी भी काम नहीं कर रही है, क्योंकि स्वच्छ ऊर्जा कंपनियों की तुलना में जीवाश्म ईंधन कंपनियों को अधिक सब्सिडी दी जाती है। 2019 में, भारत सरकार ने तेल, गैस और कोयले की सब्सिडी पर 12.37 बिलियन अमरीकी डालर खर्च किए। इसके विपरीत, यह उसी वर्ष नवीकरणीय ऊर्जा सब्सिडी पर 1.5 बिलियन अमरीकी डालर खर्च करता है। राज्य-सब्सिडी मजदूर वर्ग के लिए काम नहीं कर रही है, बल्कि केवल धनी

पूंजीपतियों को लाभ पहुँचा रही है। लोगों को न बिजली के बिल कम होते दिख रहे हैं और न ही उनकी हवा साफ हो रही है। भारत में लगभग सभी विनिर्माण उद्योग निजी स्वामित्व में हैं। वे शायद ही कोई सटीक उत्सर्जन डेटा सरकार के साथ साझा करते हैं। इसके अलावा, वे कभी भी अपने उत्सर्जन का इलाज करने की जहमत नहीं उठाते। उनके पास पर्यावरण निरीक्षण के लिए जिम्मेदार सरकारी अधिकारियों से निपटने के संसाधन हैं और वे अपने व्यापारिक संघों के माध्यम से राजनेताओं और अन्य नीति निर्माताओं को प्रभावित कर सकते हैं।

प्रतिस्पर्धा पूंजीवाद की कुंजी है। जब एक कारखाना लागत में कटौती करता है और पर्यावरण को प्रदूषित करना शुरू करता है, तो सभी को ऐसा करना चाहिए। अन्यथा, उन्हें बाजार की ताकतों द्वारा व्यवसाय से बाहर कर दिया जाएगा। स्वच्छ प्रौद्योगिकियों को स्थापित करके पर्यावरण को स्वच्छ बनाने का कोई व्यावसायिक अर्थ नहीं होगा क्योंकि यह मुनाफे में खाएगा।

जलवायु परिवर्तन और इसके प्रभाव की पहचान करने के लिए पर्याप्त डेटा, सूचना और सबूत हैं। इसके अलावा, विज्ञान और प्रौद्योगिकी इस स्तर तक पहुँच चुके हैं कि जलवायु परिवर्तन को संबोधित किया जा सकता है, और लोगों को पर्यावरणीय आपदाओं से काफी हद तक सुरक्षित किया जा सकता है। लेकिन इस पूंजीवादी व्यवस्था के तहत सभी लोगों को लाभ पहुँचाने के लिए ऐसी तकनीकों को निवेश और तैनात करने की कोई भूख नहीं है। सरकार अपने मुनाफे को बढ़ाने के लिए बड़ी रकम के साथ बैंकों और बड़े व्यवसायों को खुशी-खुशी राहत दे रही है, लेकिन जब लोगों की मदद करने की बात आती है, तो पैसा नहीं होता है।

मुख्यधारा के राजनीतिक दलों के पास भारत में जलवायु संकट का कोई समाधान नहीं है। अनगिनत बैठकों, सम्मेलनों और प्रस्तावित कानून के बावजूद कुछ भी सुधार नहीं हुआ है।

संदर्भ:

1. सिवरामन बी, 'कॉर्पोरेट पूँजीवाद और जलवायु लक्ष्य'
2. वेबलिंक - https://hindi.newsclick.in/Corporate-Capitalism-and-Climate-Goals
3. विजय, 'पूँजीवाद ने जलवायु संकट पैदा किया; समाजवाद इस आपदा को ताल सकता है'
   वेबलिंक— https://indianculturalforum.in.

■

पर्यावरण एवं राजनीतिक चिंतन

मुकेश कुमार सिंह
शोध छात्र-राजनीति विज्ञान
संत गहिरा गुरु विश्वविद्यालय सरगुजा, अम्बिकापुर, छत्तीसगढ़

परंपरागत राजनीतिक चिंतन एवं विश्लेषण का केंद्र बिंदु 'राज्य' एवं 'संसार' तक ही सीमित था परंतु आधुनिक राजनीति विज्ञान जो कि व्यवहारवादी, राजनीति विज्ञान के रूप में जाना जाता है, का मुख्य लक्ष्य राजनीतिक विज्ञान को मनोवैज्ञानिक, अंतर्विषयक तथा यथार्थपरक बनाना है। इस संदर्भ में 'पर्यावरण' राजनीतिक चिंतन में एक नई अवधारणा के रूप में उभर कर सामने आई है।

ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो राजनीतिक चिंतन में सर्वप्रथम प्राचीन ग्रीक विचारकों ने पर्यावरणीय तत्वों की प्रभुता को स्वीकार किया था। ईसा से लगभग 420 वर्ष पूर्व 'हिप्पोक्रेट्स' ने अपने एक लेख में एशिया महाद्वीप के 'पर्यावरणीय महत्व' का गुणगान करते हुए इसे वायु, जल तथा उच्चावच के आधार पर रहने हेतु सर्वाधिक उपयुक्त स्थान बताया था। महान विचारक 'अरस्तु' की मान्यता थी कि मनुष्य के रहने के लिए उपयुक्त भूमि समुद्र तट के निकट होनी चाहिए ताकि न सिर्फ आवश्यक सामग्री का आयात हो सके अपितु सम्यक एवं समायोजन जलवायु से जीवन निर्विवाद सुखद एवं स्वास्थ्यप्रद पर भी हो सके। 'सिक्किम' के राजनीतिक चिंतन का बहुतायत हिस्सा 'प्राकृतिक जीवन की ओर लौटने' को लेकर था। प्लेटो ने भी अपने आदर्श राज्य की काल्पनिक भौगोलिक रूपरेखा खींचते समय, इसमें पर्यावरण को विशेष स्थान दिया था।

परंपरागत राजनीतिक चिंतन में यद्यपि पर्यावरण प्रत्यक्षतः कोई मुद्दा नहीं रहा, तथापि परोक्ष रूप से इसने न सिर्फ राजनीतिक संगठन को प्रभावित किया अपितु अनेकों राजनीतिक सिद्धांतों से अंतरसंबंधित भी रहा। भूमि की बनावट और भौगोलिक दशाओं का राजनीतिक संगठन पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। राजनीतिक सिद्धांत के अंतर्गत 'अराजकतावादी विचारधारा' का विश्लेषण करें तो हमें पता चलता है कि यह विचारधारा मनुष्य को प्रकृति के बेहद करीब रखने की पक्षधर है। यह विचारधारा एक ऐसे विकेंद्रीकृत व्यवस्था का समर्थन

करती है। जो व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह के लिए राज्य नामक संस्था को अनावश्यक मानती है यह दृष्टि ही अराजकतावादी चिंतन को पर्यावरणीय मूल्यों के बेहद करीब ला देती है।

उत्तर व्यवहारवादी युग के आते–आते राजनीति विज्ञान के अध्ययन का केंद्र, कर्म एवं प्रसंगिकतावाद बना, जिसका संबंध सामाजिक सरोकारों से था। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात अफ्रीका, एशिया एवं लैटिन अमेरिका में नए-नए राज्यों का उद्भव एवं विकास हुआ। विकासशील राष्ट्रों का उद्भव, आधुनिकीकरण, औद्योगिकीकरण की समस्याएँ इत्यादि राजनीतिक चिंतन के नए विषयवस्तु बनकर सामने आए। 1970 के दशक के आते-आते औद्योगिकीकरण की होड़ के कारण भौतिक एवं जैविक पर्यावरणीय क्षरण तथा प्रदूषण की समस्याएँ गंभीर रूप से दृष्टिगत होने लगी। परिणामस्वरूप पर्यावरण के एक अंतर्विषयी, बहुमुखी समस्याओं के रूप में उभर कर सामने आने लगा जिससे राजनीतिक क्षेत्र में क्षेत्रीय, राष्ट्रीय एवं वैश्विक स्तर पर चिंतन, मनन एवं कर्म की दिशा प्रशस्त किया।

इसी प्रकार पर्यावरण राजनीतिक विश्लेषण में एक नए सामाजिक सरोकार के मुद्दे के रूप में 1970 के दशक के बाद से एक महत्वपूर्ण अंग बनकर जुड़ गया। वैश्विक स्तर पर पर्यावरण के चिंतन एवं मनन ने राजनीति विज्ञान से इसे व्यापक आयाम प्रदान किया तथा इससे राजनीति विज्ञान को भी अध्ययन की दृष्टि से समाजोपयोगी तथा प्रासंगिक बनाने की दिशा प्रशस्त हुई।

वर्ष 1972 में संयुक्त राष्ट्र संघ ने अंतर्राष्ट्रीय पर्यावरण चेतना एवं पर्यावरण आंदोलन के प्रारंभिक विमर्श के रूप में स्टॉकहोम में विश्व के अधिकांश देशों का पहला पर्यावरण सम्मेलन आयोजित किया था। इस अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन में 119 देशों ने भाग लिया और 'एक ही धरती' के सिद्धांत व सर्वमान्य तरीके से मान्यता प्रदान करने का प्रण लिया। लगातार हो रहे पर्यावरणीय क्षरण, मौसम परिवर्तन तथा आपदाओं का नियंत्रण हेतु पर्यावरण संरक्षण के संदर्भ में यह प्रथम वैश्विक प्रयास था।

वर्ष 1983 में नार्वे के प्रधानमंत्री ग्रो हार्लेम ब्रटलैंड की अध्यक्षता में संयुक्त राष्ट्र महासंघ ने एक समिति का गठन किया, जिसका लक्ष्य विश्व में पर्यावरण की स्थिति का अध्ययन करना तथा वर्ष 2000 के बाद विकास की पूर्व समीक्षा करना था। इस रिपोर्ट का प्रकाशन वर्ष 1987 में 'हमारा साझा भविष्य' नाम से किया गया। ब्रटलैंड रिपोर्ट द्वारा बताए गए प्रस्ताव के मद्देनजर संयुक्त राष्ट्र द्वारा दो प्रस्ताव वर्ष 1989 में पारित किए गए। इन प्रस्तावों में 1992 में ब्राजील में एक अंतरराष्ट्रीय पर्यावरण सम्मेलन को आयोजित किए जाने

का आग्रह भी शामिल था। पर्यावरण एवं विकास पर संयुक्त राष्ट्र द्वारा आयोजित इस शिखर सम्मेलन को ही 'पृथ्वी सम्मेलन' या 'रियो सम्मेलन' के नाम से जाना जाता है।

इसी क्रम में वर्ष 2000 में जैव विविधता पर बुलाए गए कार्टाजेना प्रोटोकॉल को स्वीकार किया गया। इस प्रोटोकॉल के तहत आधुनिक जैव प्रौद्योगिकी के परिणाम स्वरुप उत्पन्न हुए सजीव संबंधित जीवो के सुरक्षित समायोजन, परिवहन एवं उपयोग को सुनिश्चित किया गया। जिससे जैव-विविधता एवं मानव स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़े।

हम कह सकते हैं कि पर्यावरणवाद कोई स्वाधीन राजनीतिक सिद्धांत नहीं अपितु एक विचारधारात्मक आंदोलन है जो पश्चिमी राजनीति में 1970 से शुरू होकर धीरे-धीरे पूरे विश्व में फैल गया। भारत भी इस विचारधारात्मक आंदोलन से अछूता ना रहा। भारतीय राजनीतिक चिंतन में पर्यावरणीय अध्ययन मुख्यतः तीन वैचारिक दृष्टिकोण प्रदर्शित करते हैं– गांधीवादी, मार्क्सवादी तथा उपयुक्त तकनीकी दृष्टिकोण।

गांधीवादी दृष्टिकोण पर्यावरणीय समस्याओं के लिए मानवीय मूल्यों में हो रहे परिवर्तन तथा आधुनिक उपभोक्तावादी जीवन शैली को जिम्मेदार मानते हैं। इस समस्या के समाधान हेतु वह प्राचीन भारतीय मूल्यों के पुनः स्थापना पर जोर देते हैं। यह दृष्टिकोण पूर्व औपनिवेशिक प्राचीन जीवन शैली की ओर लौटने का आवाहन करता है जो पर्यावरणीय तथा सामाजिक सौहार्द पर आधारित था।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण में पर्यावरणीय समस्याओं को आर्थिक तथा राजनीतिक पहलुओं से जोड़ा जाता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार समाज में संसाधनों का असमान वितरण पर्यावरणीय समस्याओं का मूल कारण है। अतः मार्क्सवादी दृष्टिकोण पर्यावरणीय सौहार्द स्थापित करने हेतु आर्थिक समानता पर आधारित समाज की संरचना को एक अनिवार्य शर्त मानता है।

उपयुक्त तकनीक दृष्टिकोण व्यावहारिक स्तर पर गांधीवादी तकनीकों तथा रचनात्मक कार्यों से बहुत मेल खाता है। दृष्टिकोण औद्योगिक और कृषि, बड़े तथा छोटे बांधों, प्राचीन तथा आधुनिक तकनीकी परंपराओं के मध्य सामंजस्य लाने का प्रयास करता है।

भारतीय पर्यावरण आंदोलनों को मुद्दे के आधार पर तीन वर्गों में बांटा जा सकता है। प्रथम वर्ग में जल संसाधनों से संबंधित आंदोलन आते हैं, जिनमें मुख्यतः नर्मदा टिहरी बचाओ आंदोलन, गंगा मुक्ति आंदोलन, चिल्का बचाओ आंदोलन तथा पानी पंचायत सम्मिलित है। इन आंदोलनों का उद्देश्य शुद्ध पेयजल की प्राप्ति, जल को प्रदूषण मुक्त करना तथा जल संरक्षण की परंपरागत तकनीकों को प्रयोग में लाना था। दूसरे वर्ग के अंतर्गत जल से संबंधित आंदोलन आते हैं इनमें बिश्नोई आंदोलन, चिपको आंदोलन, अपीको आंदोलन तथा साइलेंट

घाटी आंदोलन के नाम प्रमुख हैं। इन आंदोलनों का उद्देश्य जैविक विविधता की रक्षा करना, वनों तथा वृक्षों को संरक्षित करना एवं वन संसाधनों में आम आदमी की भागीदारी को सुनिश्चित करना था। तीसरे वर्ग के अंतर्गत जमीन से जुड़े आंदोलन आते हैं, इनमें बीज बचाओ आंदोलन तथा नर्मदा बचाओ आंदोलन प्रमुख थे। आंदोलन का उद्देश्य मृदा की उर्वरा शक्ति को बढ़ाना, मिट्टी के कटाव को रोकने तथा विस्थापित लोगों के अधिकारों के लिए संघर्ष करना था।

भारत में पर्यावरण आंदोलन की उत्पत्ति बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में देखी जा सकती है। जब लोगों द्वारा औपनिवेशिक काल के दौरान वन संसाधनों के व्यवसायीकरण के खिलाफ आंदोलन किया गया था। सर्वप्रथम 1730 में बिश्नोई आंदोलन के दौरान 363 लोगों ने वनों की सुरक्षा के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी थी। आंदोलनों का नेतृत्व अमृता देवी द्वारा किया गया था। वर्ष 1973 में पेड़ों की सुरक्षा और संरक्षण के लिए भारी संख्या में महिलाओं ने एकत्रित होकर वृक्षों से आलिंगन करते हुए चारों ओर मानवी घेरा बना लिया, जिससे कि वृक्षों को काटने से रोका जा सके। यह घटना ऐतिहासिक रूप से चिपको आंदोलन के नाम से जानी जाती है। सुंदरलाल बहुगुणा और चंडी प्रसाद भट्ट चिपको आंदोलन के प्रमुख नेता थे। वर्ष 1983 में चिपको आंदोलन के तर्ज पर कर्नाटक में उत्तर कन्नड़ क्षेत्र में अप्पिको आंदोलन शुरुआत हुई। इस आंदोलन का नेतृत्व पांडुरंग हेगड़े ने किया था।

नर्मदा बचाओ आंदोलन को पर्यावरण आंदोलनों की परिपक्वता का उदाहरण माना जाता है। इसमें पहली बार पर्यावरण तथा विकास के संघर्ष को राष्ट्रीय स्तर पर चर्चा का विषय बनाया। इस आंदोलन में न सिर्फ विस्थापित लोगों ने बल्कि वैज्ञानिको, गैर सरकारी संगठनों तथा आम जनता ने भी भाग लिया। मेधा पाटकर इस आंदोलन की प्रमुख नेता रही। जिन्हें अरूंधती रॉय, बाबा आमटे तथा आमिर खान का समर्थन मिला। उत्तर प्रदेश के सोनभद्र जिले के जनजाति महिलाओं द्वारा भी नर्मदा बचाओ आंदोलन की तर्ज पर जिले में कनहर बचाओ आंदोलन की शुरुआत किया गया था। यह आंदोलन 'हमको जिंदा रहने दो, कनहर नदी को बहने दो' के नारे को लेकर काफी लोकप्रिय हुआ। विस्थापितों के अधिकारों की माँगों को लेकर सोनभद्र की आदिवासी महिलाओं ने इस आंदोलन में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया।

स्पष्ट है कि पर्यावरण आंदोलनों ने ना सिर्फ जनमानस को उसके प्राकृतिक अधिकारों के प्रति जागरूक किया अपितु नीति नियंताओं को भी दबाव समूह के माध्यम से पर्यावरण मूल्यों के प्रति सजग एवं संवेदनशील बनाने हेतु प्रेरित किया है। इन आंदोलनों ने पर्यावरणीय अध्ययन को राजनीतिक चिंतन से भी एक कदम आगे बढ़ाते हुए राजनीतिक भागीदारी और एक राजनीतिक मुद्दे के रूप में स्थापित किया है।

स्थानीय अथवा क्षेत्रीय भागीदारी से लेकर अंतरराष्ट्रीय सम्मेलनों तक आज पर्यावरण राजनीतिक विमर्श का केंद्र बिंदु बना हुआ है। वर्तमान में पर्यावरण से जुड़े कई नवीन मुद्दे राजनीतिक चिंतन के पास में उभर कर सामने आ रहे हैं। इनमें पर्यावरण और विकास, पर्यावरण और मानवाधिकार, पर्यावरण और नैतिकता, पर्यावरण व मानव, पर्यावरण एवं न्याय आदि प्रमुख हैं। इसी प्रकार से सुरक्षा के नए आयाम जैसे हरित सुरक्षा, हरित राजनीति, हरित दल की बात भी की जा रही है। ऐसे सभी मुद्दे एक राजनीतिक विश्लेषण को अंतर्विषयी एवं भविष्योन्मुखी बनाते हैं तथा राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शक्ति की राजनीति से सहयोग की राजनीति के लिए राज्य को प्रेरित भी कर रहे हैं।

संदर्भ :

1. राजनीतिक चिंतन के आचार्य (प्लेटो से मेकियावेली तक)
2. द ऑक्सफोर्ड कम्पेनियन टू पॉलिक्स इन इंडिया (निरजा गोपाल जयाल)
3. राजनीतिक– चिंतन की रूपरेखा (ओम प्रकाश गाबा)
4. भारतीय राजनीतिक चिंतन (डॉ. हेमलता वर्मा)
5. पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन (जीवन मेहता)
6. पॉलिटिकल आइडियाज (यू.एन.घोषाल)

■

प्राकृतिक संसाधनों का अत्यधिक दोहन

डॉ. कमलेश दुबे
सहायक प्राध्यापक (राजनीति शास्त्र)
शासकीय पं.ज.ला.ने कला एवं विज्ञान स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
बेमेतरा, जिला-बेमेतरा (छ.ग.)

प्राचीन काल में मानव जीवन प्रकृति के मामले में बहुत करीब था। औद्योगिक क्रांति के बाद बड़े और भारी उद्योगों की स्थापना के साथ उद्योगों के लिए कच्चे माल की आवश्यकता को पूरा करने के लिए प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध उपयोग किया जाने लगा। विज्ञान और तकनीकी की सहायता से मनुष्य, आबादी की बढ़ती जरूरतों को पूरा करने के लिए प्राकृतिक संसाधनों का बुरी तरीके से दुरुपयोग और प्रकृति के नियमों का उल्लंघन करने लगा। प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक शोषण ने मानव जाति के अस्तित्व के लिए एक बड़ा संकट पैदा कर दिया है। बड़े पैमाने पर औद्योगिक कचरे के कारण पानी और हवा जैसे प्राकृतिक संसाधन प्रदूषित हो गये है। पर्यावरण के दोहन से हो रहा नुकसान स्पष्ट रूप से हमारे सामने है और इससे पीड़ित लोगों ने इसका विरोध शुरू कर दिया है। अकादमिक अध्ययनों ने दिखाया है कि भारतीय शहरों में प्रदूषण की दर दुनिया में सर्वाधिक है। इस बीच गरीबों का पर्यावरणवाद फिर से उभरता दिख रहा है। आदिवासियों (और अन्य समूहों) को खुली खदानों से बेदखल किया जा रहा है और औद्योगिक प्रदूषण के कारण किसानों का जीवन-यापन खतरे में है।[1]

जैसे-जैसे औद्योगिक युग आगे बढ़ता गया पर्यावरण में परिवर्तन आने लगा। करीब 150 वर्षों में औद्योगिक विकास में प्रकृति का जितना दोहन हुआ है और जितनी शीघ्रता के साथ दोहन हुआ है उसी के कारण मानव और पर्यावरण का संतुलन बिगड़ने लगा है और इतना असंतुलित हो चुका है कि अनेक स्तरों पर इसके सन्दर्भ में अब चेतावनी दी जाने लगी है।

पिछले 30 वर्षों में कोई देश ऐसा नहीं है जिसने पर्यावरण को संकट में डाले बिना अपने नागरिकों की बुनियादी जरूरतों को पूरा किया हो। यदि संपन्न देशों की बात करें जहाँ

रहने वाले लोगों के पास पर्याप्त सुख-सुविधाएँ और उन्हें पूरा करने के साधन मौजूद हैं उन्होंने भी अपने हिस्से से कहीं ज्यादा प्राकृतिक संसाधनों का दोहन किया है। हमें बचपन से यह पढ़ाया जाता रहा है कि प्रकृति द्वारा दिए संसाधन सीमित हैं यदि हम उनका विवेकपूर्ण तरीके से इस्तेमाल नहीं करेंगे तो वो जल्द ही खत्म हो जाएंगे पर शायद यह बात देशों के नीति-निर्माताओं को नहीं पता है, जो संसांधनों का प्रबंधन उचित तरीके से करने में असमर्थ रहे हैं।

विकास की दौड़ में हम सदैव ये भूल जाते हैं कि पानी, वायु, खनिज, जंगल, तेल आदि जैसे सभी प्राकृतिक संसाधन पृथ्वी पर सीमित मात्रा में ही उपलब्ध हैं। हमें समय बीतने के साथ दुर्लभ हो जाने वाले प्राकृतिक संसाधनों का संरक्षण करने की आवश्यकता हैं। उनकी उपभोग गति उनके प्राकृतिक पुनःपूर्ति की गति से कही अधिक है। बढ़ते प्रदूषण, ग्लोबल वार्मिंग, औद्योगीकरण और अन्य प्रक्रियाओं ने प्राकृतिक संसाधनों की कमी को बढ़ावा दिया है। खनन के नाम पर पहाड़ों की बलि दी जा रही है। इससे कई वन्य जीवों की प्रजातियां विलुप्ति की कगार पर हैं। अत्यधिक खनन से भूमि कटाव, धूल और नमक से भूमि के उपजाऊपन में परिवर्तन, जल का खारा होना, समीपस्थ क्षेत्रों और वन्य क्षेत्रों में शोर जैसी समस्याएँ पर्यावरण के लिए चिंता का विषय हैं।[2]

प्राकृतिक संसाधन का अर्थ और इसके प्रकार

लोगों द्वारा उपयोग किए जाने वाले प्राकृतिक संसाधन को प्राकृतिक पर्यावरण से प्राप्त हवा, पानी, लकड़ी, तेल, पवन ऊर्जा, लौह, कोयले आदि के किसी भी रूपों में परिभाषित किया जा सकता हैं। ये प्रत्यक्ष रुप से पर्यावरण से प्राप्त किए जाते हैं। मूल रूप से दो प्रकार के प्राकृतिक संसाधन होते हैं—नवीकरणीय संसाधन और अनवीकरणीय संसाधन, नवीकरणीय संसाधन वे संसाधन होते हैं जिनका प्रयोग बार-बार किया जा सकता है। ये खुद को नवीनीकृत कर सकते हैं और कभी समाप्त नहीं होते जैसे मिट्टी, सूरज की रोशनी, पानी इत्यादि। हालांकि कुछ परिस्थितियों में पानी, मृदा या अन्य संसाधनों को आसानी से नवीकरणीय नहीं किया जा सकता। अनवीकरणीय संसाधन वे संसाधन होते हैं जो नवीकृत नहीं होते या आमतौर पर नवीकृत होने के लिए बहुत लंबा समय लेते हैं। इन संसाधनों को एक बार समाप्त होने पर नवीनीकृत नहीं किया जा सकता है। जैसे कोयला यह एक अनवीकरणीय संसाधन है। जब हम कोयले का अत्यधिक उपयोग करते हैं, तो ये पर्यावरण से और भी कम होता जाता है। यद्यपि कुछ नवीकरणीय संसाधन ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे वो प्राकृति में हमेशा के लिए रहेगें, परन्तु इनमें से अधिकांश प्राकृतिक संसाधन ऐसे होते हैं जो सीमित होते हैं और अंततः भविष्य में समाप्त हो जाने की संभावना रखते हैं। कुछ

संसाधन पुनर्नवीनीकरण करने में सक्षम होते हैं और कुछ सामग्री के लिए विकल्प की उपलब्धता संसाधनों की आपूर्ति को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक के रुप में जाने जाते हैं। जीवाश्म ईंधन (कोयला, तेल और गैस) जैसे अनवीकरणीय संसाधनों का पुनर्नवीनीकरण नहीं किया जा सकता। वर्तमान युग में विकास की विभिन्न गतिविधियों के कारण प्राकृतिक संसाधनों का भेदभावपूर्ण उपयोग एवं इसका विदोहन बेरोक-टोक जारी है। दूसरी ओर जनसंख्या वृद्धि के कारण अवसंरचनाओं के त्वरित विकास की माँग लगातार बढ़ रही है। बढ़ती जनसंख्या के लिये अधिक सुविधाओं की आवश्यकता और घटते प्राकृतिक संसाधनों की इस पृष्ठभूमि में दुर्लभ होते जा रहे प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण की आवश्यकता पहले से बहुत अधिक बढ़ गई है। खनिज संसाधनों के खनन और प्रसंस्करण के कुछ प्रमुख पर्यावरणीय प्रभाव इस प्रकार हैं : 1. प्रदूषण 2. भूमि का विनाश 3. असंतुलन 4. शोर 5. ऊर्जा 6. जैविक पर्यावरण पर प्रभाव 7. खनिज संसाधनों की दीर्घकालिक आपूर्ति।

किसी एक की नहीं, सबकी साझा धरोहर है प्रकृति

यदि इस अध्ययन में शामिल भारत सहित 148 देशों के आंकड़ों को देखें तो अभी भी अमीर और गरीब देशों के बीच इस मामले में असमानता व्याप्त है। एक तरफ अमेरिका, यूके और कनाडा जैसे साधन संपन्न देश हैं जहाँ बसने वाले लोगों को सभी बुनियादी सुविधाएँ तो प्राप्त है पर उन्होंने अपने और प्रकृति के बीच सामंजस्य की जो सीमा है, उसे पार कर लिया है, हालांकि उसकी तुलना में उन्हें उतना सामाजिक लाभ नहीं पहुँचा है। जबकि दूसरी तरफ भारत, बांग्लादेश, श्रीलंका और मालावी जैसे देश है जिन्होंने इस सीमा की मर्यादा को तो बनाए रखा है पर वो अपने नागरिकों की बुनियादी जरूरतों जैसे स्वास्थ्य, स्वच्छता, शिक्षा, समानता, ऊर्जा, रोजगार, गरीबी और जीवन संतुष्टि को हासिल करने के लिए अभी भी संघर्ष कर रहे हैं। शोध के अनुसार यदि विकास की यह जो गति है वो इसी तरह जारी रहती है तो अगले तीन दशकों में भी कोई देश ऐसा नहीं होगा जो अपनी जरूरतों और प्रकृति के बीच सामंजस्य स्थापित कर सकेगा। यदि भारत से जुड़े आंकड़ों पर गौर करें तो पर्यावरण के जो सात संकेतक चुने गए है उसमें से कार्बन डाइऑक्साइड उत्सर्जन के मामले में भारत ने निर्धारित सीमा को पार कर लिया है।

गौरतलब है कि प्रति व्यक्ति हर वर्ष कार्बन उत्सर्जन के लिए 1.6 टन की सीमा तय की गई है जबकि भारत हर वर्ष प्रतिव्यक्ति 1.7 टन कार्बन उत्सर्जन कर रहा है। वहीं यदि लोगों की बुनियादी जरूरतों की बात करें तो भारत में सिर्फ रोजगार ही इकलौता ऐसा क्षेत्र है जिसमें उसने निर्धारित सीमा तक विकास किया है।

हाल के कुछ वर्षों में यह पाया गया है कि भारत वर्ष ही नहीं अपितु पूरे विश्व में पृथ्वी की सतह का तापमान बढ़ रहा है। इस जलवायु परिवर्तन का मुख्य कारण मानवीय प्रक्रियाएँ समझी जा रही है। मानव द्वारा पर्यावरण के अंधाधुंध दोहन से पृथ्वी के पारिस्थितिक तंत्र को लगातार क्षति पहुँच रही है। संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यूएनईपी) के अनुसार हर तीन सेकंड में, दुनिया एक फुटबॉल पिच को कवर करने के लिए पर्याप्त जंगल को खो देती है और पिछली शताब्दी में हमने अपनी आधी आर्द्रभूमि को नष्ट कर दिया है। यूएनईपी ने कहा है कि हमारी 50 प्रतिशत प्रवाल भित्तियाँ पहले ही नष्ट हो चुकी हैं और 90 प्रतिशत तक प्रवाल भित्तियाँ 2050 तक नष्ट साथ पशु-पक्षी पेड़-पौधों का रहना भी अत्यंत आवश्यक है। आज जीव जंतुओं तथा पेड़ पौधों की कई प्रजातियां विलुप्त होने की कगार पर हैं। इसलिए पारिस्थितिक तंत्र के प्राकृतिक वैभव की रक्षा करना और पृथ्वी पर प्रत्येक जीवित प्राणी के साथ सह-अस्तित्व की एक प्रणाली विकसित करना आज के दौर की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है।[4]

वैज्ञानिकों का यह मानना है कि जलवायु परिवर्तन के कारण कृषि व जल संसाधनों पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है। क्योंकि जलवायु परिवर्तन के साथ अनावृष्टि (सूखा), जंगलों में आग व जल की गुणवत्ता में गिरावट की प्रबल सम्भावनाएँ रहती हैं। पिछले कुछ दशकों से भारत में वर्षा जल की मात्रा में गिरावट दर्ज की गई है। जिसके कारण भूजल संभरण में कमी व कृषि पर विपरीत प्रभाव पड़ा है। साथ ही यह भी देखा गया है कि भारी वर्षा की आवृत्ति निरंतर बढ़ती जा रही है जिसके फलस्वरूप अचानक बाढ़ आना व फसलों का नुकसान संभावित है। यदि वर्ष 2019 का ही उदारण ले लिया जाए तो यह प्रतीत होता है कि इस वर्ष सामान्य से बहुत अधिक वर्षा हुई है। परन्तु आंकड़ों के आधार पर यह सामान्य से केवल 5 प्रतिशत अधिक है।

भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। कृषि व कृषि से सम्बंधित व्यवसाय काफी हद तक जलवायु पर निर्भर करते हैं अर्थात चरम जलवायु परिस्थितयों जैसे असामयिक तापमान में वृद्धि, बहुत अधिक या बहुत कम जल वर्षा (बाढ़/सूखा) कृषि उत्पाद पर विपरीत प्रभाव डालती हैं। भारत में हिमालय व संलग्न क्षेत्र अपने ग्लेशियर के कारण नदियों जैसे गंगा, यमुना व ब्रह्मपुत्र आदि का मुख्य जल स्रोत होता है परन्तु निरंतर जलवायु परिवर्तन के करण ग्लेशियर का क्षेत्रफल कम होता जा रहा है। जिसके फलस्वरूप सतही जल कि उपलब्धता निरंतर कम होती जा रही है। अतः कृषि उत्पादकता बनाए रखने के लिए सिंचाई हेतु अन्य संसाधन जैसे भूजल का अधिक निष्कर्षण किया जाना स्वाभाविक है। परन्तु भूजल स्तर में निरंतर गिरावट होने के कारण किसानों व खाद्य सुरक्षा के लिए निरंतर एक चुनौती बनी रहती है।

जिस तरह हम संसाधनों का दोहन कर रहे हैं उसमें तत्काल बदलाव न किया तो उसका पर्यावरण पर व्यापक असर पड़ेगा जबकि उसकी तुलना में जीवनस्तर में उतनी तेजी से सुधार नहीं होगा। इस बारे में शोध से जुड़े प्रमुख शोधकर्ता एंड्रयू फैनिंग ने बताया कि हर किसी को स्वस्थ, सुखी और सम्मान के साथ जीवन बिताने के लिए पर्याप्त संसाधनों की आवश्यकता होती है, लेकिन साथ ही हमें यह भी सुनिश्चित करने की जरुरत है कि वैश्विक संसाधनों का दोहन इतना भी अधिक न हो कि जलवायु और पर्यावरण के विघटन का कारण बन जाएं।[5]

वनोन्मूलन—रासायनिक कीटनाशकों एवं उर्वरकों का प्रयोग—निरंतर बढ़ती हुई आबादी की ज़रूरतों को पूरा करने के लिये वृक्ष काटे जा रहे हैं। आवास, खेती, लकड़ी और अन्य वन संसाधनों की चाह में वनों की अंधाधुंध कटाई हो रही है जिससे पृथ्वी का हरित क्षेत्र तेजी से घट रहा है और साथ ही जलवायु के परिवर्तन में तेजी आ रही है। पिछले कुछ दशकों में रासायनिक उर्वरकों की माँग इतनी तेजी से बढ़ी है कि आज विश्व भर में 1000 से भी अधिक प्रकार की कीटनाशी उपलब्ध हैं। जैसे-जैसे इनका उपयोग बढ़ता जा रहा है वैसे-वैसे वायु, जल तथा भूमि में इनकी मात्रा भी बढ़ती जा रही है, जो कि पर्यावरण को निरंतर प्रदूषित कर घातक स्थिति में पहुँचा रहे हैं।

1. शहरीकरण—उन्नीसवीं सदी में हुई औद्योगिक क्रांति की ओर सभी का ध्यान आकर्षित हुआ। रोज़गार पाने के लिये गाँवों में स्थित आबादी शहरों की तरफ प्रस्थान करने लगी और शहरों का आकार दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा। मुंबई, कोलकाता, दिल्ली, चेन्नई जैसे महानगरों में उनकी क्षमता से कई गुना अधिक आबादी निवास कर रही है, जिससे शहरों के संसाधनों का असीमित दोहन हो रहा है। जैसे-जैसे शहर बढ़ रहे हैं, वहाँ पर उपलब्ध भू-भाग दिन-प्रतिदिन ऊँची-ऊँची इमारतों से ढँकता जा रहा है, जिससे उस स्थान की जल संवर्धन क्षमता कम हो रही है तथा बारिश के पानी से प्राप्त होने वाली शीतलता में भी कमी हो रही है, जिससे वहाँ के पर्यावरण तथा जलवायु पर निरंतर प्रभाव पड़ रहा है।[6]

2. औद्योगिकीकरण—जलवायु परिवर्तन में औद्योगिकीकरण की बड़ी भूमिका है। विभिन्न प्रकार की मिलें वातावरण में सल्फर डाइऑक्साइड, नाइट्रोजन डाइऑक्साइड, कार्बन डाइऑक्साइड तथा अनेक प्रकार की अन्य ज़हरीली गैसें और धूलकण हवा में छोड़ती हैं, जो वायुमंडल में काफी वर्षों तक विद्यमान रहती है। यह ग्रीन हाउस प्रभाव, ओज़ोन परत का क्षरण तथा भूमंडलीय तापमान में वृद्धि जैसी समस्याओं का कारण बनते हैं। वायु, जल एवं भूमि प्रदूषण भी औद्योगिकीकरण की ही देन हैं।[7]

भारत की जनसंख्या विश्व जनसंख्या का लगभग 17 प्रतिशत है जबकि क्षेत्रफल में भारत विश्व क्षेत्रफल का केवल 2.4 प्रतिशत ही है। प्राप्त आंकड़ों के अनुसार 1950-51 से अब तक, भारत में खाद्यानों का उत्पादन व सिंचित प्रतिशत क्षेत्रफल में समानुपातिक सम्बन्ध पाया गया है। अतः खाद्यानों के उत्पादन में जल संसाधनों की भूमिका बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। खाद्य एवं कृषि संगठन (एफ.ए.ओ) के अनुसार विश्व में कुल जल प्रयोग का 70 प्रतिशत ही कृषि के लिए उपयोग में लाया जाता है परन्तु भारत में यह आंकड़ा 1990 में 87 प्रतिशत व 2010 में 85 प्रतिशत है। जलवायु परिवर्तन के कारण ग्लेशियर कम होते जा रहे हैं अतः सिंचाई हेतु सतही जल का विस्तार लगभग नगण्य है। ऐसी परिस्थिति में, विशाल क्षेत्रफल को सिंचित करने के लिए भूजल दोहन ही एक मात्र विकल्प बच जाता है जिसके फलस्वरूप देश के अधिकतर हिस्सों में भूजल स्तर में गिरावट दर्ज की गई है। वर्षा की अनियमितता, इस समस्या को और प्रज्ज्वलित कर रही है अतः सिंचाई के लिए अधिक ऊर्जा व धन का व्यय होना निश्चित है। प्रायः जन समुदाय में यह धारणा रहती है कि जल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है जिसके फलस्वरूप इस संसाधन का बहुत दुरुपयोग हुआ है। भूजल के अति दोहन से ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है कि भूजल स्तर निरंतर गिरता जा रहा है। वह दिन दूर नहीं जब जल के अभाव में खाद्यानों के उत्पादन को लेकर एक विकट समस्या पैदा हो जाएगी, ऐसी विकट स्थिति से बचने की लिए उपलब्ध जल संसाधनों का प्रबंधन अति आवश्यक है। इस विषय में कुछ सुझाव प्रस्तुत किए गए हैं जिनको कार्यान्वित कर खाद्यानों के उत्पादन में स्थिरता कायम रह सकती है।

सन 1950-51 के आंकड़ों के अनुसार भारत में कुल बुआई क्षेत्रफल 118.75 मिलियन हेक्टेयर था जो कि सन 2010-11 में 141.56 मिलियन हेक्टेयर हो गया था। इस प्रकार से 60 वर्षों में बुआई क्षेत्रफल में लगभग 19.21 प्रतिशत कि वृद्धि दर्ज हुई है। जब कि इसी दौरान जनसंख्या के क्षेत्र में यह वृद्धि 235 प्रतिशत आंकी गई है। अतः बुआई क्षेत्रफल वृद्धि दर व जनसंख्या वृद्धि दर में बहुत अधिक अंतर है। जिसके फलस्वरूप, जलवायु परिवर्तन व अन्य विपरीत परस्थितियों के साथ साथ जनसंख्या वृद्धि, खाद्यानों की आपूर्ति पर लगातार दबाव बनाए रखती है।

जिस तरह हम संसाधनों का दोहन कर रहे हैं उसमें तत्काल बदलाव न किया गया तो उसका पर्यावरण पर व्यापक असर पड़ेगा जबकि उसकी तुलना में जीवनस्तर में उतनी तेजी से सुधार नहीं होगा। इस बारे में प्रमुख शोधकर्ता एंड्रयू फैनिंग ने बताया कि हर किसी को स्वस्थ, सुखी और सम्मान के साथ जीवन बिताने के लिए पर्याप्त संसाधनों की आवश्यकता होती है, लेकिन साथ ही हमें यह भी सुनिश्चित करने की जरुरत है कि वैश्विक संसाधनों का दोहन इतना भी अधिक न हो कि जलवायु और पर्यावरण के विघटन का कारण बन जाएँ।

शोध से पता चला है कि 30 साल पहले की तुलना में कहीं ज्यादा देश अपने नागरिकों को बुनियादी सुविधाएँ देने के करीब हैं, जो कि एक अच्छी खबर है। हालांकि समानता और लोकतांत्रिक गुणवत्ता जैसे लक्ष्यों के मामले में हम अभी भी पिछड़े हुए हैं। वहीं बुरी खबर यह है कि पहले की तुलना में कहीं ज्यादा देश अब संसाधनों का कहीं ज्यादा तेजी से दोहन कर रहे हैं। चिंता की बात तो यह है कि अपनी बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिए देश अपने हिस्से के संसाधनों की तुलना में कहीं ज्यादा उपभोग कर रहे हैं। सीधे तौर पर कहें तो उन्हें अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए जितने संसाधनों का उपभोग करना चाहिए वो उससे कहीं ज्यादा खर्च कर रहे हैं, जो कि पर्यावरण के लिए बड़ा खतरा है।[8]

संयुक्त राष्ट्र जलवायु परिवर्तन फ्रेमवर्क सम्मेलन एक अंतर्राष्ट्रीय समझौता है। जिसका उद्देश्य वायुमंडल में ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन को नियंत्रित करना है। वर्ष 1995 से लगातार इसकी वार्षिक बैठकों का आयोजन किया जाता है। इसके तहत ही वर्ष 1997 में बहुचर्चित क्योटो समझौता हुआ और विकसित देशों (एनेक्स-1 में शामिल देश) द्वारा ग्रीनहाउस गैसों को नियंत्रित करने के लिये लक्ष्य तय किया गया। क्योटो प्रोटोकॉल के तहत 40 औद्योगिक देशों को अलग सूची एनेक्स-1 में रखा गया है।[9]

पेरिस समझौता जलवायु परिवर्तन से निपटने के लिये एक अंतर्राष्ट्रीय समझौता है। ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जन को कम करने के लक्ष्य के साथ संपन्न 32 पृष्ठों एवं 29 लेखों वाले पेरिस समझौते को ग्लोबल वार्मिंग को रोकने के लिये एक ऐतिहासिक समझौते के रूप में मान्यता प्राप्त है। सम्मेलन में लगभग 200 देशों के प्रतिनिधियों ने उन गरीब देशों की मदद करने के लिये एक घोषणा का समर्थन किया जो जलवायु परिवर्तन के प्रभावों से जूझ रहे हैं। इसमें पेरिस जलवायु परिवर्तन समझौते के लक्ष्यों के अनुरूप पृथ्वी पर वैश्विक तापन के लिये उत्तरदायी ग्रीनहाउस गैसों की कटौती के लिये 'तत्काल आवश्यकता' का आह्वान किया गया।)

जलवायु परिवर्तन व निरंतर बढ़ती जनसंख्या उपलब्ध संसाधनों पर अतिरिक्त दबाव डाल रहें है। अतः खाद्यानों के उत्पादन में वृद्धि के लिए अधिक उपज वाली किस्में व बेहतर सस्य वैज्ञानिक पद्तियों के अलावा जल संसाधनों के उचित प्रबंधन की भी अति आवश्यकता है। जल संसाधन प्रबंधन द्वारा उन क्षेत्रों में सिंचाई जल उपलब्ध कराने के प्रयास करने चाहिए जहाँ फसलों के लिए जल की उपलब्धता नहीं है। कम वर्षा क्षेत्रों में असामयिक अति वर्षा की घटनाओं को देखते हुए उन क्षेत्रों में जल संचयन के लिए तालाबों व झीलों का निर्माण किया जाना चाहिए। देश के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में जल उपलब्धता के आधार पर ही फसलों

की बुआई का समय व फसलों के प्रकार का चयन आवश्यकतानुसार करना चाहिए। इस प्रकार के सामजस्य से जलवायु परिवर्तन व जल अभाव की स्थिति के विपरीत प्रभाव को भी कम किया जा सकता है। अतः जल संरक्षण को ध्यान में रखते हुए जल संसाधन प्रबंधन के प्रभावी व दक्ष समाधान की आवश्यकता है। इस प्रकार की योजनाएँ सिंचाई जल उपयोग दक्षता, कम जल अपव्यय व जल की गुणवत्ता के संरक्षण को केंद्रित कर सुनियोजित व प्रभावी ढंग से कार्यान्वित किया जाना चाहिए। योजनाओं को अधिक प्रभावी बनाने के लिए जन भागीदारी का होना अति आवश्यक है जिसके फलस्वरूप भारत के किसानों की आय में बढ़ोतरी के साथ-साथ जलवायु परिवर्तन के प्रभाव को कम कर खाद्य सुरक्षा का लक्ष्य भली-भांति प्राप्त किया जा सकता है।

संसाधनों के दोहन को कम करने के संभावित समाधान इस प्रकार हैं:—हम पेट्रोल और बिजली का उपयोग कम करके जीवाश्म ईंधन की रक्षा कर सकते हैं। कार पूलिंग का उपयोग कर तथा उच्च ईंधन लाभ वाले वाहनों और ऊर्जा स्टार उपकरणों को खरीद कर हम जीवाश्म ईंधन के संरक्षण में अपना योगदान दे सकते हैं। पानी को स्वच्छ रखें: जल एक नवीकरणीय संसाधन है, परन्तु जनसंख्या वृद्धि के कारण बड़ी आबादी के लिए स्वच्छ पानी की आपूर्ति करना मुश्किल हो जाता है। बारिश के पानी को इकट्ठा करके या पानी के रिसाव की जाँच करके हम पानी की समस्या को कम करने में अपना योगदान दे सकते हैं। पेड़ और वनों को संरक्षित करें: अकेले पेपर की आवश्यक्ता को पूरा करने के लिए प्रति वर्ष लगभग 4 बिलियन पेड़ कटे जाते हैं इसीलिए इस प्रकार के वनों की कटाई को रोकना अति आवश्यक है। कपड़े का पेपर की जगह अधिक उपयोग करके, अपने पसंदीदा समाचार पत्र की ऑनलाइन सदस्यता लेकर हम पेड़ों को बचाने में अपना बहुत बड़ा योगदान दे सकते हैं। इसके अलावा स्थानीय जंगल की यात्रा के दौरान कैम्पफायर की सुरक्षा को सुनिश्चित किया जाना चाहिए। तटीय पारिस्थितिकी तंत्रों की रक्षा करके: जैव विविधता बनाए रखने के लिए तटीय पारिस्थितिकी तंत्र बहुत आवश्यक है तथा ये मछली पकड़ने और पर्यटन उद्योग जैसे उद्योगों के लिए भी बेहद मूल्यवान हैं। समुद्री भोजन उपभोक्ताओं को यह ध्यान रखना चाहिए कि उनके खरीद निर्णय पर्यावरण को कैसे प्रभावित कर सकते हैं क्योंकि समुद्री चट्टान बहुत संवेदनशील होती हैं इसलिये इसके समीप गोताखोरी करने वाले को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि समुद्री चट्टानों को कोई नुकसान ना पहुँचे।

निष्कर्ष

हम सब जानते हैं कि प्राकृतिक संसाधनो में हो रही कमी की समस्या वास्तव में बहुत गंभीर है। जनसंख्या में वृद्धि और जीवन की सभी सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए इन

संसाधनों का अत्यधिक उपभोग, इन संसाधनों की कमी का प्रमुख कारण बन रहा है। वनों की कटाई, अधिक खपत और संसाधनों की बर्बादी जैसी गतिविधियां इस प्रकार की समस्याओं को बढ़ावा देती हैं। अगर हमने इन समस्याओं पर जल्द से जल्द ध्यान नहीं दिया तो ये हमारे पृथ्वी के अस्तित्व और पर्यावरण पर भी बुरा प्रभाव डाल सकती हैं। इसके लिये सौर और पवन ऊर्जा जैसे ऊर्जा संसाधनों का वैकल्पिक उपयोग पर जोर दिया जाना चाहिए। हमें सतत विकास की अवधारणा को गले लगाना चाहिए। भविष्य की पीढ़ियों की जरूरतों के साथ समझौता किए बिना वर्तमान की जरूरतों के पूरा करने को दीर्घकालिक विकास के रूप में जाना जाता है। हमें संसाधनों का इस तरह से उपयोग करना चाहिए कि ये वर्तमान की जरूरतों को पूरा करने के साथ-साथ भविष्य की पीढ़ियों के लिए भी उचित मात्रा में शेष रहे।[10]

विकास के लिए जिंदा रहना जरूरी है और जिंदा रहने के लिए पर्यावरण जरूरी है, लेकिन किसी भी देश के अजेंडे में पर्यावरण प्राथमिक नहीं है। प्रकृति में जो भी संसाधन हैं, उनका दोहन बड़े पैमाने पर सक्षम लोगों द्वारा किया जा रहा है। आवश्यकता भर इस्तेमाल से प्रकृति का नुकसान नहीं होता, लेकिन ज्यादा से ज्यादा पाने की चाहत में हम इस पृथ्वी को बर्बाद कर रहे हैं। पहले की अवधारणा 'सादा जीवन उच्च विचार' शायद अब प्रासंगिक नहीं रहा। विज्ञान का प्रयोग मात्र कुछ लोगों को ज्यादा से ज्यादा आरामदायक जीवन देना रह गया है। वह भी उन लोगों के लिए उपलब्ध है, जो उसकी कीमत चुका सकते हैं। कुछ प्रतिशत लोगों के लिए पर्यावरण की बलि दी जा रही है।[11]

■

आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल में प्रकृति

कसीरा जहाँ

आर॰जी॰ बरुवा महाविद्यालय

गुवाहाटी

जन्मावस्था से ही मनुष्य प्रकृति की गोद में पलता और बढ़ता हैं। प्रकृति प्रारम्भ से ही मनुष्य की सहज वृतियों का समाधान करती है और इस प्रकार अव्यक्त रूप में मानव के साथ प्रकृति का संबंध स्थापित हो जाता है। मानवी क्रियाकलापों में प्रकृति अपने अनेक रूपों में झलकती है। मानव के प्रत्येक कार्यों में प्रकृति का सहयोग होता है। मनुष्य के दो रूप पाये जाते हैं-पहला स्थूल या दैहिक और दूसरा सूक्ष्म या काल्पनिक। प्रकृति इन दोनों रूपों में ही मनुष्य के लिए नितांत उपयोगी और आवश्यक है। दैहिक या स्थूल रूप में प्रकृति के बिना मनुष्य का अस्तित्व ही असंभव है। प्रकृति द्वारा प्राप्त जल,वायु,अग्नि और वनस्पतियाँ जीव जगत के लिए परमावश्यक हैं। मानव जीवन प्रकृति के उपादानों पर ही आश्रित है। नीर, अग्नि, भोजन के लिए अन्न, वस्त्र के लिए कपास, रहने के लिए मिट्टी और लकड़ी भी हम प्रकृति से ही प्राप्त करते हैं। वहीं मानव के सूक्ष्म या काल्पनिक रूप का संबंध ज्ञानेन्द्रियों से और इसी से कल्पना, विभावना और रागात्मक वृतियों से है। मानवीय कल्पना, विभावना और रागात्मकता उसकी मूल अंतःवृतियों और आसपास के वातावरण पर निर्भर है। मनुष्य की भांति प्रकृति के भी दो रूप है गोचर और अगोचर। गोचर रूप में मनुष्य अपनी इंद्रियों के साधारण स्पर्श से अनुभूति कर सकता है। उदाहरणस्वरूप फूलों का खिलना, नदियों का बहना आदि। परंतु अगोचर रूप दर्शन के लिए मनुष्य को कर्मेन्द्रियों के स्थान पर ज्ञानेन्द्रियों की, कल्पना तथा अनुभूतियों का उपयोग करना पड़ता है। एक भावुक मानव प्रकृति की सुंदरता पर मुग्ध होकर उसको अपने साहित्य की विषयवस्तु बनाता है। साहित्य के सभी रूपों में प्रकृति का बहूत महत्वपूर्ण स्थान रहा है। साहित्य में प्रकृति के सुंदर, विराट और भयंकर सभी रूपों का विशद वर्णन पाया जाता है। उन्होंने प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में स्वच्छंद विहार कर उसके प्रत्येक अंग का सूक्ष्म तरीके के निरीक्षण किया है। प्रकृति के प्रत्येक उपदानों चाहे वह वन्य-वृक्ष, सूखी झाड़ियाँ हों या प्रस्तर खंड सभी

का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। एक साहित्यकार प्रकृति के साथ अपने भावों का संबंध स्थापित करता है। वह प्रकृति को निर्जीव न समझकर उसमें मानव चेतना का अनुभव कर उसके साथ अपनी आंतरिक भावनाओं का समन्वय भी करता है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास के विभिन्न कालों का अध्ययन करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वैदिक काल से लेकर अब तक साहित्य में प्रकृति के विशाल रूप का वर्णन किसी न किसी रूप में आया है। हिन्दी साहित्य के आदिकाल भक्तिकाल तथा रीतिकालीन काव्य में हुए प्रकृति वर्णन को इस शोध पत्र के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

आदिकालीन काव्य में प्रकृति चित्रण

हिन्दी साहित्य के आदिकाल या वीरगाथाकाल में काव्य का मुख्य स्वर वीरों की पूजा तथा उनका यशोगान करना था। इसका कारण यह था कि यह समय अशांत था। गृह युद्ध तथा विदेशी शत्रुओं के साथ मार-काट की धूम थी। ऐसे समय में आदिकालीन कवियों ने युद्ध करने वाले वीरों को देश रक्षा हेतु, धर्म तथा मर्यादा रक्षा हेतु प्रोत्साहित करने के लिए कविताएँ लिखी। आदिकालीन कवियों ने उन वीरों के प्रति श्रद्धा नत होकर उनकी कीर्ति को सुरक्षित तथा अनुकरणीय रखने के लिए उसे साहित्यिक रूप देने का प्रयत्न किया। आदिकालीन कवि अधिकांशतः राजदरबारी हुआ करते थे। अतः वे या तो अपने आश्रयदाताओं को प्रोत्साहित करने के लिए वीर रस से परिपूर्ण कविताएँ लिखते थे या उनका मनोरंजन करने के लिए श्रृंगारपूर्ण कविताएं। आदिकालीन काव्य परंपरा अवलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है,कि प्रकृति के स्वतंत्र चित्रण पर आदिकालीन कवियों ने इतना ध्यान नहीं दिया, जितना वैदिक युग में कवियों ने प्रकृति वर्णन पर दिया गया था। यहीं कारण है, कि कालिदास के काव्य में प्रकृति का जितना स्वतंत्र वर्णन मिलता है,उतना आदिकालीन काव्य में नहीं। कालीदास को प्रकृति का ही कवि माना गया है। आदिकालीन कवियों में प्रकृति प्रेमी रूपी सूक्ष्म सौंदर्य चेतना का आभाव मिलता है। आदिकालीन कवियों ने पूर्वानुराग के प्रसंग में प्रकृति का वर्णन किया है। उन्होंने नायक नायिका के सौंदर्य की अभिव्यक्ति के लिए प्रकृति का सर्वाधिक प्रयोग किया है।

आदिकालीन कवि राजदरबार के ऐश्वर्यपूर्ण वातावरण में विलास और वैभवपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए काव्य रचना कर रहे थे। राजदरबार से बाहर निकल स्वच्छंद प्रकृति को निहारने का अवकाश नहीं था। प्रकृति से उनका संबंध विच्छेद हो गया।

बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, आल्हाखंड में यत्र तत्र प्रकृति वर्णन मिलता है। प्रकृति वर्णन के अंतर्गत नगर, नदी, पर्वत आदि का वर्णन पाया जाता हैं। इस काल के साहित्य में प्रकृति वर्णन की दोनों पद्धतियों आलंबन तथा उद्दीपन का प्रयोग किया गया है। प्रकृति

के उद्दीपन रूप का वर्णन अधिकांशतः मिलता है। प्रकृति का स्वतंत्र वर्णन अल्पयत्र या न के बराबर है। इसके अतिरिक्त कहीं कहीं पर प्रकृति वर्णन की परिगणन शैली भी दिख पड़ती है। उद्दीपन रूप में प्रकृति को शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों में चित्रित किया गया है। आदिकालीन अपभ्रंश रचना 'संदेश रासक' में प्रकृति के अपूर्व सौंदर्य का वर्णन दिख पड़ता है। कवि ने प्रकृति का चित्रण मानवीय भावनाओं की पृष्ठभूमि के रूप में किया गया है।

प्रकृति के आलंबन रूप का चित्रण

यद्यपि आदिकालीन काव्य में प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण सर्वाधिक देखने को मिलता है, जबकि आलंबन रूप चित्रण न के बराबर है। मैथिल कवि विद्यापति ने कहीं कहीं पर प्रकृति के आलंबन रूप वर्णन किया है। उदाहरणस्वरूप-

सरस बसंत समय भल पाओलि, दछिन पवन बह धीरे
सपनहू रूप वचन एक भाषिय, मुख से दूरी करू चीरे।[1]

इसके अतिरिक्त आदिकालीन फागु काव्य में भी प्रकृति के आलंबन रूप का वर्णन मिलता है। फागु काव्य के कवियों ने बसंत, वर्षा आदि के अपूर्व सौन्दर्य का वर्णन किया है।

प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण

आदिकालीन सभी कवियों ने अपने काव्य ग्रन्थों में नायक नायिका के संयोग तथा वियोग की दशाओं के उद्दीपन रूप में विभिन्न ऋतुओं तथा प्रकृति के विभिन्न उपादानों का वर्णन किया है। बीसलदेव रासों, पृथ्वीराज रासो, संदेश रासो आदि सभी रासो ग्रन्थों में प्रकृति के उद्दीपन रूप का अपूर्व चित्रण हुआ है। उदाहरणस्वरूप—

''कि तहि देस शाह फुरह जुन्ह निसी णम्मल चन्द्रह।
यह कलरउ न कुणति हंस फल सेवि रविदह।
अह पायउ पहु पढ़इ कोई सुललिय पुणराइण।
अह पंचउ णहु कुणई कोई कावालिय भाइण।''[2]

यहाँ कवि ने शरद ऋतु के माध्यम से प्रकृति के उद्दीपन रूप का वर्णन किया है।

बीसलदेव रासो में नरपति नाल्ह ने बारहमासा के अंतर्गत प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण किया है—

चैत मासई चतुरंगी हे नारि।
प्रीय बिण जीविजइ किसई अधारि।[3]

प्रकृति का मानवीकरण रूप में वर्णन—

माई हे! आज दिवस पुनमन्त।
करि चुमाओन राय बसंत।
सम्पुन सुधानिधि दधिभल भेल।
भमि भमि भमिरिह हंकार।[4]

अलंकार रूप में प्रकृति चित्रण

आदिकालीन काव्य में प्रकृति का वर्णन अलंकार के रूप भी किया गया है। इस काल के कवियों ने प्रकृतिक उपदानों का प्रयोग नायक नायिका के शारीरिक सौंदर्यनुभूति में किया हैं। उदाहरणस्वरूप—

सुंदर वदन चारु अरु लोचन, काजर रंजति भेला।
कनक-कमल माझ काल भुजंगिनी, श्रीयुत खंजन खेला।।[5]

उपदेश और नीति के माध्यम के रूप में प्रकृति वर्णन

आगसु ने अपनी 'जीव दया रास' ग्रंथ में मानव को उपदेश देने के लिए प्रकृति का सहारा लिया है। उदाहरणस्वरूप—

देहा सरवर मनिझहि कमलु,
तहि वइसउ हंभा धुरी थवलै।
कालु भमरु उपरि भमई,
आउखए रसगंधु वि ले सई।[6]

भक्तिकालीन काव्य में प्रकृति वर्णन

हिन्दी साहित्य का भक्तिकाल विदेशियों के आक्रमण तथा मुगलों के प्रतिष्ठित होने का समय था। जनता दुखी तथा पीड़ित थी। कविताएँ राजदरबार ने निकल झोपड़ी में आ बसी। भक्तिकालीन कवियों ने भक्ति और प्रेम की ऐसी धारा प्रवाहित की जिससे शासको के अत्याचारों को भूलकर सामान्य जन भगवान के भक्ति सरोवर में निमग्न होने लगे। अतः इस काल के काव्य में एक धार्मिक प्रवाह देखने को मिलता है भक्तियुगीन कवि प्रकृति के दृश्य जगत को प्रमुख्यतः अपनी काव्य या अनुभूतियों का विषय नहीं बनाता इसका कारण यह था कि उन्होंने अपनी साधना के लिए आध्यात्मिक वातावरण परंपरा के अनुसार ग्रहण किया है। भक्तिकाल में ज्ञानाश्रयी शाखा के कबीर, रैदास, नानक, सुंदरदास और दादू दयाल आदि संतों ने प्रकृति का प्रयोग मुख्यतः नीति व उपदेश अलंकार रहस्य और प्रतीक के रूप में

किया है। आध्यात्मिक प्रेम का वर्णन करते हुए प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण किया है। प्रेमाश्रयी काव्य धारा के कवियों ने भी प्रकृति के कई रूपों का वर्णन किया हैं। कृष्ण भक्ति काव्य शाखा के कवियों का काव्य प्रकृति वैभव से सम्पन्न जान पड़ता है। कृष्ण भक्ति शाखा के सर्वश्रेष्ठ कवि सूर को तो प्रकृति का कुशल चितेरा माना जाता है। सूरदास के काव्य में प्रकृति के मानवीकरण रूप का निदर्शन होता हैं। रामभक्ति शाखा के प्रमुख कवि तुलसीदास के काव्य में प्रकृति चित्रण की विभिन्न प्रणालियों का प्रयोग हुआ है। लेकिन उन्होंने राम भावना से युक्त प्रकृति का प्रयोग किया है। भक्तिकाल में प्रकृति के निम्नलिखित रूपों का चित्रण मिलता है—

प्रकृति के आलंबन रुप का चित्रण

तुलसीदास ने प्रकृति का स्वतंत्र निरीक्षण किया है। कवि ने गीतवली में पेड़-पौधे, पशु पक्षियों तथा जलाशयों का भी वर्णन किया है। उदाहरणस्वरूप—

सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
बरषा ऋतु प्रवेश विशेष गिरि देखत मन अनुरागत।[7]

प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण

भक्तिकालीन सभी कवियों ने अपने काव्य में प्रकृति के उद्दीपन रुप् का वर्णन किया है। कवि मीराबाई ने प्रकृति के उद्दीपन का बहुत सुंदर वर्णन किया है। उदाहरणस्वरूप—

कारी अंधियारी बिजली चमके, विरहणी अति डरपाये रे
गाजै बाजै पवन मधुरिया, मेहा अति झड़ लाये रे।[8]

अर्थात बिजली का चमकना या पवन का बहना या उसकी मधुर ध्वनि बिरहणी की व्यथा को और भी उद्दीप्त कर रहा है।

प्रतीक के रूप में प्रकृति चित्रण

भक्तिकालीन काव्य में प्रकृति का चित्रण प्रतीक के रूप में किया गया है। उदाहरणस्वरूप—

काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी, तेरे ही नाल सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में बास, जल में नलिनी तोर निवास।[9]

यहाँ कबीरदास ने नलिनी को प्रकृति की प्रतिनिधि मान कर अन्योक्ति द्वारा ब्रह्मवाद का दिग्दर्शन कराया है। कबीर ने प्राकृतिक उपादान जल को ब्रह्म या ईश्वर का प्रतीक माना है।

उपदेश तथा नीति के माध्यम के रूप में प्रकृति चित्रण

जो रहीम मन हाथ है, मनसा कहूँ किन जाहिं
जल में ज्यों छाया परी, काया भींजति नाहिं।[10]

प्रकृति में परम तत्व का आभास

भक्तिकालीन रहस्यवादी कवि प्रकृति वर्णन में परम तत्व या आभास पाते हैं—

बहुतै जोति-जोति ओहि भई।
रवि ससि नखत दीपहिं ओहीं जोति। रतन पदारथ मानिक मोती।
जह-जह बिहंसी सुभावाहि हँसी। तहँ तहँ छिटकी जोति परगसी।
यहाँ जायसी ने प्रकृति में ईश्वर का आभास पाया है।[11]

प्रकृति का मानवीकरण रूप में चित्रण

भक्तिकालीन काव्य में प्रकृति को मानवीकरण रूप में वर्णित किया गया है। तुलसीदास के काव्य में प्रकृति का मानवीकरण रूप दीख पड़ता है। उदाहरणस्वरूप—

सरित जल मलिन, सरनि सूखे नाल
अलि न गुजत, कल कुंजे न मराल
तरु जे जानकी लाये, ज्याये हरि कटि कपि,
हेरे न हुंकरि, झरे फल न रसाल।[12]

अर्थात सीता विरह में सरिताओं का जल मलिन हो गया है। सरोवर सूख गए हैं और पक्षियों ने अपना कल कूजन तक बंद कर दिया है।

अलंकार रूप में प्रकृति चित्रण

भक्तिकालीन अधिकांश कवियों ने नायक-नायिका के सौंदर्य का वर्णन करते समय प्रकृति के उपादानों की सहायता ली है। उदाहरणस्वरूप—

अवन अधर सुंदर, द्विज छवि अनूप न्यारी।
मनहु अरुन कज कौस मजूल जुग पाति प्रसव
कुद कली जुगल जुगल परम सुभ्र वारी।[13]

यहाँ तुलसीदास ने राम के दांतों की तुलना अरुण कमल के बीच खिलनेवाली शुभ्र वर्ण की कुन्दकली से किया है।

रीतिकालीन काव्य में प्रकृति वर्णन

रीतिकालीन कवि राज्यश्रित थे। उनका उद्देश्य राजदरबारों में आदर पाना था। राज्यश्रित होने के कारण प्रकृति के साथ उनका संपर्क बहुत ही कम हुआ। अतः प्रकृति का

स्वतंत्र वर्णन उनके काव्य में स्थान न पा सका। रीतिकालीन काव्य परंपरा में मनोरंजन विषयक कविताएँ कविताएँ लिखी जाती थीं। इस काल के कवि इसी में अपनी कृतार्थता तथा काव्य की सफलता मानते थे। इस काल में राजदरबारों का वातावरण सूक्ष्म चिंतन के लिए नहीं था। रीतिकाल में प्रकृति का उल्लास कहीं कवि की कल्पना में या प्रमद-वनों और निकुंजों में बंधा दिख पड़ता है। इस काल में प्रकृति का स्वतंत्र या निरपेक्ष वर्णन अल्पयत्र ही मिलता है। इस काल में प्रकृति आलंबन तथा उद्दीपन दोनों रूपों में वर्णित है। काव्य में आलंबन रूप के चित्रण का अभाव मिलता है जबकि प्रकृति के उपादानों का वर्णन उद्दीपन रूप में हुआ है। रीतिकालीन कवि बिहारी, सेनापति आदि के काव्य में प्रकृति का उन्मुक्त सरस चित्रण देखने को मिलता है। प्रकृति वर्णन में सभी रीतिकालीन कवियों में सेनापति बेजोड़ माने जाते हैं।

रीतिकालीन काव्य में प्रकृति वर्णन निम्नलिखित रूपों में पाया जाता है—

प्रकृति के आलंबन रूप का वर्णन

बिहारी तथा सेनापति के काव्य में प्रकृति के आलंबन रूप का चित्रण किया गया है। सेनापति ने प्रकृति के स्वतंत्र नैसर्गिक तथा आलंबन रूप का वर्णन करते हुए कहा है-

वृष कौ तरनि तेज सहसौ किरन करि
ज्वालन के जाल विकराल वरसत है।
तजति धरनि जग जरत झरनि, सीरी
छाँह को पकरि पंथी पंछी विरमत हैं।[14]

कवि सेनापति ने इन पंक्तियों के माध्यम से वृषि राशि के सूर्य की प्रचंडता का स्वतंत्र वर्णन किया है। सूरज की सहस्रों किरणें अपनी प्रचंड ज्वाला से धरती को तपा रही हैं। पथिक तथा पंछी दोनों छाया में विश्राम कर रहे हैं।

प्रकृति के उद्दीपन रूप का वर्णन

कारी कूर कोकिला कहाँ को बैर काढ़ती री,
कूकी कूकी अबही करै जो किन कोरी लै।[15]

घनानन्द ने बिरहणी नायिका के बिरह व्याकुल दशा का वर्णन किया है। नायिका पहले से ही दुखी है, परंतु कोकिला की मधुर मीठी बोली उसके विरह को और भी बढ़ा देता है। कहीं कहीं प्रकृति के उद्दीपन रूप के वर्णन में उहात्मकता दिख पड़ती है।

प्रकृति के मानवीकरण रूप का वर्णन

बैठि रही अति सघन बन, पैठि सदन-तन मांह।
देखि दुपहरी जेठ की, छाहौं चाहति छाँह।[16]

कवि बिहारी जेठ महीने की गर्मी का वर्णन करते हुए कहते हैं, कि छाया भी छाया चाहती है। अतः प्रकृति को मानव के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

अलंकार रूप में वर्णित प्रकृति

सीतानयन चकोर सखि, रविवंसी रघुनाथ
रामचन्द्र सिय कमलमुख, भलो बन्यों है साथ।[17]

यहाँ सीता के नयनों कि तुलना चकोर से तथा सीता और राम के मुखमंडल की तुलना कमल के पुष्प से की गयी है।

उपदेश और नीति का माध्यम

रीतिकालीन कवियों ने उपदेश देने के लिए तथा नीति की शिक्षा देने के लिए प्राकृतिक उपादानों की सहायता ली है। बिहारी ने राजा जयसिंह को कर्तव्यविमुखता से बचाने के लिए प्राकृतिक उपादानों का प्रयोग कर एक उपदेशात्मक दोहा लिखा था—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
अली, कली ही सौ बन्ध्यों, आगे कौन हवाल।[18]

प्रकृति में परम तत्व का आभास

रीतिकालीन कवि घनानन्द के काव्य में प्रकृति में परम तत्व का आभास मिलता है। उदाहरणस्वरूप—

घनआनंद जीवनदायक हो,
कछु मेरियौ पीर हियै परसौ।
कबंहु वा बिसासी सुजान के आँगन
मो अंसुवान को लै बरसौ।[19]

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं, कि प्रकृति चित्रण प्रत्येक काल में हुआ है। वैदिक युग से लेकर आधुनिक युग तक प्राकृतिक सौन्दर्य ने कवियों को न केवल प्रभावित किया हैं, अपितु उत्कृष्ट रचना के लिए प्रेरित भी किया है।कवियों ने अपने काव्य में प्रकृति के विभिन्न रूपों को सूक्ष्मता से परिमार्जित तथा परिष्कृत रूप में प्रस्तुत किया है। हिन्दी साहित्य जगत के आदिकाल से लेकर रीतिकाल तक प्रकृति भिन्न भिन्न रूपों में वर्णित हुई है।

संदर्भ :

1. चतुर्वेदी, डॉ. राजेश्वर प्रसाद तथा अन्य, हमारे कवि और लेखक, प्रकाशन केंद्र, लखनऊ,1987, पृष्ठ-3
2. शर्मा, डॉ. शिवकुमार, हिन्दी साहित्य; युग और प्रवृत्तियाँ, अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली, ग्यारहवा संस्करण-1989, पृष्ठ-77

3. शर्मा, डॉ. शिवकुमार, हिन्दी साहित्य; युग और प्रवृत्तियाँ, अशोक प्रकाशन, नई दिल्ली, ग्यारहवा संस्करण-1989, पृष्ठ-69
5. देशवाल, प्रदीप, हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण, 2017 पृष्ठ-354
6. गुप्त, गणपतिचन्द्र, हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास, लोकभारती प्रकाशन,इलाहाबाद, चतुर्थ संस्करण-1990, पृष्ठ-101
7. गुप्ता किरणकुमारी, हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 2006, पृष्ठ-116
8. चतुर्वेदी, रामस्वरुप, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास,लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, अट्ठाइसवाँ संस्करण-2021, पृष्ठ -52
9. गुप्ता किरणकुमारी, हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 2006, पृष्ठ-99
10. चतुर्वेदी, रामस्वरुप, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास,लोकभारती प्रकाशन, प्रयागराज, अट्ठाइसवाँ संस्करण-2021, पृष्ठ-53
11. शर्मा राजनाथ, साहित्यिक निबंध, श्री विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, तीसरा संस्करण-2010, पृष्ठ-400
12. गुप्ता किरणकुमारी, हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 2006, पृष्ठ-125
13. गुप्ता किरणकुमारी, हिन्दी काव्य में प्रकृति चित्रण, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग 2006, पृष्ठ-127
14. सिंह, विजयपाल, रीतिकाव्य संग्रह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, अष्टम संस्करण-2006, पृष्ठ-115
15. तिवारी, डॉ. रामचन्द्र और अन्य (सं), रीतिकाव्य धारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2000, पृष्ठ-47
16. सिंह, विजयपाल, रीतिकाव्य संग्रह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, अष्टम संस्करण-2006, पृष्ठ-87
17. सिंह, विजयपाल, रीतिकाव्य संग्रह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, अष्टम संस्करण-2006, पृष्ठ-99
18. सिंह, विजयपाल, रीतिकाव्य संग्रह, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, अष्टम संस्करण-2006, पृष्ठ-82
19. तिवारी, डॉ. रामचन्द्र और अन्य(सं), रीतिकाव्य धारा, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2000, पृष्ठ-147

■

छायावादीयों कवियों के काव्य में प्रकृति चित्रण- निराला के संदर्भ में

शिवशंकर राजवाड़े
शोधार्थी/सहायक प्राध्यापक(हिन्दी)
पं. ज्वाला प्रसाद उपाध्याय शासकीय महाविद्यालय पटना,जिला कोरिया(छ.ग.)

छायावाद आधुनिक काल का एक महत्वपूर्ण भाग है। आधुनिक हिन्दी कविता के सन् 1920 से लेकर 1936 तक के कालखण्ड को छायावाद के नाम से अभिहित किया गया है। यह आधुनिक हिन्दी कविता की एक समृद्ध परम्परा का वाहक हैं। पं रामचंद्र शुक्ल के अनुसार—''छायावाद शब्द का प्रयोग दो अर्थो में समझना चाहिए एक तो रहस्यवाद के अर्थ में, जहाँ उसका संबंध काव्य वस्तु से होता है अर्थात जहाँ कवि उस अनंत और अज्ञात प्रियतम को आलंबन बनाकर अत्यंत चित्रमयी भाषा में प्रेम की अनेक प्रकार से व्यंजना करता है। रहस्यवाद के अंतर्गत रचनाएँ पहुँचे हुए पुराने संतो या साधकों की उस वाणी के अनुकरण पर होती हैं जो तुरीयावस्था या समाधि दशा में नाना रूपकों के रूप में उपलब्ध आध्यात्मिक ज्ञान का आभस देती हुई मानी जाती थीं। इस रूपात्मक आभास को यूरोप में'छाया' कहते थे। इसी से बंगाल में ब्रम्हसमाज के बीच उक्त वाणी के अनुकरण पर जो आध्यात्मिक गीत या भवन बनते थे वे छायावाद कहलाने लगे। धीरे-धीरे यह शब्द वहाँ के धार्मिक क्षेत्र से वहाँ के साहित्य क्षेत्र में आया और फिर रवीन्द्र बाबू की धूम मचने पर हिन्दी के साहित्य क्षेत्र में भी प्रकट हुआ।''[1] आधुनिक काल के छायावादी काव्य में प्रकृति चित्रण को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। छायावादी काव्य ने पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित बंगला साहित्य से प्रभाव ग्रहण करते हुए खड़ी बोली हिन्दी में प्रकृति चित्रण को एक नया आयाम प्रदान किया है। भारत का आधुनिक समाज भी विकास के नये सोपान तय करते हुए उसे इसी की ओर जाने के लिए प्रेरित और प्रभावित कर रही थी। नामवर सिंह के कथनानुसार—''विज्ञान के द्वारा प्रकृति से संघर्ष करते हुए भी आधुनिक मानव ने उससे प्रेम किया। जिस प्रकृति से संघर्ष उसी से प्रेम यह आधुनिक युग का ही सत्य नहीं है, बल्कि मानव जाति के समूचे इतिहास का ही यही निष्कर्ष है।''[2] इसका तात्पर्य यह है कि विज्ञान के विकास के साथ उसके प्रकृति

से संघर्ष ने नये मानव संबंधों को जन्म दिया। छायावादी कवियों का प्रकृति प्रेम प्रकृति को विशेष महत्व देना, प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता की काव्य में प्रतिष्ठा—ये सभी आधुनिक विज्ञान के सकारात्मक योगदान हैं। विज्ञान ने विवेक के साथ- साथ प्रकृति के रहस्यों का उद्‌घाटन किया है। किन्तु दुर्भाग्यवश आज मानव ने उस विवेक शक्ति को ही गँवा दिया है। आधुनिक मानव का झुकाव प्रकृति की ओर होने लगा है। ''पुरानी समाज व्यवस्था के घुटते हुए वातावरण की अपेक्षा आधुनिक मानव को प्रकृति के बीच खुला वातावरण मिला। प्रकृति के राज्य में उसे पशु-पक्षियों , नदी-नालों, हवा-बादल सब में उन्मुक्त और निरंकुश स्वच्छंदता के दर्शन हुए। इसी स्वधीनता की टोह में आधुनिक कवि प्रकृति के क्षेत्र में आया। आधुनिक व्यक्ति का प्रकृति की ओर दौड़ना, व्यक्तिगत स्वच्छंदता याने व्यक्तिगत स्वाधीनता का परिणाम था।''[3] छायावादी कवियों के काव्य में प्रकृति के आधुनिक रूप के दिग्दर्शन होते हैं। छायावादी कवियों ने प्रकृति के विविध रूपों को नजदीक से देखा और उसकी छवियों को अंकित किया। प्रकृति न केवल उनके लिए साधन थी वरन् साध्य भी थी। छायावादी कवियाँ विशेषकर निराला का प्रकृति चित्रण मानवीय भावनाओं एवं संवेदनाओं से भरा हुआ है। उन्होने प्रकृति सौंदर्य का चित्रण करते हुए प्रकृति के प्रति असीम श्रद्वा और विश्वास की भावना को व्यक्त किया है।

महाप्राण सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला अपने प्रकृति चित्रण के माध्यम से एक अलग रूप में जाने ओर पहचाने जाते हैं। निराला के लिए प्रकृति शक्ति का प्रतीक है। उनके लिए प्रकृति ब्रह्म है। ''बहती निराधार पृथ्वी गगन में, अतनु में सुतनु-हार''[4] के द्वारा निराला ने प्रकृति के अनंत, पूर्ण, अनादि और निराधार रूप का दिग्दर्शन कराया है।

''भारतीय दर्शन में जो पाँच तत्व प्रसिद्ध हैं वे शक्ति के विभिन्न रूप हैं। इसीलिए ये पाँच तत्व देखने में पाँच होते हुए भी वास्तव में एक ही हैं। जो आकाश है वही बदलकर पृथ्वी बनता है, जो पृथ्वी है वही जल बनती है, जो जल है वही हवा अथवा आकाश बन जाता है।''[5]

सरोज स्मृति में निराला ने दृष्टि का वर्णन करते हुए शक्ति से पाँच तत्वों का संबंध उपर्युक्त दार्शनिक धारणाओं के अनुकूल दिखाया है—

''क्या दृष्टि! अतल की सिक्त धार
ज्यों भोगवती उठी अपार,
उमड़ता उर्ध्व को कल सलील
जल टलमल करता नील-नील
पर बंधा देह के दिव्य बाँध
छलकता दृगों से साध-साध।''[6]

निराला के काव्य में प्रकृति विभिन्न रूपों में दिखाई देती है। आलंबन रूप में, उद्दीपन रूप में, रहस्यात्मक रूप में, पृष्ठभूमि रूप में आदि बहुत सारे रूपों में प्रकृति निराला के काव्य में दिखाई देती है। उनकी संध्या सुंदरी हो, जूही की कली हो या बादल राग हो या उनकी अन्य कोई रचना हो हमें अत्यनत मनोरम प्रकृति चित्रण का दृश्य दिखाई देता है। पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला छायावाद के उन प्रमुख कवियों में माने जाते हैं, जिन्होंने छायावाद के साथ-साथ यर्थाथवाद को भी अपने काव्य के माध्यम से समाज के सामने प्रस्तुत किया। निराला के प्रकृति चित्रण को निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट किया जा सकता है—

1. आलंबन रूप में प्रकृति चित्रण—आलंबन रूप में निराला ने जिस प्रकृति को अपने काव्य धारा में उतारा है, उसे सहज सुन्दर तरीके से, सहज भाव के रूप में, सहज मानवीय प्रकृति के रूप में आलंबन रूप में प्रस्तुत किया है। देवी सरस्वती का प्रकृतिक आलंबन के रूप में सुंदर चित्रण किया है। साथ उन्होने 'संध्या सुन्दरी' नामक कविता में संध्या के समय भगवान सूर्य का आलंबन रूप में चित्रण किया है। क्षितिज से दूर जाते सूर्य की जो छवि उन्होंने अपने काव्य में उपस्थित की है, वह देखते ही बन पड़ती है। और संध्या जैसे-जैसे सूर्य से दूर जाती है, वैसे-वैसे संध्या सुंदरी धीरे-धीरे आकाश से उतरती दिखाई देती है। उनके 'संध्या सुंदरी' कविता की पंक्तियाँ दृष्टव्य है—

''दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है,
वह संध्या-सुंदरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे,''[7]

एक तरफ हम देखते हैं कि प्रकृति का यथावत वर्णन भी किया जा सकता था, लेकिन निराला ने उसका यथावत वर्णन न करते हुए आलंबन रूप में उसका वर्णन किया है। आगे चलकर निराला का प्रकृति के प्रति अगाध प्रेम उनके मानवीकरण में परिवर्तित हो गया। उनका यह भाव उनकी बहुत सी कविताओं जैसे-प्रकृति बेला, जूही की कली आदि में आलंबन रूप में दिखाई देता है।

2. उद्दीपन रूप में प्रकृति चित्रण—प्रकृति ने सदैव उद्दीपन का कार्य किया है। प्रेम को जागृत करने में प्रकृति का बहुत महत्वपूर्ण हाथ है। एक समान्य परिस्थिति में और प्रकृतिक सौंदर्य की परिस्थिति में दोनों परिस्थितियों में प्रेम की परिणति की परिभाषा ही बदल जाती है। हम कल्पना करते हैं—मेघ गरज रहे हैं, बारिश रिमझिम करके बरस रही है, मोर नाच रहे है, कोयल कूक रही है, ऐसे समय में कोई निष्ठुर हदय ही होगा जिसके मन में प्रेम की कोपलें नहीं फूटेंगी। निराला ने अपने काव्य में प्रकृत के इन सारे तत्वो को उद्दीपन

रूप में वर्णित किया है। यह निराला की अपनी विशेषता है। उन्होंने 'संध्या सुंदरी' कविता में प्रकृति को उद्दीपन रूप में प्रस्तुत किया है—

"अर्द्धरात्रि की निश्चलता में हो जाती वह लीन,
कवि का बढ़ जाता अनुराग,
विरहाकुल कमनीय कण्ठ से
आप निकल पड़ता तब एक विहाग।"[8]

3. उपदेशात्मक रूप में प्रकृति चित्रण—कवि चाहे वीरगाथा काल का हो, भक्तिकाल का हो, रीतिकाल का हो या आधुनिक काल का हो कवि हमेशा अपने दायित्वों का पालन करता है। वह समाज को उपदेश देता है अपने कर्त्तव्य का निर्वहन करते हुए समाज को सिखाता है, पढ़ाता है। बादल राग कविता में, झरना कविता में उन्होंने प्रकृति के माध्यम से उपदेशात्मकता को प्रस्तुत किया है—

"यह तेरी रण-तरी
भरी आकांक्षाओं से,
घन भेरी- गरजन से सजग सुप्त अंकुर
उर में पृथ्वी के, आशाओं से
नवजीवन की, ऊँचा कर सिर,
ताक रहे हैं, ऐ विप्लव के बादल !"[9]

अर्थात् उपदेशात्मक रूप में कवि ने अपनी कविता में प्रकृति को उतारा है।

4. अलंकारिक रूप में प्रकृति चित्रण—निराला ने अपने कवि धर्म का पालन करते हुए प्रकृति को आलंकारिक रूप में प्रस्तुत किया है। अपनी कविता संध्या सुंदरी, बादल राग, जूही की कली, तुलसीदास में प्रकृति को बहुत सुंदर ढंग से आलंकारिक रूप में प्रस्तुत किया है। इसके लिए उन्होंने रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, श्लेष, यमक आदि सभी अलंकारों का बहुत सुंदर प्रयोग किया है।

"बिखरी छूटी शफरी-अलकें
निष्णात नयन-नीरज पलकें "[10]

5. पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति चित्रण—अपनी भावनाओं और कार्य व्यापार की पृष्ठभूमि के रूप में निराला ने प्रकृति चित्रण का सहारा लिया है। निराला तुलसीदास, राम की शक्ति पूजा, बादल राग एवं अन्य कविताओं में पृष्ठभूमि को प्रकृति के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं। 'बादल राग' कविता की निम्न पंक्तियाँ दृष्टव्य है—

"जीर्ण बाहु, है शीर्ण शरीर,
तुझे बुलाता कृषक अधीर,
ऐ विप्लव के वीर !
चूस लिया है उसका सार,
हाड़-मात्र ही है आधार
ऐ जीवन के पारावार!"[11]

हाड़ बचे हैं केवल वे ही आधार हैं। यहाँ पर कवि ने पृष्टभूमि तैयार की है, और पृष्टभूमि में ही उन्होंने प्रकृति को आरोपित कर दिया है।

6. रहस्यात्मक रूप में प्रकृति चित्रण—प्रकृति एवं रहस्य दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। महाप्राण निराला जब रहस्यात्मक रूप में प्रकृति चित्रण करते हैं, तब वे 'तुम और मैं' नामक कविता में कहते हैं—

"तुम तुंग-हिमालय-श्रृंग
और मै चंचल-गति सुर-सरिता।
तुम विमल हदय उच्छ्वास
और मै कान्त-कामिनी-कविता।"[12]

कवि ने अपनी भावनाओं को आरोपित करने के लिए बड़े ही सुन्दर ढंग से रहस्यात्मकता को प्रकृति के माध्यम से अपने काव्य में आरोपित किया है।

चंचल लहरें, चंद्रमा, सूर्य, तारा, नक्षत्र, उपवन, सागर, नीला आकाश आदि सारे तत्व रहस्य की गणना में आते हैं, जिनको रहस्यात्मक माना जाता है। निराला ने अपने प्रकृति चित्रण में इन सभी तत्वों को उतारा है।

7. प्रतीकात्मक रूप में प्रकृति चित्रण—प्रायः सभी- छायावादी कवियों ने प्रतीक के रूप में प्रकृति का प्रयोग किया है। कवि निराला भी प्रकृति चित्रण की इस विधा से अछूते नहीं हैं। वे "उनके बाग में बहार" नामक कविता में लिखते हैं—

"उनके बाग में बहार
देखता चला गया।
कैसा फूलों का उभार
देखता चला गया।"[13]

8. प्रकृति का मानवीकरण—प्रकृति का मानवीकरण करने में, निराला का कोई शानी नहीं है। रीतिकालीन कवियों से लेकर छायावादी कवियों तक सबसे श्रेष्ठ प्रकृति का मानवीकरण निराला ने किया है। उन्होंने प्रायः अपनी कविताओं में चाहे वह संध्या सुंदरी हो,

जूही की कली हो, यमुना के प्रति हो, या राम की शिक्त पूजा हो या धारा हो सभी कविताओं में प्रकृति का मानवीकरण किया है—

"दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या-सुंदरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे।"[14]

प्रकृति का जो सौन्दर्य चित्रण मानवीकरण के रूप में निराला किया उसका एक और उदाहरण 'सखि, बसंत आया' कविता से प्रस्तुत है—

"सखि बसंत आया।
भरा हर्ष वन के मन, नवोत्कर्ष छाया।
किसलय वसना नव-वय लतिका
मिली मधुर प्रिय-उर तरू-पतिका,
मधुप-वृंद बन्दी—
पिक-स्वर नभ सरसाया।"[15]

यहाँ निराला ने बहुत सुंदर ढंग से बसंत का मानवीकरण किया है। बसंत के आने से वन में जो नवोत्कर्ष उत्पन्न होता है वह एक नवयौवना के यौवन के प्रफुल्लित होने का प्रतीक है।

निराला की कविताओं में विविध रूपों में प्रकृति चित्रण किया गया है। उन्होंने प्रकृति सौंदर्य का चित्रण करते हुए प्रकृति के प्रति एक असीम श्रद्धा एवं विश्वास की भावना को व्यक्त की है। यहाँ उल्लेखनीय है कि उस काल में भारतीय जनमानस सामान्य रूप से नवीन वैज्ञानिक संस्कृति के गुणों एवं अवगुणों से उतना परिचित नहीं था। प्रकृति की गोद में उन्मुक्त क्रीड़ा करता हुआ मानवीय जीवन आनंदयुक्त था। यंत्रवाद की भागदौड़ एवं कर्कशता ने उसका स्पर्श नही किया था इसीलिए प्रकृति का सुंदर, मनोरम, कलात्मकतायुक्त एवं प्रेम से परिपूर्ण चित्र निराला की छायावादी रचनाओं में प्राप्त होता है। निराला की आनंदानुभूति जड़ प्रकृति में भी चेतना का संचार कर देती है। उन्होने स्वयं को बसंत का अग्रदूत कहते हुए अपनी संध्या सुंदरी, जूही की कली, शेफालिका आदि कविताओं में मानवीकरण से पूर्ण प्रकृति का दर्शन कराते हुए प्रकृति एवं मानव का तादात्म्य स्थापित किया है।

संदर्भ :

1. शुक्ल, रामचन्द्र—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पंचम संस्करण नागरी प्रचारणी सभा काशी, संवत 2006 विक्रमी पृष्ठ- 668
2. सिंह, नामवर—छायावाद दसवां संस्करण राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली सन्-2010 पृष्ठ -33
3. वही, पृष्ठ -33
4. नवल, नंद किशोर—निराला रचनावली भाग -1 पाँचवाँ संस्करण राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, सन् - 2014 पृष्ठ - 266
5. शर्मा, रामविलास—निराला की साहित्य साधना भाग-2 ग्यारहवाँ संस्करण, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, सन् - 2022 पृष्ठ 183
6. नवल, नंदकिशोर—निराला रचनावली भाग-1 पाँचवाँ संस्करण राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली सन् 2014 पृष्ठ - 320
7. वही पृष्ठ - 77
8. वही पृष्ठ - 78
9. वही पृष्ठ - 135
10. वही पृष्ठ - 302
11. वही पृष्ठ - 136
12. वही पृष्ठ - 49
13. नवल, नंदकिशोर—निराला रचनावली भाग-2 पाँचवाँ संस्करण राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, सन् 2014 पृष्ठ - 123
14. नवल, नंद किशोर—निराला रचनावली भाग -1 पाँचवाँ संस्करण राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, सन् -2014 पृष्ठ - 77
15. वही पृष्ठ - 253
16. वही पृष्ठ - 41

■

सत्यभामा आडिल की आधुनिक कविताओं में प्रकृति

सीमा मिश्रा

शोधार्थी

महाविद्यालय रायपुर (छ.ग.)

सत्यभामा आडिल की आधुनिक कविताएँ अपने परिवेश से सीधे ही जुड़ी हुई हैं वह जिस आधुनिकता पर विश्वास करती हैं वह यथार्थ से सीधे साक्षात्कार पर आधारित है साथ ही इनकी कविताएँ प्रकृति के प्रति पूरी तरह जागरूक हैं। आधुनिक कविता ने अपने काव्य में नई भाव भंगिमाओं, नए प्रतीकों, नए विंबो को उपस्थित कर सामाजिक जड़ता को तोड़ने का कार्य किया है। कवयित्री अपनी रचना को कुछ इस प्रकार से अभिव्यक्त करती है—

''दिन रात औ ऋतुओं के घेरे से बाहर निकला यूँ ही, सदियों से नियमों को ओढा, झटके से फेंकी दुलाई यूं ही, आकर खड़ा हो गया सड़क पर। सबने देखा उजला, धुआ हँसता, बच्चे-सा किलकारी मारता, नई सदी में जाने के लिए, तैयार खड़ा है सूरज।''[1]

आधुनिक कविताएँ छायावादी रूमानियत और प्रगतिवादी दलीय सांगठनिक, प्रतिबद्धता से बाहर निकलकर समस्त मानव समाज से एकाकार होना चाहती हैं। आधुनिक कवयित्री सत्यभामा आडिल सामाजिक, राजनैतिक परिवर्तनों को अपने जीवन अनुभवों एवं प्रकृति के साथ मिलाकर व्यक्त करना चाहती हैं ताकि वास्तविकता की झलक अपनी जगह बनी रहे। इस संदर्भ में भवानी प्रसाद मिश्र जैसे कवि का मानना है कि ''अपने को व्यक्त कर पाना ही सबसे बड़ी चीज है मुझे अपनेपन की यह आवाज अच्छी लगने लगी। पहले जो कहता था तर्क की सीढ़ियाँ संभाल कर कहता था। धीरे-धीरे अपने को व्यक्त करने की जरूरत सबसे बड़ी लगने लगी। व्यक्ति अपने को व्यक्त करने के सिवा कुछ और नहीं कर सकता यह उसकी नियति है। इसलिए अपने को व्यक्त करके आदमी पूरा व्यक्ति बन सकता है और इसी तरह वह समाज में भी किसी काम का हो सकता है।''[2] सत्यभामा आडिल ने भी स्वयं को परंपराओं से बाहर निकालते हुए कहा है कि—''तुम्हें सदा, पुस्तकीय भाषा ही पसंद है ऐसा क्यों ? क्या तुम परंपरावादी, शास्त्रीय हो? तुम महान परंपरा के धनी, अनुगमनकर्ता, प्रवक्ता,

शिष्ट, शालीन, भद्र, सीमाबद्ध हो। मर्यादा से हटकर बढ़ना आया नहीं, लीक से हटकर चलना सीखा नहीं। सदियों से, सृष्टि के आरंभ से तुम ऐसे ही हो।''[3]

प्रकृति के साथ कवयित्री का जो संबंध है उसके द्वारा ही वह मन की भावनाओं को उड़ान भरने देती हैं और मानव जीवन के सभी रिश्तों, कला, संस्कृतियों के मूल सत्य से सबको परिचित कराती है। समानता, भाईचारा, स्वतंत्र विचार जैसी बातें इस समाज के प्रत्येक व्यष्कि के व्यवहार में शामिल है। इसे कवयित्री की 'एक मिथ' नामक कविता में महसूस कर सकते हैं—

''सिर उठाकर, आसमान को ताकने का साहस देता, तुम्हारा यह विश्वास एक मिथक बन जात, हर सुबह तुम्हारा दिया स्नेह, अपनापन, मेरे मन की रिक्तता को भरता रहता, और मैं, उस अकेलेपन को बांटती जन-जन के बीच, सूरज जो तुम दोगे, वही तो मैं सबको दूंगी।''[4]

इनकी कविताओं के अध्ययन के पश्चात् ऐसा प्रतीत होता है कि इन्हें पूरी तरह से कविता कहना उचित नहीं होगा क्योंकि कई कविताएँ पूर्णतः कहानी लिए हुए हैं। प्रकृति से जुड़ी इनकी कवितओं के साथ कविता से भी बड़ा एक ऐसा व्याख्यात्कम भाव रहता है जो कविता के जन्म लेने की कहानी है या फिर उस कविता में आई अनुभूति को व्यक्त करती है। इनकी कुछ कविताएँ किसी डायरी की तरह प्रतीत होती हैं, जो हमें कवयित्री के जीवन और उनकी सोच के भीतर झांकने का मौका देती हैं। इनकी कई कविताएँ ऐसे प्रतीत होती हैं कि यह उनके अनुभव का संग्रह है, जो अपनापन लिए हुए एवं रूचिकर हैं।

कवयित्री ने प्रकृति के प्रति प्रेम एवं जमीनी जुड़ाव को स्पष्ट रूप से चित्रित किया है। ''ठूँठ तुम खड़े रहो'' नामक कविता मन के भाव को झकझोर देती है। इनकी कविता में कहानी महसूस करना एक अभिनव पूर्ण प्रयोग है। जिस प्रकार एक पेड़ समय के साथ नवजात से यौवन अवस्था में पहुँचकर फल फूलों से युक्त हरा भरा हो जाता है, और अंत में वृद्ध अवस्था में केवल ठूंठ बनकर रह जाता है, जो केवल टेका लगाने अर्थात् टिकने या फिर जानवरों की पीठ को खुजाने के काम आता है, ठीक उसी प्रकार मानव का जीवन है, जो बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था में बटा है। बाल्यावस्था चिंतामुक्त एवं आनंदमई होती है, युवावस्था में जिम्मेदारियों का भार आ जाता है, यह अवस्था पेड़ की उस अवस्था के समान है जिसमें एक पेड़ फल फूल और पत्तियों से पूरी तरह से हरा-भरा रहता है। सभी ऐसे पेड़ के पास रहना चाहते हैं ठीक इसी प्रकार मानव जीवन में भी युवावस्था में परिवार के सभी सदस्य अपनी खुशियों को आपस में बांटते हैं, सभी आस-पास में रहना पसंद करते हैं। किंतु धीरे-धीरे पेड़ की उम्र बढ़ती है और बूढ़ा हो जाता है, उसके पत्ते झड़

जाते हैं वह पूरी तरह से सूख जाता है। फिर भी वह ठूंठ बन खड़ा रहता है। ठीक इसी प्रकार कवयित्री ने बुढ़ाने की तुलना एक ठूँठ से की है। जब तुम असहाय हो जाओ, वृद्ध हो जाओ तब भी तुम स्वयं की आशाओं को दम मत तोड़ने देना, तुम अपनी खुशियों को अपनी नई पीढ़ी की किलकारियों में खोज लेना। शायद हमारे ही बच्चे हमारे सामने दबंग हौसला कर हमें चुनौती भरे शब्दों से शांत करने का प्रयास करें, भ्रष्ट आचरण करें। ऐसी अवस्था में भी तुम ठूंठ की तरह शांत हो कर उन्हे सत्य और न्याय का संस्कार देना। इस कविता में सजीवता, स्वभाविकता एवं मानवीकरण मुख्य विशेषता है। इसलिए पाठक इनकी कविताओं से सीधे तारतम्य स्थापित कर लेते हैं।

''तुम्हारी हरियाली चली गई, पत्ते झड़ गए फूल बिखर गए तने का रस सूख गया, फिर भी तुम खड़े रहो! खड़े रहो!! श्रम में भीगी स्त्री तुमसे पीठ टिकाकर अपने पाल्य को दूध पिलाएगी, राहगीर और श्रमिक तनिक ठहरकर तुमको टेका बनाएंगे, गाय अपनी पीठ खुजलाएगी, रम्भाएगी, हालांकि छाया नहीं होगी, क्योंकि छीन ली गई है सारी हरियाली फिर भी ठूँठ तुम खड़े रहो! टूटना मत!!''[5]

इनकी बसंत और धरती जैसी प्राकृतिक कविताएँ पूरी तरह से प्रकृति एवं जमीन से प्रेम को व्यक्त करती हैं। बसंत कविता में कवयित्री ने बसंत ऋतु का मानवीयकरण किया है। कवियत्री का प्रकृति के प्रति प्रेम उनके काव्य को प्रकृति के विभिन्न क्षेत्रों में डुबो देता है अर्थात् अप्लावित कर देता है। उनका यह प्रेम बसंत से बातें करते हुए सहज ही मानवीय रूप धारण कर लेता है। जिसमें सामाजिक चेतना का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है।

''जब आना था, आया नहीं, जब आया, तो अनुभूति नहीं। सुने ग्राम प्रांतर में, धूल उड़ती, उखड़े चौखट, टूटे कपाटों को पकड़ी, नववधु सद्यः विधवा बैठी,—मैं उसका शोक मना रहा हूँ। राखी की डोर लिए बहना खड़ी,- मैं उसे धीरज बंधा रहा हूँ। पिता का आश्रय ढूँढती भोली आँखे,—मैं उसे वक्ष से लगाए बैठा हूँ। कैसे बताऊं-कब आऊंगा ? शायद, इस वर्ष नहीं आ पाऊंगा।''[6]

सत्यभामा आडिल जी की धरती कविता नवीन प्रतीकों एवं बिम्बों से युक्त भावात्मक एवं विचारात्मक शैली की कविता है। जिसमें धरती को माँ का रूप माना गया है। एवं उस पर स्थित सभी चल-अचल धरती की गोद में समाए हुए हैं। धरती की गोद विशाल है, जिसमें मानव, जीव-जन्तु, नदियाँ, पर्वत, जंगल सभी शामिल है एवं धरती माता अपने अंक को टुकड़ों में बाँट नहीं देखना चाहती है। वे वर्तमान युग के शुभ-अशुभ विभिन्न परिस्थितियों को अपने काव्य में बखूबी ही जीवंत बना देती हैं। धरती कविता में कवयित्री ने समाज में व्याप्त विसंगतियों को पूरे परिवेश के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया है और सफल हुई

हैं। यही सत्यभामा आडिल जी की सफलता का चरम बिंदु है। उनकी कविता की व्यापकता और वैश्विकता को इस कविता में देखा जा सकता है।

''माँ केवल माँ होती है। धरती माँ है, धरती में अच्छी नींद आती है, न झोपड़ी जलने का भय, न राशन के बंदोबस्त की चिंता, न जमीन पर मंदिर, मस्जिद, गुरूद्वारा, गिरजाघर, खुली धरती हवा पानी देती है, धरती में नींद अच्छी आती है। धरती माँ है, वह आग नहीं देती, जल देती है, करूणा से निरंतर भिगोती, अंक को निस्तार देती। माँ केवल माँ होती है, धरती माँ है, धरती ऋण नहीं देती, सब कुछ दान करती।''[7]

संदर्भ :

1. आडिल सत्यभामा, दस्तक देता सूरज, रायपुर : अमरावती प्रकाशन, 2013, पृष्ठ 170
2. मिश्र भवानी प्रसाद, बनी हुई रस्सी, नई दिल्ली : सरला प्रकाशन द्वितीय संस्करण 2008, भूमिका
3. आडिल सत्यभामा, दस्तक देता सूरज, रायपुर : अमरावती प्रकाशन, 2013, पृष्ठ 192
4. आडिल सत्यभामा, दस्तक देता सूरज, रायपुर : अमरावती प्रकाशन, 2013, पृष्ठ 194
5. आडिल सत्यभामा, दस्तक देता सूरज, रायपुर : अमरावती प्रकाशन, 2013, पृष्ठ 236
6. आडिल सत्यभामा, दस्तक देता सूरज, रायपुर : अमरावती प्रकाशन, 2013, पृष्ठ 85
7. आडिल सत्यभामा, दस्तक देता सूरज, रायपुर : अमरावती प्रकाशन, 2013, पृष्ठ 63

■

पर्यावरण संरक्षण में समकालीन हिन्दी साहित्य एवं मीडिया की भूमिका

रश्मि पाण्डेय
शोधार्थी हिन्दी विभाग
शासकीय बिलासा कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय
बिलासपुर (छ.ग.)

पर्यारण वनस्पतियों, प्राणियों और मानव जाति सहित सभी सजीवों और उनके साथ संबंधित भौतिक परिसर पर्यावरण कहलाता है। पर्यावरण संरक्षण से तात्पर्य है, हम अपने चारो ओर के वातावरण को संरक्षित करें तथा उसे जीवन के अनुकुल बनाए रखें क्योंकि पर्यावरण और प्राणी एक-दूसरे पर आश्रित हैं। अधिक जनसंख्या, जल संकट, ओज़ोन डिप्लेशन, ग्लोबल वार्मिंग से लेकर वनों की कटाई और प्रदूषण तक ये सभी पर्यावरण एवं सम्पूर्ण मानव जाति के लिए गंभीर खतरे का विषय हैं। आज के समय में पर्यावरण असंतुलित हो गया है। औद्योगीकरण, बढ़ती जनसंख्या, प्राकृतिक संसाधनों के अंधाधुन्ध इस्तेमाल से आज सम्पूर्ण विश्व का तापमान बढ़ता जा रहा है।

जलवायु परिवर्तन और प्राकृतिक आपदाएँ समकालीन समय की एक प्रमुख वैश्विक महामारी बन चुकी हैं। यह वह समय है जब हमें पर्यावरण को और अधिक क्षरण से बचाना चाहिए। हम सभी को मिलकर पर्यावरण संरक्षण के लिए कार्य करना होगा।

हिन्दी साहित्य में प्रकृति चित्रण

आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक प्रकृति एवं पर्यावरण के लिये हिन्दी साहित्य में विविध रचनाएँ हुई हैं। संस्कृत साहित्य में आदि कवि कालिदास के मेघदूत में प्रकृति का मनोरम चित्रण किया गया है। आरम्भ में ही रामगिरी आश्रम के उस प्रदेश का वर्णन किया गया है जहाँ वृक्ष शीतल छाया प्रदान करने वाले तथा सरोवर माँ सीता के स्नान से पवित्र हैं। यक्ष द्वारा मेघ के प्रति किया हुआ मार्ग-वर्णन प्रकृति की रमणीय झाँकी प्रस्तुत करता है जो कि अतुलनीय है।

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाा प्रेः
वय्या रूठे शिखरमचलः स्निग्धवेणी सवर्णे।
नूनं मास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणी यामवस्याम्
मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेष विस्तार पाण्डुः।।1।।

इसी प्रकार भक्तिकाल में तुलसीदास ने ''रामचरितमानस'' के किष्किन्धा काण्ड में वर्णन किया है कि मनुष्य का शरीर प्रकृति के पाँच तत्त्वों पृथ्वी, जल, पावक, गगन व समीर से मिलकर बना हुआ है।

''छिति जल पावक गगन समीरा
पंच रचित अति अधम सरीरा''।।2।।

रीतिकाल में प्रकृति-चित्रण प्रायः उद्दीपन रूप में हुआ है। प्रकृत का स्वतंत्र और आलम्बन रूप में चित्रण बहुत कम हुआ है। दरबारी कवियों के मुख्य आकर्षण का केन्द्र नारी थी। यही कारण है कि इस युग में प्रकृति के स्वतंत्र रूप की ओर कवियों का ध्यान आकर्षित नही हुआ। प्रकृति के उद्दीपन रूप का चित्रण भी परम्परागत है। रीतिकाल में केशव ने अपने काव्य में प्रकृति के सम्पूर्ण उपादानों का उल्लेख किया है।

'केसव' सरिता सकल मिलित सागर मन मोहैं।
ललित लता लपटात तरून तर तरवर सोहैं
रूचि चपला मिलि मेघ चपल चमकल चहूँ ओरन।
मनभावन कहं भेंटि भूमि कूजत मिस मोरन
इहि रीति रमन रमनी सकल, लागे रमन रमावन
प्रिय गमन करन की को कहै, गमन सुनिय नहिं सावन।।3।।

उसी प्रकार सेनापति द्वारा प्रकृति का सूक्ष्म चित्रण किया गया है।

वृष कौ तरनि, तेज सहसौ किरन करि, ज्वालन जाल बिकराल
बरसत हैं।
तचति धरनि जग जरत झरनि सीरी, छाँट कौं पकरि पंथी-पंछी
बिरमत हैं''

भारतीय साहित्य एवं दर्शन स्वयं में संपूर्ण रूप से पर्यावरण केन्द्रित रहे हैं। पर्यावरण कोई आधुनिक संप्रत्यय नहीं है वरन् वैदिक काल से निरंतर चला आ रहा है। वैदिक काल के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन सभ्यता के व्यक्ति प्रकृति की पूजा करते थे। वैदिक युग में पेड़ पौधों जैसे- तुलसी, बरगद, पीपल, नीम आदि की पूजा होती थी। जिससे वे उनके

औषधीय गुणों को नष्ट होने से बचा सके इस तरह से पर्यावरण को शुद्ध रखने का प्रयास भी होता था। वैदिक युग की मान्यताओं का प्रभाव आज पर्यन्त दृष्टिगोचर होता है, आज भी पेड़-पौधों की पूजा की मान्यता है। आधुनिक काल में छायावादी काव्य तक आते-आते में पर्यावरण के प्रति प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होने लगती है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावादी काव्य को नई काव्यधारा का तृतीय उत्थान नाम दिया है। छायावाद को 'प्रकृति काव्य' भी कहा जाता है। आधुनिक युग में भारतेन्दु युग हिंदी काव्य में विचार और अभिव्यंजना की दृष्टि से परिवर्तन का काल था। रीतिकालीन काव्य की रूढ़िबद्ध शैलियों और विषय की सीमाओं को तोड़कर कविता को नई दिशा देने का प्रयास किया गया। भारतेन्दु की गंगा महिमा में एक ओर गंगा के मनोहर रूप का चित्रण किया गया है तो दूसरी ओर भारतीय संस्कृति से उसका संबंध जोड़ा गया है। वहीं द्विवेदी युग में प्रकृति को काव्य-विषय के रूप में पहली बार महत्वपूर्ण स्थान मिला। इसके पूर्व प्रकृति या तो उद्दीपन के रूप में आती थी या फिर अप्रस्तुत विधान का अंग बनकर। इस युग में प्रकृति को आलंबन तथा प्रस्तुत विधान के रूप में मान्यता मिली। अयोध्या सिंह उपाध्याय हरिऔध के ''प्रिय प्रवास'' का आरंभ ही प्रकृति वर्णन से हुआ है।

दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला
तरू शिखर पर थी अब राजती
कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा।।[5]

हरिऔध के बाद रामनरेश त्रिपाठी एवं मैथिलीशरण गुप्त को इस परम्परा के पोषक के रूप में माना गया। मैथिलीशरण गुप्त की रचना में प्रकृति चित्रण का छोटा सा उदा.-

नहलाती है नभ की दृष्टि
अंग पोंछती आतप सृष्टि
करता है शीश शीतल दृष्टि
देता है ऋतु पति न शृंगार
ओ गौरव गिरि, उच्च उदार।[6]

छायावाद युग को ''प्रकृति काव्य'' का युग कहा गया है। इस काल के कवियों ने प्रकृति का मनोरम चित्रण किया है प्रमुख कवियों—मुकुटधर पाण्डेय, जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानंदन पंत, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, महादेवी वर्मा आदि ने अपने काव्य में प्रकृति एवं पर्यावरण सौन्दर्य का चित्रण किया है। जयशंकर प्रसाद के महाकाव्यात्मक काव्य ''कामायनी'' में सर्वत्र प्रकृति चित्रण दृष्टिगोचर होता है।

वह विकर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का आज लगा हसने फिर से
वर्षा, बीती, हुआ सृष्टि में शरद विकास नये सिर से।।7

सुमित्रानंदन पंत को प्रकृति के सुकुमार कवि कहा जाता है। उनका सम्पूर्ण रचनाओं में प्राकृतिक के प्रति उनका आगाध प्रेम छलकता है—

छोड़ द्रमों की मृदु छाया, तोड़ प्रकृति से भी माया
बाले तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन?
भूल अभी से इस जग को!
तज कर तरल तरंगों को,
इन्द्रधनुष के रंगों को,
तेरे भ्रू भ्रंगों से कैसे बिंधवा दूँ निज मृग सा मन?
भूल अभी से इस जग को।[8]

महाप्राण सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' के काव्य में प्राकृतिक वस्तुओं को मूर्तिमान बनाने वाला मानवीकरण दिखाई पड़ता है। उन्होंने अपने दार्शनिक भावों की अभिव्यक्ति प्रकृति के माध्यम से की है। शेफालिका, वन बेला, नर्गिस, तुम और मैं आदि कविताएँ रहस्मयी चेतना का ही बोध कराती है।

विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी-स्नेह-स्वप्न-मग्न
अमल-कोमल-तनु तरूणी जुही की कली,
दृग बन्द किये, शिथिल-पत्रांक में,'[9]

महादेवी वर्मा के प्रकृति चित्रण की एक अनूठी विशेषता यह रही कि उन्होंने प्रकृति पर नारी रूप का आरोप किया।

निशा को धो देता राकेश
चाँदनी में जब अलकें खोल,
कली से कहता था मधुमास
बता दे मधु मंदिर का मोल,
झटक जाता था पागल वात
धुलि में तुहिन कणों के हार
सिखाने जीवन का संगीत
तभी तुम आये थे इस पार।[10]

समकालीन साहित्य में प्रकृति चित्रण

मनुष्य की भोगवादी प्रवृत्ति ने आज प्रकृति के संतुलन को खतरे में डाल दिया है। यही कारण है कि आज अकाल, बाढ़, सूखा आदि का निरन्तर सामना करना पड़ रहा है। हर वर्ष कहीं न कहीं प्राकृतिक विनाश की घटनायें घटित हो रही हैं। अज्ञेय ने अपनी कविता में कहा है कि ''मानव का रचा हुआ सूरज, मानव को भाप बनाकर सोख रहा है।'' उन्होंने अपनी कविता ''असाध्य वीणा'' में मनुष्य को अहं का त्याग करने तथा आत्मानुभूति प्राप्त करने की प्रेरणा दी है।

वर्त्तमान समय में अधिकतम कार्य ऊर्जा उत्पादन, विद्युत उत्पादन नाभिकीय विखंडन एवं नाभिकीय संलयन आदि विधियों से किया जा रहा है। इससे वन नष्ट हो रहे हैं रेडियो एक्टिव विकिरण उत्सर्जित होने लगा है तापमान में लगातार वृद्धि हो रही है इसके दुष्परिणामों ने भी साहित्यकारों का ध्यान आकर्षित किया है। कवि दीपक की पंक्ति है—

''पास के एक गाँव में भटकी एक कोयल
कूक रही है भरी दुपहरिया में
कंक्रीट की अमरैया में,
कहाँ बची है छाँव
जो इत्मिनान से तू ले सके आलाप
कोई तो अमराई बची होंगी कहीं पर।''

''सागरिका'' पत्रिका में प्रकाशित कविता में मनुष्य को पर्यावरण के प्रति सचेत करने का प्रयास कुछ इस तरह है—

''हेलो मनुष्य
मैं आकाश हूँ
कल सृजन था, निर्माण था
आज प्रलय हूँ, विनाश हूँ
मेरी छाती में जो छेद हो गये हैं काले काले
ये तुम्हारे भालों के घाव हैं
ये कभी नहीं भरने वाले।[12]

पर्यावरण संरक्षण में मीडिया की भूमिका

जनसंचार माध्यम पर्यावरण की सुरक्षा में सकारात्मक भूमिका का निर्वाह कर सकता है। पर्यावरण संरक्षण, पर्यावरण जागरूकता, पर्यावरण प्रबंधन, पर्यावरण शिक्षा हेतु व्यापक चेतना लाने में मीडिया का योगदान आवश्यक है। मीडिया का एक कार्य जनमत तैयार करना

माना जाता है। पर्यावरण के मुद्दे पर मीडिया की भूमिका को यदि हम देखे तो मीडिया के सभी माध्यम इसे किसी न किसी रूप में अपनाते रहे हैं। मीडिया की पहुँच सीधे जनता तक है यद्यपि मीडिया एकमात्र माध्यम है, जो पर्यावरण संरक्षण एवं संवर्धन के लिये जनता को जाग्रत कर सकता है। लेकिन सामान्य परिस्थति में देखा गया है पर्यावरण और वन्यजीव जैसे मुद्दों को मीडिया में सबसे कम स्थान व समय मिलता है। विध्वंस व प्राकृतिक आपदा जैसे घटनाक्रमों के समय ही इन्हें सम्पूर्ण कवरेज प्राप्त हो पाता है। पर्यावरण संरक्षण एवं संवर्धन को मीडिया एक मुद्दा बना सकता है।

निष्कर्ष

पर्यावरण संरक्षण एवं संवर्धन में संचार क्रांति की अहम भूमिका है। जैसे-जैसे संचार के नये-नये आयाम विकसित हो रहे हैं, लोगों में विचारों और ज्ञान का प्रवाह करने में आसानी होती जा रही है। इसी तरह पर्यावरण संरक्षण एवं संवर्धन के प्रति भी लोगों को सचेत करने में मीडिया अपनी जिम्मेदारी का भलीभांति निर्वहन कर सकती है। वहीं साहित्य की बात की जाये तो आधुनिक हिन्दी साहित्य में पर्यावरण चेतना को विषय बनाकर साहित्यकारों ने अपनी कलम के द्वारा मानव समुदाय को जागरूक करने का जो सार्थक प्रयास किया है, वह अनुकरणीय है।

संदर्भ :

1. प्रसाद जयशंकर, कामायनी, प्रथम संस्करण 1995
2. शर्मा ऋषभदेव, मैं आकाश बोल रहा हूँ, सागरिका पत्रिका पृ. 52.
3. कालिदास महाकवि, मेघदूत
4. शेष, डॉ वासुदेवन (2017) आधुनिक कवियों के काव्य पर समालोचनात्मक दृष्टि। हिंदी साहित्य में प्रकृति चित्रण (सं.) शांसुन जैन कालेज, बोध प्रकाशन चैन्नई।
5. दास तुलसी, रामचरितमानस, किष्किन्धाकाण्ड श्लोक 11 में चौपाई 2 गीताप्रेस, गोरखपुर।
6. पर्यावरण कला

■

आधुनिक काल में प्रकृति

प्रियंका मिश्रा

राजीव गांधी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय

अम्बिकापुर, सरगुजा, छत्तीसगढ़

प्रकृति ईश्वर द्वारा रचित सर्वोत्कृष्ट उपहार है जिसे मानव को उसके कल्याण के लिए दिया गया है, तथा मानव ईश्वर की अनुपम कृति है। मानव शरीर का निर्माण पंचतत्वों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु , आकाश) से मिलकर हुआ है। मानसकार तुलसीदास के अनुसार—

"क्षिति जल पावक गगन समीरा।
पंच रचित यह अधम शरीरा।।"[1]

प्रकृति मानव की चिरसंगिनी रही है तथा पर्यावरण का ही पर्याय प्रकृति है। भारतीय संस्कृति में पर्यावरण का विशेष महत्व है। पर्यावरण शब्द अत्यन्त व्यापक है जिसमें सारा ब्रह्माण्ड समाया हुआ है। जैसा कि सर्वविदित है चारों ओर से ढका हुआ आवरण ही पर्यावरण है। पर्यावरणविद फिटिंग के अनुसार— "सजीवों का पारिस्थितिकीय योग ही पर्यावरण है।"[2] वस्तुतः पर्यावरण के दो घटक होते हैं—प्रथम भौतिक जिसमें जल, स्थल, और वायु आते हैं। तथा द्वीतीय जैविक घटक जिसमें पेड़-पौधे व छोटे-बड़े सभी जीव-जन्तु आते हैं। प्रकृति से इतर समाज कभी भी गतिशील नहीं हो सकता और क्योंकि 'साहित्य समाज का दर्पण होता है इसलिए साहित्य भी प्रकृति से विच्छिन्न नहीं हो सकता है।

हिन्दी साहित्य में सभी ख्याति प्राप्त साहित्यकारों नें अपने साहित्य में बखूबी प्रकृति का चित्रण किया है। प्रकृति के चित्रण के बिना साहित्य अधूरा है। यूँ तो साहित्य सृजन का मुख्य विषय मानव है, परन्तु प्रकृति के सहयोग के बिना मानवीय चेष्टाओं एवं मनोदशाओं की अभिव्यक्ति भावरहित और नीरस बन जाती है।

आधुनिक युग में भारतेंदु काल हिन्दी काव्य में अभिव्यंजना की दृष्टि से परिवर्तन का काल है। नई शैली में अधिक स्वच्छन्दता के साथ प्रकृति वर्णन प्रस्तुत किया गया है। भारतेंदु की कृतियों में एक ओर गंगा के मनोहर रूप का चित्रण किया गया है तो दूसरी ओर भारतीय

संस्कृति से भी उसका संबंध जोड़ा गया है। विदित हो कि भारतेंदु के पूर्व प्रकृति का चित्रण प्रायः आलंबन रूप में ही होता था। भारतेंदु युग एक ओर तो परम्पराओं का निर्वहन करता ही है वहीं दूसरी ओर नवीन जागरण की चेतना भी उसमें मुखरित होती है। संभवतः यही कारण है कि इस युग को नवजागरण काल भी कहा जाता है। प्रकृति के चित्रण में भी इस बात की झलक देखने को मिलती है।

इस युग में यह बात भी दृष्टव्य है कि इस युग के प्रायः सभी कवि प्रकृति का चित्रण करते हुए देश की दयनीय दशा को कभी नहीं भूलते, यथाः—

"भारत में मची है होरी, दीन दशा अंसुअन पिचकारी
सब मिलकर भिजियोरी"[3]

वस्तुतः पृथ्वी पर जब से मानव का उद्भव हुआ है या यूँ कहें कि जब से इसका अस्तित्व है तब से लेकर संप्रति युग तक असंतुलित पर्यावरण मानव के लिए एक चुनौती बनी हुई है। प्रारंभ में यह चुनौती इतनी बड़ी नहीं थी क्योंकि तब मानव ठीक उसी प्रकार प्रकृति की गोद में जीवन व्यतीत किया करता था जैसे एक शिशु अपनी माता की गोद में। जैसे-जैसे वह विकास के मार्ग पर आगे बढ़ता गया उसकी आवश्यकताएँ भी बढ़ती चली गईं, और आज समय ऐसा आ गया कि वह प्रकृति द्वारा प्रदत्त वस्तुओं का इतनी निर्दयता से दोहन कर रहा है कि अपनी स्वार्थलोलुपता के कारण वह भावी पीढ़ियों के लिए भी कुछ नहीं छोड़ रहा है।

मानव की इस स्वार्थ का नतीजा यह हो रहा है कि प्रकृति धीरे -धीरे अपना संतुलन खो रही है। और इसके दुष्परिणाम न केवल मानव को बल्कि प्रायः सभी प्राणियों को भुगतने पड़ रहे हैं। कहा जाता है कि प्रकृति परमात्मा का नेत्र होती है। और परमात्मा अपने नेत्रों से मनुष्यों के सारे कृत्य देखते हैं। संभवतः इसी कारण मनुष्य जितना प्रकृति को देता है प्रकृति सूद समेत वापस कर देती है। मानसकार तुलसीदास जी का कथन है कि—

"जलचर, थलचर, नभचर नाना,
जे जड़ चेतन जीव जहाना।"[4]

वर्तमान समय में मनुष्य आधुनिकता और वैज्ञानिकता को इतनी तन्मयता से आत्मसात कर रहा है कि उसने प्रकृति पर इसके पड़ने वाले प्रभाव से अनभिज्ञता धारण कर ली है। उसके इस कृत्य की कीमत उसके साथ-साथ सभी प्राणियों को चुकानी पड़ रही है। बर्ड फ्लू और अनेक खतरनाक महामारियाँ इसके ज्वलंत उदाहरण हैं। सन् 2020 की कोरोना महामारी इसका तत्कालीन उदाहरण है जिसके कारण वर्तमान 2023 ई. तक भी इससे निजात नहीं मिल पाया है। भोपाल गैस काण्ड, जापान के हिरोशिमा और नागासाकी पर

गिराये गये परमाणु बम इतिहास के पन्नों में भले ही कई वर्षों पुराना हो गया हो परन्तु उसके प्रभाव कतई पुराने नहीं हुए हैं। आज भी नवजात शिशु अंग-भंग के साथ उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार सन् 2013-14 केदारनाथ जलप्रलय, बंगाल में पड़ा भीषण आकाल आदि इस बात को सर्वसम्मति से सिद्ध करते हैं कि मनुष्य किस कदर प्रकृति से दूर होता जा रहा है।

हिन्दी साहित्य में वैसे तो कोई ऐसा विषय नहीं हैं जो मानव जगत से सम्बन्ध रखता हो और साहित्य के विद्वानों ने उस पर अपनी लेखनी न प्रस्तुत की हो, परन्तु फिर भी जब बात पर्यावरण चेतना की आती है तो यह कहा जा सकता है कि इस विषय में हिन्दी के साहित्यकारों ने अपनी कलम के माध्यम से पर्यावरण और प्रकृति के विभिन्न अवयवों, प्राकृतिक प्रेम, नदी, जल, जंगल, आकाश, पृथ्वी, पेड़-पौधे, पशु-पक्षियों आदि को अपने साहित्य का विषय बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। खासकर 'पर्यावरण चेतना' यह एक ऐसा विषय है जिसके न रहने से मानव जाति का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। अतः कहा जा सकता है कि साहित्य का मानव प्रकृति और पर्यावरण से अत्यन्त घनिष्ठ संबंध है तथा इसका संरक्षण और संर्वधन मनुष्य मात्र पर निर्भर है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में काल विभाजन के संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काल विभाजन सर्वमान्य है, परन्तु आधुनिक काल के सन्दर्भ में डॉ. नगेन्द्र का विभाजन अत्यधिक संगत प्रतीत होता है अतः उनके अनुसार आधुनिक काल के विभाजन की एक झलक इस प्रकार हैः-

1.	पुनर्जागरण काल (भारतेंदु काल)	1857-1900 ई.
2.	जागरण सुधार काल (द्विवेदी काल)	1900-1918 ई.
3.	छायावाद-काल	1918-1938 ई.
4.	छायावादोत्तर -काल	
	(क) प्रगति-प्रयोग-काल	1938-1953 ई.
	(ख) नवलेखन -काल	1953ई. से .....

स्पष्ट है कि डॉ. नगेन्द्र ने आधुनिक काल को मुख्य रूप से चार भागों में विभाजित किया है। आगे हम इन कालों के कुछ प्रमुख कवि और उनकी प्रकृति से सम्बन्धित रचनाओं में पर्यावरणीय चिंतन को देखेंगे।

भारतेंदु युगीन रचनाकारों ने जितनी भी काव्य रचनाएँ रची हैं उनमें एक ओर तो वे कुछ सीमा तक भक्तिकाल और रीतिकाल की परम्पराओं का निर्वाह करते हैं तो वहीं दूसरी ओर उनमें समकालीन परिवेश के प्रति जागरूकता की भी कमी नहीं है। इस बात का अन्दाजा

इस से ही लगा सकते हैं कि तब देश गुलामी की दासता झेल रहा था और कविवर भारतेंदु सहित भारतेंदु मण्डल के साथ अन्य सभी साहित्यकारों की रचनाओं में देशभक्ति की झलक देखने को मिलती है।

इसी प्रकार इस युग के रचनाकारों द्वारा किया गया प्रकृति चित्रण का भी अपना महत्व है। भारतेंदु कृत 'बसंत होली', अंबिकादत्त व्यास की 'पावस-पचासा', गोविन्द गिल्लाभाई की 'षड़ऋतु' और 'पावस पयोनिधि' आदि में प्रकृति का चिंतन हुआ है परन्तु इन्होंने ऋतु विशेष में नायक-नायिकाओं के मनोंभावों के वर्णन में अधिक रूचि दिखाई है। ठाकुर जगन्मोहन सिंह ने स्वतन्त्र प्रकृति चित्रण किया है। यथा—

''पहार अपार कैलास से कोटिन ऊँची शिखा लगी अम्बर चूम।
निहारत दीठी भ्रमै पगिया गिरि जात उतंगता उपर झूम।।''[5]

इन सभी के अलावा भारतेंदु हरिश्चन्द्र ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' में 'गंगा वर्णन' तथा, चन्द्रावली नाटिका में 'यमुना वर्णन' किया है।

वर्तमान समय में मानव द्वारा किया गया जल प्रदूषण इतना हावी हो गया है कि अपनी कृतियों की सृजनात्मकता के लिए कवियों को नदियाँ अपने मूल स्वरूप में नहीं उपलब्द हो पा रही हैं। यदि समय रहते इसके प्रति जनसमुदाय जागृत नहीं हुआ तो निश्चित रूप से वह दिन दूर नहीं जब केवल कल्पना करके प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन काव्यसर्जक कर पाएंगे। भारतेंदु ने भी जिस यमुना की सुन्दरता का भावप्रवण सौन्दर्य वर्णन 'चन्द्रावली में' किया है उसकी दशा भी द्वापर युग में प्रदूषण के कारण अत्यन्त दयनीय थी जब कालिया नाग उसके जल में निवास किया करता था। परन्तु तब लोकरंजक श्रीकृष्ण ने उसका मान मर्दन कर जल प्रदूषण की समस्या से निजात दिलाया था, किन्तु वर्तमान समय में कोई ऐसा व्यक्तित्व नहीं है जो प्रदूषण की समस्या से छुटकारा दिलाकर मानव जाति और जीव मात्र का कल्याण सुनिश्चित कर सके।

जागरण सुधार काल (सन् 1900-1918 ई.) में भी कई ऐसे रचनाकार हुए जिन्होंने अपने चिंतन का दायरा प्रकृति वर्णन तक बढ़ाया। इस सम्बन्ध में द्वीवेदी जी के द्वारा 'कुटज' में लिखित एक वक्तव्य दृष्टव्य है-

''यह धरती मेरी माता है और मैं इसका पुत्र हूँ इसलिए मैं सदैव इसका सम्मान करता हूँ, और मैं धरती माता के प्रति नतमस्तक हूँ।''[6]

स्पष्ट है कि प्रकृति और पर्यावरणीय चेतना की जब भी बात की जायगी तो ऐसा हो ही नहीं सकता कि आधुनिक हिन्दी साहित्य का जिक्र न किया जाये। ऐसा इसलिए क्योंकि आधुनिक हिन्दी साहित्य में पर्यावरण को बचाये रखने के लिए साहित्यकारों ने अपनी लेखनी

के माध्यम से पर्यावरण का वर्णन अपनी भाषा में कर लोगों को जागरूक करने का प्रयास किया है। साथ ही भविष्य के लिए उनके संरक्षण और संवर्धन की बात भी की है। इस बात का अंदाजा इसी से लगाया जा सकता है कि किसी लेखक ने जल संरक्षण के प्रति लोगों को जागरूक करते हुए लिखा—

"नमन करो तालाबों को
नमन करो इन नदियों को
यदि हम इन्हें बचा पाए तो
ये बचाएंगे सदियों को
गंगा जैसी पावन धारा
पूरी तरह प्रदूषित है।
आज इसी पल सोच कर देखो
जीवन कहाँ सुरक्षित है।"[7]

साहित्यकार यहाँ जल संरक्षण की आवश्यकताओं और जल प्रदूषण के दुष्परिणामों की ओर संकेत कर रहा है। कुछ इसी प्रकार ऋषभदेव शर्मा' जी ने भी अपनी लेखनी के माध्यम से स्पष्ट किया है कि प्राकृतिक तत्वों और पंचतत्वों का संरक्षण कितना आवश्यक है। यथा—

"हैलो मनुष्य
मैं आकाश हूँ
कल सृजन था, निर्माण था
आज प्रलय हूँ विनाश हूँ
मेरी छाती में जो छेद हो गये हैं काले-काले
वे तुम्हारे भाले के घाव हैं
यह कभी नहीं भरने वाले।"[8]

अर्थात् हे मनुष्य तुम्हारे द्वारा जो क्षति मुझे पहुँचाई जा रही है उसकी भरपाई करना अत्यन्त दुष्कर है,और यदि मेरा स्वरूप आज विनाशकारी है तो इसके उत्तरदायी केवल तुम ही हो।

छायावाद (1918-1938) का प्रकृति चित्रण मुख्यतः इस युग के आधार स्तम्भों की विचारधारा पर आधारित है। प्रकृति और पर्यावरण विषय की बात हो और छायावाद का जिक्र न हो यह बात असंभव है। छायावादी कवियों की प्रायः रचनाएँ प्राकृतिक सुषमा ग्रहण किये

हुए हैं। वस्तुतः छायावाद में प्राकृतिक चित्रण मुख्यतः आलंबन ,उद्दीपन, आश्रय तीनों रूपों में हुआ है। प्रमुख छायावादी कवियों में जयशंकर प्रसाद (1890-1939 ई.), सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' (1897-1962 ई.), महादेवी वर्मा (1907-1987 ई.) तथा सुमित्रानन्दन पन्त (1900-1970 ई.) हैं। इन सभी ने प्राकृतिक उपादानो का सांगोपांग वर्णन किया है। इन कवियों ने प्राकृतिक उपादानों के माध्यम से वैयक्तिक अनुभूतियों को प्रकट किया है। छायावादी कवि पर्यावरण में होने वाले प्रदूषण यथा—जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण, मृदा प्रदूषण, वन्य जीवों एवं पशु-पक्षियों के संरक्षण एवं जल प्रलय आदि समस्याओं के प्रति चिंतित एवं सजग हैं। अनेक पवित्र नदियों यथा—गंगा, यमुना, कावेरी आदि के प्रदूषित होते जल को देखकर कवि आँसू बहाते दृष्टिगत होते हैं। कामायनी में हुए जल प्रलय द्वारा जो सृष्टि का विनाश हुआ उसके लिए कवि ने देवताओं की स्वेच्छाचारी प्रवृत्ति को जिम्मेदार बताया है।

वर्तमान समय में भी मनुष्यों की स्वार्थी प्रवृत्ति के कारण ही केदारनाथ के जलप्रलय (सन् 2013) की विभीशिका देखने को मिली थी। वस्तुतः प्रकृति संरक्षण के योग्य है, वह हमेशा हमें कर्मनिष्ठ बने रहने की प्रेरणा देती है। छायावादी कवियों की पर्यावरणीय चेतना और प्रकृति के प्रति सजगता वर्तमान समय में भी मौलिक और प्रासंगिक है।

स्पष्ट है कि छायावादी कवियों का प्रकृति से अभिन्न जुड़ाव रहा है संभवतः यही कारण रहा हो कि सागर में उठती हिलोरें हों अथवा शीतल पवन का झोंका ,जब भी कवि हृदय की कली को प्रस्फुटित कर नवीन सुवास से भरता है तथा पक्षियों का कलरव जब उसके कर्ण कोटरों में पड़ती है तो कविता की धारा उसके कंठ से स्वतः ही प्रवाहित हो उठती है और वह उस पक्षी से पूछ बैठता है—

"प्रथम रश्मि का आना
रंगिणि कैसे तूने पहचाना?"[9]

परन्तु पर्यावरण के प्रदूषण की विभीशिका ने वर्तमान समय में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं कि एक ओर जहाँ रत्नाकर के प्रदूषित होने के कारण जलीय जीव लगातार काल के गाल में समा रहे हैं तो दूसरी ओर पक्षियों ने भी जीने की आस छोड़ दी है तथा स्वदेश से लगातार पलायन कर रहे हैं।

कविवर जयशंकर प्रसाद कृत कामायनी का प्रारंभ भी प्रलयकाल में मनु द्वारा प्रकृति के सम्बन्ध में किये जाने वाले चिन्तन से प्रारम्भ होता है जो निश्चित रूप से वर्तमान में भी प्रासंगिक है। इस संदर्भ में कामायनी की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—

''हिमगिरि के उतंग शिखर पर
बैठ शिला की शीतल छांह
एक पुरूष भीगे नयनों से
देख रहा था प्रलय प्रवाह।
नीचे जल था उपर हिम था
एक तरल था एक सघन
एक तत्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन।''[10]

यहाँ मनु की प्राकृतिक असंतुलन और अति दोहन के प्रति यह चिन्ता स्वभाविक ही है। वास्तव में यहाँ आधुनिक भौतिक विज्ञान की यह थ्योरी—''प्रत्येक क्रिया के प्रति विपरीत प्रतिक्रिया' सार्थक जान पड़ती है। क्योंकि प्रकृति का मानव के साथ भी यही व्यवहार है। मानव जाति उसके साथ जैसा व्यवहार करती है, वैसी ही प्रतिक्रिया प्रकृति मनुष्य को देती है। अतः एक शब्द में कहा जा सकता है कि प्रकृति जनमानस के साथ सदैव न्याय करती है।''

सृष्टि के पश्चात् कालान्तर में प्रलय होना प्रलय का सहज क्रम है, परन्तु इस प्रकार की प्राकृतिक आपदा हेतु सर्वाधिक जिम्मेदार मनुष्य की अर्थलोलुप प्रवृत्ति ही है। हिम-गलन और भू-स्खलन भी एक प्रकार की प्राकृतिक आपदा है। 6 फरवरी 2023 ई. को तुर्की और सीरिया देश की सीमा पर 7.8 तीव्रता का भूकम्प आया जिसने पूरे संसार को दहला कर रख दिया। कुछ साल पूर्व के इतिहास पर नजर डालें तो 2 दिसम्बर 1984 ई. का भोपाल गैस काण्ड और 6 तथा 9 अगस्त 1945 को जापान देश में हुए परमाणु हमले ऐसी ऐतिहासिक घटनाएँ हैं जिनसे मानव को सबक लेना चाहिए परन्तु विलासिता के मद में डूबे मानव को इस बात की फुर्सत कहाँ। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने ठीक ही कहा था—

''धरती माँ हर जीवधारी की आवश्यकताओं को तो पूरा कर सकती है, परन्तु किसी के लालच की नहीं।''[11]

पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की 'जूही की कली' प्रकृति के मानवीकरण का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है यथा—

''विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी-स्नेह-स्वप्न-मग्न-अमल-
कोमल-तनु-तरूणी-जूही की कली,
दृग बन्द किये,शिथिल-पत्रांक में।''[12]

प्रकृति के सुकुमार कवि सुमित्रानन्दन पंत ने 'गुंजन' काव्य के 'नौका विहार' कविता में गंगा के स्निग्ध, कोमल वातावरण का वर्णन करते हुए लिखा है—

'शान्त स्निग्ध ज्योत्सना उज्ज्वल
अपलक अनंत नीरव भू-तल
शैकत शैय्या पर दुग्ध धवल
तन्वंगी-गंगा, ग्रीष्म विरल।
लेटी है शांत क्लांत निश्चल''[13]

इसी प्रकार महादेवी वर्मा ने भी 'वर्षा सुन्दरी', 'सांध्य गीत' आदि रचनाओं में प्राकृतिक सुषमा का वर्णन किया है। उन्होंने प्राकृतिक बिंबों के माध्यम से जीव और ब्रह्म के वार्तालाप की सहज सुन्दर अभिव्यक्ति की है। यथा—

''जब कपोल गुलाल पर शिशु प्रात के
सूखते नक्षत्र जल के बिन्दु से,
रश्मियों की कनक धारा में नहा
मुकुल हँसते मोतियों का अर्घ्य दे।
स्वप्न शाखा में यवनिका डाल जो ,
तब दृगों को खोलता वह कौन है।''[14]

छायावादी काव्य में निहित प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन अब आकाश कुसुम सदृश हो गया है। अब प्रकृति पूर्व की भांति मुक्त रूप से विहार नहीं करती बल्कि अपने अतीत गौरव पर करूण विहार करती नजर आती है। प्रकृति की इस पीड़ा का वर्णन पंत जी ने कुछ इस प्रकार किया है—

''समदिग यान्त्रिकता में बंधकर
बन सकता मनुज न चक्रदन्त।''[15]

इसी प्रकार प्रकृति में पेड़ों द्वारा सूर्य के प्रकाश में भोजन बनाने की क्रिया (प्रकाश संश्लेषण) का भी सुन्दर और सटीक वर्णन छायावादी काव्य में मिलता है।यथा-

''वह सूर्यकिरण मणिपात्रों से
पीता स्वर्णिम चित्त-रस आसव।''[16]

वृक्षों को ब्रह्म की उपाधि दी गई है। श्रीकृष्ण ने गीता में स्वयं को अश्वत्थ (पीपल) वृक्ष बताया है। परन्तु विडम्बना यह है कि मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए इसका विनाश करने से पीछे नहीं हट रहा है। जबकि वृक्षों की सजीवता का प्रमाण तो वैज्ञानिक भी दे चुके हैं।

छायावादोत्तर (सन् 1930 के आसपास) काव्य में भी कवियों ने प्रकृति और पर्यावरण के प्रति अपने चिन्तन को इसी प्रकार जागृत रखा किन्तु जनमानस ने इसके प्रति खास रुचि नहीं दिखाई। केदारनाथ अग्रवाल की 'चन्द्रगहना से लौटती बेर', माखनलाल चतुर्वेदी की 'पुष्प की अभिलाषा' ,अज्ञेय का 'हरी घास पर क्षण भर', मुक्तिबोध का 'चाँद का मुँह टेढ़ा है', नरेश मेहता का 'बोलने दो चीड़ को', दुष्यंत कुमार का 'सूर्य का स्वागत' आदि अनेक ऐसी रचनाएँ हैं जिसमें कवियों ने अनुपम प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन किया है। साथ ही वर्तमान समय में भी कई ऐसे साहित्यकार हैं जिन्होंने अपनी रचनाओं में प्राकृतिक दोहन से प्रकृति को होने वाली पीड़ा का सस्वर वर्णन किया है। इस संदर्भ में संथाली कवियित्रि 'निर्मला पुतुल' की बूढ़ी पृथ्वी के दुःख नामक कविता की कुछ पंक्तियां दृष्टव्य हैं-

''खून की उल्टियाँ करते
देखा है कभी हवा को, अपने घर के पिछवाड़े ?
थोड़ा-सा वक्त चुराकर बतियाया है कभी
कभी न शिकायत करने वाली
गुमसुम बूढ़ी पृथ्वी से उसका दुःख?
अगर नही, तो क्षमा करना
मुझे तुम्हारे मानव होने पर संदेह है।''[17]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि आधुनिक कवियों ने अपनी रचनाओं में न केवल परम्परागत रूप से प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन किया है वरन मानव द्वारा प्रकृति को पहुँचाए जाने वाली तकलीफों का भी सजीवता से वर्णन किया है। प्रकृति और मानव के अन्तर्सम्बन्ध को बताने के साथ ही प्रकृति और ब्रह्म के सम्बन्ध का वर्णन भी बखूबी किया है। इस काल में प्रकृति का मानवीकरण तो किया ही गया है साथ ही प्रकृति का नारी रूप में वर्णन भी हमें देखने को मिलता है। जिन कवियों ने पर्यावरण के प्रति अपनी चिन्ता को अपनी कृतियों में वर्णित किया है, निश्चित रूप से उन्होंने यह अपेक्षा रखी है कि जनमानस प्रकृति के संरक्षण के प्रति जाग्रत हो और जितना हो सके वह उसका कम से कम दोहन करे।

जिन कवियों ने प्रकृति का मानवीकरण किया है उन्होंने यह दिखाने का प्रयास अवश्य किया है कि जिस प्रकार मनुष्य चोट लगने पर अथवा अन्य किसी भी प्रकार की असुविधा होने पर पीड़ा का अनुभव करता है ठीक उसी प्रकार प्रकृति भी अपने उपर हो रहे अत्याचार और अतिशय दोहन से दुःखी है। और अपनी पीड़ा चीख-चीख कर बयां कर रही है। निर्मला पुतुल जी की 'बूढ़ी पृथ्वी का दुःख' और 'आओ मिलकर बचाएं' आदि रचनाएँ इस बात का सशक्त उदाहरण हैं। अतः कहा जा सकता है कि पर्यावरण प्रेमी इन साहित्यकारों की

कालजयी कृतियों से प्रेरणा लेकर और प्रखर रचनाएँ लिखी जा सकती हैं और उनके द्वारा जन-जन के हृदय में प्रकृति और पर्यावरण के प्रति चेतना लाने का प्रयास किया जा सकता है।

संदर्भ :

1. तुलसीदास : रामचरितमानस किष्किन्धाकाण्ड श्लोक 11 में चौपाई 2,गीताप्रेस, गोरखपुर।
2. सम्पादक,दधिचि,डॉ. एल. के. -पर्यावरणीय शिक्षा, पृ.-2 संस्करण-2007, व. म.खु.वि.वि. कोटा।
3. भारतेंदु समग्र. पृ. 517
4. श्रीरामचरितमानस वंदना प्रसंग बालकाण्ड तुलसीदास
5. डॉ. नगेन्द्र-हिन्दी साहित्य का इतिहास 57 संस्करण, मयूर पेपरबैक्स एस.आर.बी. 43ए, शिप्रा रिवेरा, ज्ञान खण्ड 3, इंदिरापुरम 201014, पृ. क्रमांक-445
6. प्रसाद, हजारी—हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रन्थावली,'कुन्ज' अंक-9पृ.क्र.-32,राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली।
7. शर्मा ऋषभदेव—'मैं आकाश बोल रहा हूँ', सागरिका पत्रिका-पृ. क्र.-52
8. पंत, सुमित्रानंदन—गुंजन, पृ. 36, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद सं.-2014
9. प्रसाद, जयशंकर—'कामायनी' पृ. 13,14, हिन्द पॉकेट बुक्स नई दिल्ली, सं.-2000
10. पुरोहित, सिंह—पर्यावरण डाइजेस्ट पत्रिका, जून 2013, पृ. 35
11. पं. सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला—'जूही की कली'
12. पंत, सुमित्रानंदन—गुंजन, पृ. 78, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, सं.-2014
13. वर्मा, महादेवी—संधिनी, पृ. 75, लोकभारती प्रकाशन इलाहाबाद, सं. 2005
14. पंत, पं. सुमित्रानंदन—पल्लव, पृ. 73, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.1993
15. पुतुल, निर्मला—बूढ़ी पृथ्वी का दुःख।

■

मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियों में प्रकृति

अफीफा फातिमा शेक (शोधार्थी)
वेल्स इंस्टीट्यूट आफ साइंस एंड टेक्नोलॉजी एडवांस स्टडीज (विस्टास),
पल्लवरम, चेन्नई (तमिलनाडु)

डॉ. पूर्णिमा श्रीनिवासन
असिस्टेंट प्रोफेसर
वेल्स इंस्टीट्यूट आफ साइंस एंड टेक्नोलॉजी एडवांस स्टडीज (विस्टास)
पल्लवरम, चेन्नई (तमिलनाडु)

प्रस्तावना

प्रकृति अपने आप में सुंदर है, और मानव स्वभाव से ही सौंदर्य प्रेमी माना गया है। इसी कारण प्रकृति और मानव का संबंध इतना ही पुराना है जितना कि इस सृष्टि के आरंभ का इतिहास। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश नामक जिन पाँच तत्वों से सृष्टि की उत्पत्ति और विकास मानते हैं वह भी तो अपने मूल स्वरूप में वस्तुतः प्रकृति के ही अंग है। फिर यह मान्यता भी प्रचलित और प्रसिद्ध है कि ''साहित्य-सर्जन की प्रेरणा व्यक्ति को प्रकृति के रहस्यमय कार्यों एवं गतिविधियों को देखकर ही प्राप्त हो सकी है।''[1] मानव और प्रकृति का संबंध अनादि और चिरंतन है। इसी कारण मानव जीवन की उपलब्धि साहित्य और प्रकृति का संबंध भी उतना ही अनादि, चिरंतन और शाश्वत है जितना की मानव और प्रकृति का। ''प्रकृति सदा से ही मानव की चिरसंगनी रही है। सृष्टि के प्रारंभ में मानव ने प्रकृति के गोद में ही अपनी आंखें खोली। प्रातः कालीन उषा की लालिमा, पेड़ों पर समूह में बैठी हुई चिड़ियों की चहचहाहट, रात्रि के समय नभ मंडल पर टिमटिमाते तारे, आकाश में छाई हुई काली घटाएं, बारिश ना जाने कितने ही प्राकृतिक सौंदर्य सदा से ही मानव आकर्षण का केंद्र रहे हैं। प्रकृति का चित्रण करते समय प्रकृति में आने वाले पेड़, नदी, फूल, पंछी आदि सब का चित्रण किया जाता है।''[2]

आधुनिक हिंदी साहित्य जगत की उभरती युवा कथाकार मनीषा कुलश्रेष्ठ का सृजनात्मक साहित्य हिंदी की अनमोल निधि है। हिंदी कथा साहित्य कि वे सशक्त लेखिका है। मनीषा कुलश्रेष्ठ ने एक सफल कहानीकार के रूप में पर्याप्त प्रतिष्ठा अर्जित की है। मनीषा कुलश्रेष्ठ ने भी अपनी कहानियों में प्रकृति कें सभी रूपों का चित्रण किया है। संसार में प्रकृति अनेक रूपों में व्याप्त है। यह एक विराट सत्ता है। यह कभी मधुर सज्जित रूप में हमारे सामने आती है तो कभी रूखे और कर्कश रूप में। यह कहीं सुंदर विशाल है तो कहीं उग्र और भयंकर। अपनी चिर साहचर्य की भावना के कारण साहित्यकार प्रकृति के सभी रूपों में लीन होता है। ऐडोनिस का रक्त लिली के फूल, रक्स की घाटी : शबे फितना, अनामा, कठपुतलियाँ आदि में संकलित इनकी कहानियाँ न सिर्फ कहानी कला की दृष्टि से बल्कि सामाजिक समस्याओं की अभिव्यक्तिकरण की दृष्टि से भी अपना विशेष महत्व रखती है। मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानी एडोनिस का रक्त लिली के फूल' में मन को आकर्षित करने वाला रूप चित्रित किया गया है। प्रकृति में वर्षा के साथ-साथ पेड़ पौधे लता आदि की भरमार होती है। प्रकृति में मौसम के अनुसार बदलाव या परिवर्तन होते रहते हैं। बारिश के दिनों में प्रकृति एक नया रूप ले लेती है। बारिश मानवीय जीवन और प्रकृति के लिए जरूरी बात है। आषाढ़ हो या श्रावण मास बारिश का अलग ढंग का नजारा हमें नजर आता है। वर्षा का खूबसूरत वर्णन लेखिका ने कहानी में लेफ्टिनेंट अनुज नायर कें माध्यम से वर्णित किया है। अनुज नायर अम्बिका कें घर रात टिक जाता है। दूसरे दिन उसे युद्ध पर निकलना था। अचानक बारिश शुरू हो जाती है। वह बारिश को देखता हुआ कहता है ''विंडोपैन पर गिरती बारिश की बूंदों की सम्मोहक ताल उन्हें किसी अनजान द्वीप पर लिजा रही थी, जहाँ निषिद्ध शब्द ही नहीं था, बल्कि शब्द थे कहाँ महज ध्वनियां थीं। पत्तियों से, हवा से, प्रपात से, अजगरों से, सिंहो से और हाथियों से उधार ली हुई।''[3] अनुज नायर बारिश की सुंदरता को देखने के लिए बाहर आ जाता है ''बाहर किसी रात के निशाचर पक्षी ने बेचैनी से पंख फड़फड़ाए, भीतर भी कुछ तो था जो जवाब में पर मारता रहा पिंजरे की तीलियों पर। ठीक तीन मिनट बाद इस बिजली के खड़कने की ध्वनि ने धरती तक की अपनी यात्रा तय की और भीषण गड़गड़ाहट।''[4]

मनीषा कुलश्रेष्ठ के साहित्य में प्रकृति के अलग-अलग रूपों का चित्रण मिलता है। उसमें पेड़-पौधे, पानी, फल, फूल, तारों का चित्रण भी हमें पढ़ने को मिलता है। मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानी रक्स की घाटी : शबे फितना में लेखिका प्रकृति का वर्णन करते हुए कहती है कि ''वे तीनों रात भर हल्के हरे पत्तों के बीच अपने सफेद चेहरे और गुलाबी से बैंगनी पड़े होठ छिपाये रहीं, बैंगनों और शलगमों के इस खेत में वे तीनों अभी तक खेत का

ही हिस्सा लग रही थी।''5 गजाला और लुबना के बातों का वर्णन लेखिका प्रकृति कें माध्यम से करते हुए कहती है ''दो शहर में गजरा ए बैंगनी होठ हरी लताओं में हिलते हुए फुसफुसाए। आकाश में पीले सितारों के कुछ झुंड अजीब तरीके के आकार में बन-बिगड़ रहे थे।''6

हिंदी कहानियों कें प्रकृति चित्रण में विशाल नदियों की तट रेखा एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। मनीषा कुलश्रेष्ठ ने भी अपनी कहानियों में नदी, नदियों के किनारे बसे पवित्र स्थल आदि का वर्णन रोचक ढंग से किया है। 'अनामा' कहानी की नायिका डॉ. शंभू दयाल सिंह के चाचा के तीसरी मंजिला घर के ऊपर से गंगा नदी की सुंदरता देख कहती है ''ओ माय गॉड! कितना खूबसूरत!!! इस तरफ देखो गंगा किस कदर सुंदर फैली है, घाटों के गुंबदों पारष्ठ गंगा की तरफ जाने वाला रास्ता कैसा मट मैला फीते जैसा दिख रहा है, और उस तरफ वह भीड़ भरा चौक और उससे निकलती गलियों का दृश्य किसी हाथ-पैर चलाते, उलटे पड़े गुबरेले सा दिख रहा है और हवा यहाँ साफ भी है।''7 मनीषा कुलश्रेष्ठ ने 'अनामा' कहानी में पर्यावरण प्रदूषण का भी वर्णन किया है। लेखिका गोवर्धन पर्वत कें बारे में बताती है कि ''गोवर्धन पर्वत भी अब क्या पर्वत रह गया है उसके सिरे, पंछ और चट्टान तक का बाजार बनाकर बैठे हैं।''8 अनामा पत्र के माध्यम से लेखिका कहती है कि ''आजकल गोवर्धन में विकास के नाम पर बहुत कुछ नष्ट होने लगा है। यहाँ की आध्यात्मिक और सांस्कृतिक विरासत प्रदूषित होने लगी है।''9

'फांस', 'कटपुतलियाँ' कहानी में मनीषा कुलश्रेष्ठ ने आंधी का दृश्य प्रस्तुत किया है। इसमें प्रकृति पर मानवीय गुणों का आरोप किया है। मानव जीवन और प्रकृति एक दूसरे के साथ-साथ चलते रहते हैं। प्रकृति के कारण ही मानव जीवन बसा हुआ है। मगर कभी-कभी प्रकृति में कुछ परिवर्तन इस तरह का होता है जो आंधी बनकर, बादल बन कर, कभी-कभी इंसानी जीवन को पीड़ित करता है। मानव जीवन को शक्ति और प्रेरणा देने वाली यह प्रकृति कभी-कभी ऐसा रूप धारण करती है जिससे मानव संकट की गहराई में खो जाता है। मनीषा कुलश्रेष्ठ की 'फांस' कहानी में इसी आंधी भरे जीवन को चित्रित करने का प्रयास किया है। ''हवा सचमुच बहुत तेज हो चली थी, दिया-सलाई जलाना कठिन हो रहा था। बड़ी मुश्किल से लालटेन जली खिड़कियों के बंद पेड़ों से टकरा रही थी। सूखी, मोटे कणों वाली रेत एकदम बरसात की तरह। ऐसी आंधी और इससे जुड़ी आवाजें किसी अनिष्ट की आशंका क्यों जगाती हैं? खिड़कियों में बने घोंसलो में बैठी चिड़िया पंख फड़फड़ाने लगीं, खिड़कियों के पल्ले खुल चुके थे और खिड़कियों के सिंखाचों के बीच बामुश्किल अटके घोंसले, तेज हवा से 'अब गिरेगी कि तब गिरे' की हालत में थे। सब घोंसलों में चिड़ियों के

अंडे-बच्चे थे। उसे हैरानी हुई प्रकृति पर। वह सोच में पड़ गयी। चिड़ियों के घोंसले बनाने का मौसम और तूफानों का मौसम यह ही क्यों होता है।''10 कहानी की पात्र अंतिमा कहती है हवा खाली कमरों में घुस आई थी। खिड़की दरवाजे खटखटा रहे थे। आंधी के जोर से जिन हवेली की पुरानी दीवारें काँप सी महसूस हो रही थी। वातावरण विचित्र ध्वनियों से गूंज उठा था।11 ''कटपुतलियाँ' कहानी में मनीषा कुलश्रेष्ठ कहानी में पात्र सुगना के कहती है कि 'भंवरा गई थी हवा गोल गोल चक्कर काट तेज चक्रवात से रेत की लहरों में हुई उधल-पुथल से ना जाने कितने रेतीले रेंगने वाले जानवर निकलकर लंबी घास की तरफ भागे। यह टेढ़ा-टेढ़ा रेंगने वाला रेत का पीला सर्प लहरा कर भेड़ों के झुंड की तरफ बढ़ा। भेड़ों का शांत झुंड उठकर मिमियाने लगा, किशोर चारवा आंधी में ही अपनी भेड़ों को पुकारता इधर-उधर भागने लगा।''12

मनीषा ने प्रकृति के वर्णन में समुद्र और पक्षियों का चित्रण भी किया है। समुद्र में घूमने का मजा ही कुछ अलग होता है। 'खरपतवार' कहानी में लेखिका ने समुद्र का और चट्टानों पर उड़ने वाले पंछियों का वर्णन बखूबी किया है। कहानी कें पात्र डेनियल और एंजेला दोनों समंदर में मन कें सुकून को ढूंढ़ते हुवे वहाँ का वर्णन इस प्रकार करते हैं ''आगे समंदर वे बालू पर बैठ गये। चट्टानों पर समुद्री पंछी शोर मचा रहे थे। ऊपर आकाश में सफेद गर्दन वाले भूरे बाज कलाबाजियाँ खाते उड़ रहे थे।''13

प्रकृति में फूल एक ऐसा हिस्सा है जो सुंदर, कोमल और अपनी गंध से सभी को अपनी ओर खींच लेता है। आम इंसान से लेकर लेखक और कवियों को अपना गीत गाने के लिए मजबूर कर देता है। मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानी 'कटपुतलियां' में नायिका सुगना को जोगिंदर फूल कें साथ तुलना करते हुए कहता है ''तुझसे सूग? तु तो केवड़े का झाड़ है कंटीला मगर महकता हुआ सुगंध से।''14

प्रकृति का चित्रण प्राचीन काल से हमारे कवियों और ऋषि-मुनियों और महाकाव्य में पन्ने-पन्ने पर नजर आता है। इस विरासत का सिलसिला आगे बढ़ाने का काम हमारे हिंदी साहित्य में कवि कहानीकार उपन्यासकार आदि ने कर दिया है।

निष्कर्ष :

मनीषा के प्रकृति चित्रण में कल्पना की ऊँचाई, सौंदर्य की परख, सरुझान कि मौलिकता, प्रवाहमय अभिव्यक्ति, संवेदना की उत्कर्षता तथा असाधारण चित्रात्मकता है। भावों के अंकन में लेखक के प्रकृति चित्र सहायक सिद्ध हुए हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मनीषा जी की सभी कहानियाँ सौंदर्य से परिपूर्ण है। मनीषा ने अपने कहानियों में नारी सौंदर्य के साथ-साथ प्रकृति में आने वाले पेड़,वर्षा,नदी, नाले, पर्वत, फूल, आदि का सौंदर्य चित्रण

किया है। मनीषा कुलश्रेष्ठ की कहानियों में नारी सौंदर्य हो या प्रकृति सौंदर्य हो जिसका सही ढंग से चित्रण कहानियों में मिलता है।

सन्दर्भ सूची :

1. http://evirtualguru.com
2. https://quizsansar.com
3. मनीषा कुलश्रेष्ठ, 'एडोनिस का रक्त लिली के फूल (रंग-रूप, रस-गंध-2)', सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2022, पृ.446
4. वही, पृ. 447
5. मनीषा कुलश्रेष्ठ, 'रक्स की घाटी : शबे फितना (रंग-रूप, रस-गंध-2)', सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2022, पृ.465
6. वही पृ.466
7. मनीषा कुलश्रेष्ठ, 'अनामा (रंग-रूप, रस-गंध-2)', सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2022, पृ. 498
8. वही पृ. 502
9. वही पृ. 502
10. मनीषा कुलश्रेष्ठ, 'फांस (रंग-रूप, रस-गंध-2)', सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2022, पृ. 330
11. वही पृ. 331
12. मनीषा कुलश्रेष्ठ, 'कटपुतलियां (रंग-रूप, रस-गंध-1)', सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2022, पृ. 135
13. मनीषा कुलश्रेष्ठ, 'खरपतवार (रंग-रूप, रस-गंध-2)', सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2022, पृ.403
14. मनीषा कुलश्रेष्ठ, 'कटपुतलियाँ (रंग-रूप, रस-गंध-1)', सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2022, पृ.137

■

डॉ. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग' का रचना संसार और प्रकृति के विविध रंग

श्रीमती संगीता शर्मा
शोधार्थी (हिंदी)
अटल बिहारी बाजपेयी विश्वविद्यालय,
बिलासपुर (छ.ग.)

कवि, लेखक,संपादक, समीक्षक एवं समालोचक डॉ. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग' हिंदी एवं छत्तीसगढ़ी के कुशल शिल्पकार हैं। डॉ. माणिक विश्वकर्मा 'नवरंग' का रचना संसार विशाल एवं बहुआयामी है, एक कुशल चित्रकार की भांति विभिन्न रंगों से प्रकृति के अलग-अलग रूपों को अपने शब्दों से उकेरा है—

''मन को हरषाने लगे नागफनी के फूल,
लोगो को भाने लगे, आज जंगली बबूल,
आज जंगली बबूल हर जगह खड़े मिलेंगे,
गमलों में ये कहीं, घरों में जड़े मिलेंगे।''[1]

इन रचनाओं में प्रकृति के कई रंग चित्रित हैं एक ओर जहाँ इन उपादानो से मानव मन की भावनाएँ व्यक्त होती हैं जिनमे खुशियाँ, दुःख, प्रेम, सौंदर्य, मादकता के चित्र हैं –

''चाँद को छत पे चढ़ के देखा है,
बाजुओं में जकड़ कर देखा है,
हुस्न जो बेनजीर है, उसको,
दो कदम आगे बढ़ के देखा है।''[2]

''तोर आंखी म गंगा जमना कस निरमल हे धारा,
मोर जिनगी के पार लगइया ते ही मोर सहारा।''[3]

और मनुष्योचित व्यवहार जैसे—राजनीति, समाज, धर्म, संस्कृति, देशप्रेम, शिक्षा के साथ साथ प्राकृतिक सौन्दर्य और पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता के दर्शन होते हैं–

"घूम रहा है आज तक मन में एक सवाल,
क्यूँ उपजाऊ भूमि में पड़ने लगा अकाल।"[4]

प्रकृति अपने नैसर्गिक रूप में अत्यंत मनोहारी है। प्रकृति की सुन्दरता छत्तीसगढ़ के कोने कोने में फैली हुई है। छत्तीसगढ़ के शिमला कहे जाने वाले मैनपाट की प्राकृतिक सुन्दरता का वर्णन हर प्रकृति प्रेमी को बरबस ही खींचता है –

"कविता की पृष्ठभूमि प्रकृति का श्रृंगार है,
दृष्टि पड़ती है जिधर बहार ही बहार है,
प्रेम का वातावरण ये सृजन का धाम है,
संस्कृति का गौरव, बौद्ध का पैगाम है।"[5]

छत्तीसगढ़ की गंगा कहलाती महानदी का मनोरम चित्र इस गीत में वर्णित है –

"जनजीवन की ख़ातिर,
हरदम बहती है, अविराम
महानदी की पावन धारा
लाखों लाख प्रणाम।
तेरे कारण खुशहाली है,
घर आँगन संसार
तेरे पुण्य प्रवाह से हुआ
मानव का उद्धार।
तेरी गोदी में मिलता है
सबको चारों धाम।"[6]

छत्तीसगढ़ की धर्म और आस्था के प्रतीक राजिम कुम्भ और नदियों के संगम का सुन्दर चित्रण इस छत्तीसगढ़ी गीत में दिखाई देता है –

"कभु राजिम कुम्भ म जाके संगी हमु पुन्य कमातेन,
पैरी महानदी अउ सोंढूर के संगम म डुबकी लगातेन।"[7]

प्रकृति हर मौसम में अपना एक अलग ही रूप लिए दिखाई देती है। बारह महीनों में प्रमुख चार और कुल मिलकर छह ऋतुओं में प्रकृति की अलग-अलग छटा दिखाई देती है। बसंत ऋतु और सावन महीने की सुन्दरता निम्न नवगीत की पंक्तियों में क्रमशःदिखाई देती है—

"कोई सजीला कहे कोई रसवंत है,
ऋतुओं का रजा ये रंगीला बसंत है,
फूलों से लदी हैं महुवे की डालियाँ,

डोलती हैं मस्ती में गेहूँ की बालियाँ,
इनसे विमुख न कोई साधू न संत है।"[8]

"सावन की पहली फुहार शत शत नमन तेरा अभिनन्दन है,
आँगन में धीरे से बरसना रूप कंवल काया कंचन है।"[9]

प्रकृति के बेहिसाब दोहन और प्राणिमात्र के शोषण ने न केवल मानव का जीवन त्रस्त कर दिया बल्कि मानव उत्पादों और कार्यों से दूसरे जीवों का जीवन भी संकटमय हो गया है। अब पंछी नीड़ नहीं बनाते, कलरव मूक हो गये हैं और जंगल समाप्त होने के कगार पर हैं। प्रकृति असंतुलन का सबसे बड़ा जिम्मेदार पेड़ों का बेदर्दी से काटते जाना है। वर्तमान समय में पेड़ों की अंतर्व्यथा बताती मुक्तक की बानगी देखिये—

"देखकर मुझको वो आँखें मीचता है,
अपनापन समझूँ या समझूँ नीचता है,
आजकल उसे देख संज्ञाशून्य हूँ, मैं
काटना है इसलिए मुझको सींचता है।"[10]

प्रकृति भले ही अपना दर्द शब्दों से बयां नहीं करती पर अपने कार्य से जरुर बता देती है। प्रदूषण के बढ़ते प्रभाव ने पेड़ों की रौनक छीन ली है। प्रकृति के इन बदलावों की ओर कवि की दृष्टि गयी है उन्होंने इस बदलाव की ओर इंगित करते हुए कहा है—

"माली का दोष है न प्रकृति की भूल,
मनमानी करने लगे ये मुआ बबूल,
फूलों की खुश्बू चुरा ले गया पवन,
काँटों से उलझा रहा ये वैरागी मन,
पहले जैसा ना रहा मौसम अनुकूल।"[11]

रंग और व्यंग की सधी शैली में हिंदी गज़ल जीवन की परतों को उधेड़कर यथार्थ बयां करते हैं–

"क्या करोगे मेरी गज़ल लेकर,
पत्थरों के शहर में हल लेकर,
सांस टूटने की आस लिए,
लोग बैठे हैं गंगाजल लेकर,
आग देगी जवाँ जो होने पे,
वक्त आया है वो फसल लेकर,
मीत उस पेड़ को देखो जिसकी,
काट दी टहनी तुमने फल लेकर।"[12]

मनुष्य की स्वार्थी प्रवृत्ति को प्रकृति के उपादान के द्वारा इस हिंदी गजल में इन्द्रधनुषी रंग में प्रस्तुत किया गया हैं—

''कल तलक जिनकी खातिर मैं कैक्टस था,
उनकी खातिर रातरानी हो गया हूँ।
कल तलक उर्वरा था रेगिस्तानी हो गया हूँ,
शर्म से मैं पानी पानी हो गया हूँ।।''[13]

आपके क्रान्तिकारी और निरपेक्ष गज़ल की बानगी देखिये—

''चन्दन में भी आजकल बची नहीं वो गंध
बैठे साँपों के यहाँ हम करके अनुबंध।''[14]

''पनघट के बरगद ने भी रो रोकर हमसे बतलाया है,
जिनको हमने छाँव दिया था, उनके हाथों पड़ा है कटना।''[15]

भूमंडलीकरण,उदारीकरण के साथ उपभोक्तावादी संस्कृति ने हमारे पर्यावरण को क्षत विक्षत करने में अग्रणी भूमिका निभाई है इस सन्दर्भ में ये पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं—

''आज विषैला गंगाजल है,
फिर भी मन में ब्रह्मकमल है,
भटक रहे हैं छाँव की खातिर
गमलों में दुबका पीपल है,
विपदाओं से भरे गीत हैं,
पीड़ाओं से भरी गजल है।''16

पर्यावरण संरक्षण का संदेश 'प्रकृति का विनाश ही मानव और सृष्टि का विनाश है' हिंदी गज़ल (जिसे नवरंग जी ने हिन्दकी कहा है) में निहित है। डॉ. नवरंग ने सरल प्रवाहमयी शब्दों में पर्यावरण के गूढ़ रहस्यों और तथ्यों को उद्घाटित कर पर्यावरण संरक्षण के प्रति जनजागृति लाने की पूर्ण चेष्टा की है—

''पेड़ सभी को फल देते हैं, हर दुविधा का हल देते हैं,
टूट गये जो चलते-चलते,उनको आत्मिक बल देते हैं,
खिलते हैं अपने ही दम पर, कब हम इनको जल देते हैं,
भर देते हैं हरियाली से आने वाला कल देते हैं,
अपने रंगों से मौसम के मुखमंडल को रंग देते हैं,
रक्षा कर न सके गर इनकी,तो इकदिन मरुस्थल देते हैं।''[17]

प्रकृति न केवल हमारी सुरक्षा करती है बल्कि हमें विषम परिस्थितियों में जीने की राह भी दिखाती है। नवगीत की इन पंक्तियों में उम्मीद की एक लौ जगाई गयी है—

''जब तक पानी नज़र न आये,
तब तक मैं खोदूंगा।
मरुस्थल में भी हरियाली के,
बीज कई बो दूंगा।''[18]

इस संदर्भ में राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त जी की पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं –''केवल न मनोरंजन कवि का कर्म होना चाहिए,उसमें उचित उपदेश का मर्म होना चाहिये।''[19]

इसी कवि कर्म के आदर्श का निर्वहन निम्न हिन्दकी (हिंदी गज़ल) में किया है–

''साँसे चलती हैं, जान होती है,
पेड़ों की भी जबान होती है,
इन्हें दर्जा मिला है ईश्वर का,
इनकी गाथा महान होती है,
फल देते हैं ये सभी के लिए,
दृष्टि सब पर समान होती है,
इनसे खुशियाँ हैं और इनके बिन,
सारी दुनिया वीरान होती है,
खिलते गुल को ना तोडिये 'नवरंग'
खुशबु प्रकृति की शान होती है।''[20]

नवरंग जी कभी किसी वाद से नहीं बँधे। गद्य हो, गीत हो, गज़ल हो या समसामयिक लेख, आप समय के साथ चलने वाले रचनाकार हैं। आपकी रचनाओं में विचारधारात्मक लय चलती है जो समाज सापेक्ष बदलाव की अग्रणी होती है—

''हम छाँव देने वाले थे नाहक कट गए
आते हवन के काम दरिन्दों में बँट गए।''[21]

कम शब्दों में विस्तृत भाव व्यक्त करने की कला आपको समसामयिक रचनाकारों से अलग करती है—

''धुल से लिपटा हूँ मिटटी से सना हूँ
इसलिए मजबूत हूँ सबसे घना हूँ
खिल रही शाखाएँ मेरे ही दम से
जो जड़ों को सींचता हो वो तना हूँ।''[22]

नवरंग जी का एक अलग अंदाज है, अलग मिजाज है, लेखन शैली है और प्रस्तुतीकरण का ढंग है, यही विशेषताएँ उनके नाम नवरंग को सार्थक बनाती हैं।परिवार के अलगाव या कहें सामाजिक विघटन का प्रभाव कहीं न कहीं प्रकृति पर भी पड़ा हैं—

''धुप छाँव के खेल में, कटे पुराने पेड़,
बंटवारे के खेल में, कई बन गये मेंड़।''[23]

'नवरंग' जी के शब्दों में 'शब्द ब्रह्म हैं,तो कोई भी शब्द जाया नहीं जाना चाहिए।' इन पंक्तियों में प्रकृति के दर्द को सहज ही महसूस किया जा सकता है—

''मेंड़ बनाने के लिए कटे हजारों पेड़,
नन्हे पौधे सुख कर होने लगे अधेड़,
होने लगे अधेड़, हुआ है मुश्किल खिलना,
पड़ जाए न आज मीत मिटटी में मिलना।''24

आपकी भाषा सरल,सुबोध,आकर्षक एवं ललित है। आपकी रचनाएँ,रचना कौशल,भाषा शैली,अर्थ विश्लेषण एवं विवेचना की हर कसौटी में खरी उतरती है-

''जीवन कितना सख्त हो गया है, जेठ की तरह वक्त हो गया है।
भटक रहे हैं छाँव के लिए, वस्त्रहीन दरख्त हो गया है।''[25]

प्रकृति संरक्षण के लिए इन पंक्तियों में उनकी अभिव्यक्ति की सहजता हृदय स्पर्शी है-

''पेड़ों से जीवन है तुम उसे न काटना,
बाँट सको तो घर-घर हरियाली बाँटना,
जलवायु दूषित होने न पाए भूल से,
जहरीली गंध लगेगी आने धूल से,
भूमि में अपशिष्टों को ढंग से पाटना,
ऐसी तकनीकी का हर जगह प्रयोग हो,
उपकरण चलाने वाला सदा निरोग हो,
पर्यावरण शुद्ध हो पद्धति वो छाँटना,
नदी और सरोवर में कूड़े न डालना,
बच्चों की तरह पेड़ पौधों को पालना,
पीने के पानी को हरदम तुम आटना,
प्रकृति की रक्षा आज बेहद ज़रूरी है,
फर्ज़ समझना ये न कहना मज़बूरी है,

सूखे न ताल तलैया उसे तुम साँठना,
पेड़ों से जीवन है तुम उसे न काटना,
बाँट सको तो घर -घर हरियाली बाँटना।''[26]

प्रकृति एवं वर्तमान के सारे उपदान समाहित होने के कारण उनकी रचनाओं में भाव सम्पदा एवं कला सौष्ठव का अद्भुत मार्मिक संयोजन देखने को मिलता है—

''जब तक भूमंडल में जल है, तब तक जीवन में मंगल है,
तोड़ मिलेगा हर संकट का,इसमें हर दुविधा का हल है।
मौसम लगता है जहरीला,जो बोए ये उसका फल है,
रुक जाएगी धड़कन दिल की, इससे साँसों में हलचल है।
गाँठ हमेशा बाँधे रखना, मिथ्या नहीं ये बात अटल है,
सुर-संगीत बसा है इसमें, निर्बल और कहीं भुजबल है।
इसकी रक्षा करना हरदम, जल में आने वाला कल है,
हर पय में बसती है गंगा, बिन जल के महि दावानल है,
व्यर्थ बहाना छोड़ें 'नवरंग', बूँदों में सागर का बल है।''[27]

उनकी रचनाएँ मानव मूल्यों को संपूर्णता प्रदान करती हैं। रचनाओं में नयापन,नयी बानगी,नयी रवानगी,एवं नित नये प्रतीक-बिंबों का प्रयोग उन्हें अन्य रचनाकारों से अलग पहचान दिलाता है और यही उनकी ख़ूबी भी है—

''गंगा मैली हो गयी,लोग हुए ना साफ़
साथ नदी के देश में हुआ नहीं इन्साफ,
हुआ नहीं इन्साफ, लोग मतलबी हो गये
धोना था पाप सभी गंदगी धो गये,
बोले कवि नवरंग करे न कोई पंगा,
पहले ही की तरह बने फिर से माँ गंगा।''[28]

डॉ. नवरंग मानव मूल्यों के पक्षधर कवि के रूप में जाने जाते हैं। प्रकृति के लिए मानवता के भाव इस गज़ल में सहज ही दिखाई दे रहे—

''हो सके तो कलियों पे ये जुल्म मत ढाना कभी,
फूलों की माली से गुजारिश है, तेरे शहर में।
आज माली लड़ रहा है, अपने हक़ के वास्ते,
काँटों के सर फूलों का सेहरा है, तेरे शहर में।''[29]

शुद्ध हवा और पानी मनुष्य के लिए अति आवश्यक है, पेड़ों की अंधाधुंध कटाई ने धरती, वायु के साथ साथ बारिश को काफी नुकसान पहुँचाया है। जल और वायु के दूषित होते ही मानव तरह तरह की बीमारियों से घिर जाता है—

''सरसों पीली ना अलसी नीली है,
जल प्रदूषित और वायु जहरीली है,
यहाँ का हाल हमसे मत पूछो
कुप्रशासन है और व्यवस्था ढीली है।''[30]
''आँखों में छाने लगा प्रदूषण का जाल,
धरती बंजर हो गयी, नदी हुई बेहाल।''[31]

आप अपनी रचनाओं के माध्यम से सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक कुरीतियों एवं विद्रूपताओं के विरुद्ध सकारात्मक लेखन द्वारा योगदान देते रहे हैं। आपकी रचनाएँ मुखर चित्र हैं—

''कौआ मोती ना चुगे, हंस चुगे ना घास,
गिद्ध कभी ना गा सके, लाख करे अभ्यास,
लाख करे अभ्यास, कठिन है चन्दन बनना,
मधुरस बनने रोज बहुत पड़ता है, छनना।''[32]

हरियाली को निगलते जा रहे नगर, महानगर का प्रदूषण और उद्योग, कारखानों से निकलता जहरीला धुँआ स्वस्थ पृथ्वी के फेफड़ों को को रोगग्रस्त कर रहा है—

''समझ सके न आज तक हम मौसम का भेद,
कभी ओजोन परत में हो सकता है छेद,
मीत भवन के नाम पर खूब कटे हैं, पेड़
सूख गये तालाब सब, गायब हो गये मेंड़,
धरती बंजर हो गयी, रूठ गया आकाश
हरियाली से उठ रहा है, मेरा विश्वास,
बारिश का मौसम लगे जेठ कभी आषाढ़,
आ जाए न गाँव में विपदाओं की बाढ़।''[33]

भारतीय संस्कृति में पर्यावरण को आदि काल से ही प्रमुख स्थान दिया गया है और प्रकृति के पंच महाभूतों—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश के संतुलन पर ही मानव जीवन आधारित मानकर आहार-विहार से पर्यावरण को जोड़ा गया है। प्राचीन काल से ही आयुर्वेद की वनौषधियाँ अमृत तुल्य संजीवनी बूटी का कार्य कर जीवन रक्षा कर रही हैं, वही विष्णु के अवतार राम और कृष्ण की जीवन लीला वनों से ही जुडी हुई है और ऋषि

मुनियों की तपोस्थली भी वनों में ही रही है,इसलिए आज इन हिंदी गज़ल की पंक्तियों में प्रकृति के प्रति मानवोचित पूज्य भाव हैं—

''केवल पत्तों के गिरने पर जिसे कुल्हाड़ी मार रहे हो,
उसे सींचकर देखो उसके भीतर भी मधुमास छुपा है,
देव ऋषि मुनियों की गाथा हो, या औषधीयों की गुत्थी,
इन्ही वनों में राम कृष्ण के होने का एहसास छुपा है।''[34]

प्रकृति की जीवन्तता की प्रतीक नन्ही गौरैया का जीवन आज के मशीनी जीवन की आपाधापी में कहीं खो गया है और उसके साथ ही खो गयी है गौरैया—

''प्यासी रह जाती रोज चिरैया रानी,
कोई रखता नहीं आंगन में आजकल पानी,
टाँगे जाते हैं परिंदों के घोसले घर में,
हो गया देखकर ये मंजर मैं पानी पानी,
मेरे आगे जो फुदकती रही दाने चुगने,
समय से पहले वो दिखने लगी है सयानी।''[35]

निष्कर्ष : हिंदी काव्य गीत नवगीत एवं गजलों में प्रकृति और पर्यावरण एक मुद्दा बनकर उभरा है। इनके शब्द भले ही मीठे हों,लेकिन खतरे को बड़ी बारीकी से रखा गया है।अपनी स्वार्थ के लिए जिस तरह हम प्राकृतिक सम्पदा का उपयोग कर रहे हैं,उसका परिणाम जीवन का अंत ही है। ये शब्दों के जीवंत चित्र इस बात के गवाह हैं, कि प्रकृति और पर्यावरण मानव के लिए कितना जरुरी है—

''साँसे चलती हैं जान होती है, पेड़ों की भी जबान होती है
इन्हें दर्जा मिला है ईश्वर का,इनकी गाथा महान होती है
फल देते हैं सभी के लिए,दृष्टि सब पर समान होती है।''[36]

आज जरूरत है हमें इनके अर्थ समझने की और कवियों की चिंताओं को समझ उनके अनुकूल कार्य करने की। डॉ.नवरंग के रचना संसार में पर्यावरण के विभिन्न पहलुओं—प्रकृति के सौंदर्य चित्रण एवं मानवीकरण से लेकर पर्यावरण प्रदूषण,वनों का विनाश तथा अन्य महत्वपूर्ण समस्याओं का चिंतन करने के साथ-साथ उन समस्याओं का तार्किक एवं उपयुक्त समाधान भी प्रस्तुत किया गया है—

''मर्यादित हम बने हुए हैं,
दुःख सहकर भी तने हुए हैं,
जितने काटे गये हैं मित्रों,
उतने ही हम घने हुए हैं।''[37]

मानव का सम्पूर्ण अस्तित्व प्रकृति से ही जुड़ा है, वह अपने जीवन तथा सभी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्रकृति पर पूर्णतः निर्भर है, अतः उसे नष्ट करके वह स्वयं भी सुरक्षित नहीं रह सकता—

"ना हम सूरज हो सके, ना हो सके मयंक।
जितना हम झोली भरे, उतना हुए निरंक।।"[38]

संदर्भ :

1. विश्वकर्मा, माणिक 'नवरंग', नवरंग की कुंडलियाँ, वैभव प्रकाशन रायपुर छ.ग., प्रथम संस्करण 2016, पृष्ठ 36.
2. विश्वकर्मा, माणिक 'नवरंग',पसंगा (गज़ल संग्रह), वैभव प्रकाशन रायपुर छ.ग., प्रथम संस्करण 2010,पृष्ठ 16.
3. विश्वकर्मा, माणिक 'नवरंग', पुन्नी के चंदा (छत्तीसगढ़ी काव्य संग्रह), वैभव प्रकाशन रायपुर छ.ग., प्रथम संस्करण 2014, पृष्ठ 07.
4. विश्वकर्मा, माणिक 'नवरंग', द्विविध (दोहा एवं मुक्तक संग्रह), वैभव प्रकाशन रायपुर छ.ग.,प्रथम संस्करण 2013, पृष्ठ 24.
7. विश्वकर्मा,माणिक 'नवरंग', पुन्नी के चंदा (छत्तीसगढ़ी काव्य संग्रह), वैभव प्रकाशन रायपुर छ.ग., प्रथम संस्करण 2014, पृष्ठ 31.
8. विश्वकर्मा, माणिक 'नवरंग',लम्बे दिन लम्बी रातें (गीत संग्रह), वैभव प्रकाशन रायपुर (छ.ग.),2010,पृष्ठ 58.
9. वही, पृष्ठ 40.
11. विश्वकर्मा,माणिक 'नवरंग', हरे पेड़ की सूखी टहनी (गीत संग्रह),वैभव प्रकाशन रायपुर (छ.ग.) 2007, पृष्ठ 47.
12. विश्वकर्मा, माणिक 'नवरंग', गाँव के हो गये—हिंदी गज़ल (हिन्दकी संग्रह), सर्वप्रिय प्रकाशन नयी दिल्ली,प्रथम संस्करण 2021, पृष्ठ 160.
13. विश्वकर्मा, माणिक 'नवरंग', सर्पदंश (गज़ल संग्रह), वैभव प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2007,पृष्ठ 01.
14. विश्वकर्मा, माणिक 'नवरंग', नवरंग की कुंडलियाँ, वैभव प्रकाशन रायपुर छ.ग., प्रथम संस्करण 2016, पृष्ठ 25.
15. विश्वकर्मा,माणिक 'नवरंग', हरे पेड़ की सूखी टहनी (गीत संग्रह),वैभव प्रकाशन रायपुर (छ.ग.) 2007, पृष्ठ 37.
16. विश्वकर्मा, माणिक 'नवरंग', मन के विपरीत (गज़ल संग्रह), वैभव प्रकाशन रायपुर छ.ग., प्रथम संस्करण 2012, पृष्ठ 58.

17. विश्वकर्मा, माणिक 'नवरंग', गाँव के हो गये—हिंदी गज़ल (हिन्दकी संग्रह),सर्वप्रिय प्रकाशन नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2021, पृष्ठ 118.
18. विश्वकर्मा माणिक, 'नवरंग', रिश्ते टूट गए (नवगीत संग्रह), सर्वप्रिय प्रकाशन दिल्ली, 2021, पृष्ठ 114.
20. विश्वकर्मा,माणिक 'नवरंग',मन के विपरीत (गज़ल संग्रह),वैभव प्रकाशन रायपुर छ.ग., प्रथम संस्करण 2012, पृष्ठ 26.
22. विश्वकर्मा, माणिक 'नवरंग', गाँव के हो गये—हिंदी गज़ल (हिन्दकी संग्रह), सर्वप्रिय प्रकाशन नयी दिल्ली, प्रथम संस्करण 2021, पृष्ठ 176.
23. विश्वकर्मा,माणिक 'नवरंग',नवरंग की कुंडलियाँ,वैभव प्रकाशन रायपुर छ.ग.,प्रथम संस्करण 2016, पृष्ठ 04.
24. वही, पृष्ठ 46
25. साहित्य के माणिक नवरंग 2015,साहित्य वैभव त्रिमासिक विशेषांक परिशिष्ट,प्र. वैभव प्रकाशन रायपुर (छ.ग.),2015,पृष्ठ 126.
26. विश्वकर्मा, माणिक 'नवरंग',लम्बे दिन लम्बी रातें (गीत संग्रह), वैभव प्रकाशन रायपुर (छ.ग.),2010, पृष्ठ 38.
28. नवरंग की कुंडलियाँ विश्वकर्मा, माणिक 'नवरंग', नवरंग की कुंडलियाँ, वैभव प्रकाशन रायपुर छ.ग., प्रथम संस्करण 2016, पृष्ठ 05.
29. विश्वकर्मा,माणिक 'नवरंग',तेरे शहर में,धूम्र ज्योति साहित्य समिति, कोरबा म.प्र.,1985,पृष्ठ 55.
30. विश्वकर्मा,माणिक 'नवरंग', द्विविध (दोहा एवं मुक्तक संग्रह), वैभव प्रकाशन रायपुर छ.ग., प्रथम संस्करण 2013, पृष्ठ 69
31. वही, पृष्ठ 13.
32. विश्वकर्मा, माणिक 'नवरंग', नवरंग की कुंडलियाँ, वैभव प्रकाशन रायपुर छ.ग., प्रथम संस्करण 2016,पृष्ठ 32.
33. विश्वकर्मा,माणिक 'नवरंग', द्विविध (दोहा एवं मुक्तक संग्रह), वैभव प्रकाशन रायपुर छ.ग.,प्रथम संस्करण 2013, पृष्ठ 28.
34. विश्वकर्मा, माणिक 'नवरंग', सर्पदंश (गज़ल संग्रह), वैभव प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2007, पृष्ठ 86.
35. साहित्य के माणिक नवरंग 2015,साहित्य वैभव त्रिमासिक विशेषांक परिशिष्ट,प्र. वैभव प्रकाशन रायपुर (छ.ग.), 2015, पृष्ठ 103.

36. विश्वकर्मा, माणिक 'नवरंग', मन के विपरीत (गज़ल संग्रह),वैभव प्रकाशन रायपुर छ.ग.,प्रथम संस्करण 2012, पृष्ठ, 26.
37. विश्वकर्मा, माणिक 'नवरंग', हरे पेड़ की सूखी टहनी (गीत संग्रह),वैभव प्रकाशन रायपुर (छ.ग.) 2007,पृष्ठ 49.
38. विश्वकर्मा, माणिक 'नवरंग', द्विविध (दोहा एवं मुक्तक संग्रह), वैभव प्रकाशन रायपुर छ.ग., प्रथम संस्करण 2013, पृष्ठ 12.

■

प्रेमचंद की कहानियों में प्रकृति वर्णन

सतीश कुमार धीवर
केंद्रीय विद्यालय दुर्ग (छ.ग.)

प्रेमचंद का परिचय

प्रेमचंद का नाम हिन्दी साहित्य जगत में अमर है। प्रेमचंद का जन्म 31 जुलाई 1880 को वाराणसी जिले (उत्तर प्रदेश) के लमही गाँव में एक कायस्थ परिवार में हुआ था। उनकी माता का नाम आनन्दी देवी तथा पिता का नाम मुंशी अजायबराय था जो लमही में डाकमुंशी थे। उनका वास्तविक नाम धनपत राय श्रीवास्तव था। प्रेमचंद (प्रेमचन्द) की आरम्भिक शिक्षा फ़ारसी में हुई। प्रेमचंद के माता-पिता के सम्बन्ध में रामविलास शर्मा लिखते हैं कि—''जब वे सात साल के थे, तभी उनकी माता का स्वर्गवास हो गया। जब पन्द्रह वर्ष के हुए तब उनका विवाह कर दिया गया और सोलह वर्ष के होने पर उनके पिता का भी देहान्त हो गया।''[1] मुंशी प्रेमचंद अपने शादी के फैसले पर पिता के बारे में लिखते हैं कि ''पिताजी ने जीवन के अंतिम वर्षों में एक ठोकर खाई और स्वयं तो गिरे ही, साथ में मुझे भी डुबो दिया और मेरी शादी बिना सोचे समझे करा दिया।''

1921 ई. में असहयोग आन्दोलन के दौरान महात्मा गाँधी के सरकारी नौकरी छोड़ने के आह्वान पर स्कूल इंस्पेक्टर पद से 23 जून को त्यागपत्र दे दिया। इसके बाद उन्होंने लेखन को अपना व्यवसाय बना लिया। मर्यादा, माधुरी आदि पत्रिकाओं में वे संपादक पद पर कार्यरत रहे। इसी दौरान उन्होंने प्रवासीलाल के साथ मिलकर सरस्वती प्रेस भी खरीदा तथा हंस और जागरण निकाला। प्रेस उनके लिए व्यावसायिक रूप से लाभप्रद सिद्ध नहीं हुआ। 1933 ई. में अपने ऋण को पटाने के लिए उन्होंने मोहनलाल भवनानी के सिनेटोन कम्पनी में कहानी लेखक के रूप में काम करने का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। फिल्म नगरी प्रेमचंद को रास नहीं आई। वे एक वर्ष का अनुबन्ध भी पूरा नहीं कर सके और दो महीने का वेतन छोड़कर बनारस लौट आए। उनका स्वास्थ्य निरन्तर बिगड़ता गया। लम्बी बीमारी के बाद 8 अक्टूबर 1936 को उनका निधन हो गया।[2]

उनकी शिक्षा के सन्दर्भ में रामविलास शर्मा लिखते हैं कि—"1910 में अंग्रेज़ी, दर्शन, फ़ारसी और इतिहास लेकर इण्टर किया और 1919 में अंग्रेजी, फ़ारसी और इतिहास लेकर बी. ए. किया। 1919 में बी.ए. पास करने के बाद वे शिक्षा विभाग के इंस्पेक्टर पद पर नियुक्त हुए।"[3]

प्रेमचंद की रचनाएँ

मुंशी प्रेमचंद की रचना-हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है। प्रेमचंद ने उपन्यास, कहानी, नाटक, समीक्षा, लेख, सम्पादकीय, संस्मरण आदि अनेक विधाओं में लिखा है। प्रेमचंद की प्रसिद्धि एक कथाकार के रूप में है। उनको 'उपन्यास सम्राट' के रूप में जाना जाता है। उन्होंने कुल 15 उपन्यास, 300 से अधिक कहानियाँ, 3 नाटक, 10 अनुवाद, 7 बाल-पुस्तकें तथा हजारों पृष्ठों के लेख, सम्पादकीय, भाषण, भूमिका, पत्र आदि लिखे हैं। मंगलसूत्र उनकी एक अपूर्ण (अधूरी) रचना है। अंग्रेजों ने उनकी रचना सोज़-ए-वतन को जब्त कर लिया था। संग्राम, कर्बला और प्रेम की वेदी नामक नाटक के सम्बन्ध में कहा गया है- उनकी कहानियों और उपन्यासों ने इतनी ऊँचाई प्राप्त कर ली थी कि नाटक के क्षेत्र में प्रेमचंद को कोई खास सफलता नहीं मिली। ये नाटक वस्तुतः संवादात्मक उपन्यास ही बन गए हैं।[4]

1936 में लखनऊ में एक अधिवेशन में भाषण देते हुए प्रेमचंद ने कहा था—"साहित्यकार का लक्ष्य केवल महफ़िल सजाना और मनोरंजन का सामान जुटाना नहीं है– उसका दर्जा इतना न गिराइए। वह देशभक्ति और राजनीति के पीछे चलने वाली सच्चाई भी नहीं है, बल्कि उसके आगे मशाल दिखाती हुई चलने वाली सच्चाई है।"

प्रेमचंद के साहित्य में प्रकृति

कथा साहित्य में प्रेमचंद का नाम स्वर्णिम अक्षरों में लिखा जाता है। कुछ लोग मानते हैं कि प्रेमचंद ने ग्रामीण जीवन को निकट से देखा था। कुछ लोगों ने प्रेमचंद को इतना पसंद किया कि उन्होंने कहा—प्रेमचंद के बाद कहानियाँ नहीं लिखी गई। प्रेमचंद की कहानियाँ कहानियाँ ना होकर के ग्राम्य जीवन का एहसास है। प्रकृति के बिना गाँव की कल्पना नहीं की जा सकती। गाँव में खड़ा ठूंठ, पगडंडियों, नदी-नाले, पशु-पक्षी प्रेमचंद के साहित्य में यत्र तत्र सर्वत्र देखे जा सकते हैं।

प्रेमचंद की प्रसिद्ध कहानी दो बैलों की कथा में दो बैलों का स्वभाव, उनका स्वतंत्रता प्रेम, उनकी कद काठी और स्वामी भक्ति का अप्रतिम वर्णन प्रेमचंद के द्वारा किया गया है।

प्रेमचंद के लगभग सभी कथा पात्र ग्रामीण अंचल से हैं। ग्रामीण परिवेश को जितना प्रेमचंद ने जाना समझा और कागज पर उकेरा है उतना शायद किसी और ने नहीं।प्रेमचंद

की कहानियों के संबंध में लिखा गया है—उनकी कहानियों में भारतीय जीवन के अंग प्रत्यंग की छवि मुखर है। ग्रामीण परिवेश से जीवन भर जुड़े रहने वाले प्रेमचंद की दृष्टि से वहाँ की कोई भी बात छिपी नहीं थी। सूक्ष्म से सूक्ष्म स्थितियों को लेकर उन्होंने ग्रामीण जीवन के दुर्लभ सौंदर्य के साथ साथ अत्यंत कटु यथार्थ को भी निष्पक्ष भाव से अपनी रचनाओं विशेषकर कहानियों में उकेरा है।[5]

प्रेमचंद के साहित्य में प्रकृति

कामना तरु नामक कहानी में उन्होंने कुंवर राजनाथ की शांति प्रियता का वर्णन करते हुए लिखा है कि गाँव में आकर उन्हें जिस शांति और आनंद का अनुभव हुआ उसके बदले में वह ऐसे कई राज्य त्याग सकते थे। यह पर्वत मालाओं की मनोहर छटा, यह नेत्र रंजक हरियाली, यह जल प्रवाह की मधुर वीणा, यह पक्षियों की मीठी बोलियाँ, यह मृग शावकों की छलांगे, यह बछड़ों की कुलेले, यह ग्राम निवासियों की बाल उचित सरलता, यह रमणियों की संकोचमय चपलता ! ये सभी बातें उनके लिए नई थी पर इन सबों से बढ़कर जो वस्तु उनको आकर्षित करती थी वह जागीरदार की युवती कन्या चंदा थी।[6]

ग्रामीण वातावरण के पुष्टिकारक होने का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं देहात की जलवायु ने वह काम कर दिया जो कभी मलाई और मक्खन से न हुआ। पहले की तरह बीमार तो बने हुए थे पर फुर्ती और चुस्ती दुगनी हो गई मोटाई व आलस अब नाम को भी न था उनमें एक नए जीवन का संचार हो गया।[7]

हिंसा परमो धर्म कहानी में वे लिखते हैं—शहर की विषाक्त हवा में उनका दम घुटता था। प्रेमचंद ने अनेक प्राकृतिक उदाहरणों से मनुष्य के स्वभाव की व्याख्या करने की कोशिश की है। बड़े घर की बेटी में वे लिखते हैं जिस तरह सूखी लकड़ी जल्दी से जल जाती है उसी तरह क्षुधा से बावला मनुष्य जरा जरा सी बात पर तिनक जाता है।[8]

गंगा के रौद्र रूप का वर्णन करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है—गंगा बढ़ी हुई थी, जैसे समुद्र हो। क्षितिज सामने के कुल से मिला हुआ था। किनारे के वृक्षों की केवल फुनगियाँ पानी के ऊपर रह गई थीं। घाट ऊपर तक पानी में डूब गए थे। फूलमती कलसा लिए नीचे उतरी। पानी भराव ऊपर आ रही थी कि जो पैर फिसला संभल न सकी, पानी में गिर पड़ी। पल भर हाथ पहुँचाएँ फिर लहरें उसे नीचे खींच ले गई किनारे पर दो चार पंडे चिल्लाये। अरे दौड़ो बुढ़िया डूबी जाती है। दो चार आदमी दौड़े भी, लेकिन फूलमती लहरों में समा गई थी उन बलखाती हुई लहरों में जिन्हें देखकर हृदय कांप उठता था।[9]

प्रेमचंद ने घमंड का पुतला कहानी में सरयू नदी का वर्णन किया है। सरयू नदी के प्रवाह और बाढ़ की स्थिति का उन्होंने वर्णन किया है। वे लिखते हैं—

''बरसात में सरयू नदी इस जोर शोर से चढ़ी कि हजारों गाँव बर्बाद हो गए बड़े-बड़े तनावर दरख़्त तिनकों की तरह बहते चले जाते थे। चारपाईयों पर सोते हुए बच्चे और औरतें खूंटी पर बंधे हुए गाय और बैल उसकी गरजती हुई लहरों में समा गए। खेतों में नाव चलती थी।''[10]

इसी कहानी में एक और वर्णन है-

''मैं शाम के वक्त नदी की सैर को चला। वह प्राणदायिनी हवा में उड़ती हुई लहरें व गहरी निस्तब्धता सारा दृश्य एक आकर्षक सुहाना सपना था। चांद के चमकते हुए गीत से जिस तरह लहरें सुन रही थी उसी तरह मीठी चिंताओं से दिल उमड़ आता था।''[11]

नदी किनारे जंगल का उन्होंने इस तरह से वर्णन किया है—

''मुझे उस कगार पर एक पेड़ के नीचे कुछ रोशनी दिखाई दी। मैं ऊपर चढ़ा वहाँ बरगद की घनी छाया में धूनी चल रही थी। उसके सामने एक साधु पैर फैलाए बरगद की एक मोटी जटा के सहारे लेटे हुए थे उनका चमकता हुआ चेहरा आग की चमक को लजाता था। नीले तालाब में कमल खिला हुआ था।''[12]

ऐसे अनेक वर्णन प्रेमचंद की कथाओं और उपन्यास में है। मानव की स्थिति और स्वभाव को समझाने के लिए भी उन्होंने प्रकृति का वर्णन किया है। प्रेमचंद का प्रकृति वर्णन सहज सरल और स्वाभाविक है। यह कथाओं को साक्षात् प्रत्यक्ष करा देता है।

प्रेमचंद ने दीपक के स्वभाव और उसकी क्रिया को लिखकर उन्होंने एक नया सन्देश दिया है। लेखकों के दुबले पतले होने को वे एक नए ढंग से प्रस्तुत करते हैं—

''स्थूलता स्वयं रौब डालने वाली वस्तु है। पर साहित्य सेवा और स्थूलता में विरोध है अगर कोई साहित्य से भी मोटा ताजा डबल आदमी है तो समझ लो उसमें माफी मिलेगी लोच नहीं हृदय नहीं। दीपक का काम है जलना, दीपक वही लबालब भरा होगा जो जला न हो।''[13]

पूस की रात कहानी में पूस की रात का जीवंत वर्णन प्रेमचंद के शब्दों में देखिए— पूस की अंधेरी रात आकाश पर तारे भी ठिठुरते हुए मालूम होते थे। हल्कू अपने खेत के किनारे ऊख के पत्तों की एक छतरी के नीचे बाँस के खटोले पर अपनी पुरानी गाढ़े की चादर ओढ़े काँप रहा था। खाट के नीचे उसका संगी कुत्ता जबरा पेट में मुँह डाले सर्दी से कूँ-कूँ कर रहा था। दोनों में से एक को भी नींद ना आती थी।[14]

प्रेमचन्द की एक अमर कथा में गधे और बैल का जो चित्र खींचा गया है, वह अप्रतिम है। यहाँ व्यंग्य भी है और आलोचना भी। प्रकृति का एक अर्थ प्रकृति से अलग स्वभाव भी होता है। प्रेमंचद ने यहाँ जानवरों के स्वभाव का सुन्दर वर्णन किया है—

जानवरों में गधा सबसे ज्यादा बुद्धिहीन समझा जाता है। हम जब किसी आदमी को पहले दर्जे का बेवकूफ़ कहना चाहते हैं, तो उसे गधा कहते हैं। गधा सचमुच बेवकूफ़ है या उसके सीधेपन, उसकी निरापद सहिष्णुता ने उसे यह पदवी दे दी है, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता। गायें सींग मारती हैं, ब्याई हुई गाय तो अनायास ही सिंहनी का रूप धारण कर लेती है। कुत्ता भी बहुत ग़रीब जानवर है, लेकिन कभी-कभी उसे भी क्रोध आ ही जाता है, किंतु गधे को कभी क्रोध करते नहीं सुना, न देखा। जितना चाहो ग़रीब को मारो, चाहे जैसी ख़राब, सड़ी हुई घास सामने डाल दो, उसके चेहरे पर कभी असंतोष की छाया भी नहीं दिखाई देगी। वैशाख में चाहे एकाध बार कुलेल कर लेता है, पर हमने तो उसे कभी ख़ुश होते नहीं देखा।[15]

प्रेमचन्द ने पशु-पक्षियों के स्वभाव (प्रकृति) को भी अपने लेखन में उकेरा है। प्रेमचंद प्रकृति को निकट से देखने तथा महसूस करने वाले लेखक हैं।

उपसंहार

प्रेमचंद की कहानियों में आदर्श के स्थान पर यथार्थ को अधिक महत्व दिया गया है। इसीलिए लोगों ने प्रेमचंद को ग्रामीण जीवन का यथार्थ वर्णन करने वाला कहा है। प्रेमचंद की कहानियों में गाँव, किसान, दलित, शोषित, परंपरा, अंधविश्वास आदि का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। सवा सेर आटा में उन्होंने सामाजिक परंपरा, पूंजीवाद, शोषण, अंधविश्वास आदि पर करारी चोट की है। प्रेमचंद भारतीय जनमानस के अमर लेखक हैं। भारत की ग्रामीण परंपराओं को समझने के लिए प्रेमचंद को पढ़ना आवश्यक है। आज सरकारी तौर पर जिन परंपराओं या फिर शोषण की प्रक्रियाओं पर प्रतिबंध है उनका प्रभावी वर्णन प्रेमचंद ने बेबाक होकर किया है।

प्रेमचंद के प्रकृतिवादी उदाहरणों को पढ़ने से यह अनुभव होता है कि प्रेमचंद ने प्राकृतिक ग्रामीण जीवन को निकट से देखा था। उनके वर्णन में सहजता, सरलता के साथ साथ एक स्पष्टता भी है। वे प्रकृति को मात्र सौंदर्य की तरह नहीं अपितु उपदेशक के रूप में भी चित्रित करते हैं। कभी कभी मानवीय स्वभाव की व्याख्या के लिए वे प्रकृति का उदहारण भी रखते हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में पशु पक्षियों के साथ साथ मनुष्य की प्रकृति (स्वभाव) की भी व्याख्या की है।

सन्दर्भ :

1. रामविलास, शर्मा (2008). प्रेमचंद और उनका युग. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ 17
2. वही, पृष्ठ 19

3. डॉ॰ हरदेव (1986). हिन्दी साहित्य कोश, भाग-2, वाराणसी : ज्ञानमंडल लिमिटेड. पृ॰ 356.
4. हिन्दी का गद्य साहित्य - डॉ॰ रामचंद्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2006, पृष्ठ संख्या- 518
5. भारतीय ग्रामीण जीवन की कहानियाँ (मुख्य पृष्ठ)
6. कामना तरु, मानसरोवर भाग 5 पृष्ठ 52
7. वही
8. हिंसा परमो धर्मः
9. भारतीय ग्रामीण जीवन की कहानियाँ (घरजमाई) 47
10. प्रेमचंद की 25 अमर कहानियाँ पृष्ठ 16
11. वही, पृष्ठ 19
12. वही
13. प्रेमचंद की 25 अमर कहानियाँ पृष्ठ 25
14. भारतीय दलित जीवन की कहानियाँ पृष्ठ 73
15. दो बैलों की कथा पृष्ठ 1

■

आदिवासी साहित्य में जल, जंगल और जमीन का संघर्ष

(धार उपन्यास के विशेष संदर्भ में)

कल्पना सिदार
संत गुरू घासीदास शासकीय स्ना.
महाविद्यालय कुरूद
जिला-धमतरी (छ.ग.)

संजीव अपने उपन्यासों में किसानों, स्त्रियों, गरीब, उपेक्षित कमजोर तबकों, दलितों, आदिवासियों की शोषित दशा का बहुत ही यथार्थ चित्रण करते हैं अपनी लेखनी से वे धार्मिक पाखंडों, भ्रष्टाचार, पूंजीवादी व्यवस्था, अंधविश्वास आदि का विरोध कर उन पर वार करते हैं। 'धार' उपन्यास में आदिवासी महिला मैना को केन्द्रीय पात्र के रूप में चित्रित कर उसके माध्यम से आदिवासियों पर हो रहे अत्याचार, शोषण एवं उसके संघर्षों का संवेदनापूर्ण चित्रण उपन्यासकार ने करने का प्रयास किया है। मैना निस्वार्थ भाव से संथाल क्षेत्र के आदिवासियों के शोषण के विरूद्ध खड़ी होती है। डॉ. शहाजहान मणेर ने 'समाजिक यथार्थ और कथाकार संजीव' में अपने लेखन द्वारा स्पष्ट किया है कि—''धार शीर्षक का प्रतीकात्मक अर्थ है श्रमिक वर्ग संगठित होकर हमेशा अन्याय के खिलाफ लड़ता रहे। अतः स्पष्ट है कि इस धार उपन्यास में आदिवासी जीवन तथा उनकी चेतना अधिकार बोध और संघर्ष का अंकन हुआ है।''[1]आदिवासियों के इस संघर्ष गाथा को धार उपन्यास के माध्यम से लेखक ने जन-जीवन तक पहुँचाने का प्रयास किया है।

आदिवासियों की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, व्यवस्था इन्ही जल, जंगल और जमीनों से प्रारंभ होती है। इनकी शक्ति, पूर्वज, आत्मा यही बसते हैं। 'धार' उपन्यास की पात्र मैना में स्वाभिमान व संघर्ष चेतना स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है। वह अपने पिता और पति दोनों के विरूद्ध लड़ती है। मैना के पिता अपनी जमीन महेन्द्र बाबू को तेजाब की फैक्ट्री शुरू करने के लिए दे देते हैं। इस तेजाब फैक्ट्री से निकलने वाले प्रदूषित पानी से जमीन बंजर बनती जा रही है। तालाब, कुएँ का पानी भी दूषित हो रहा है। आदिवासी बिमारी से ग्रस्त हो रहे हैं। गाँव में जागरूकता लाने के लिए मैना गाँव वालो को साथ मिलाकर आंदोलन

करती है—"मैना और गाँव के बाकी लेग, नारा लगा रहे थे, 'भाइयों काम छोड़के निकल आवो, ऊ फैक्ट्री नहीं, हम सबकी मौत है।"[2] फैक्ट्री की जमीन महेन्द्र बाबू के लिए भले सिर्फ पैसे कमाने का साधन मात्र हो किंतु गाँव वालों का स्वास्थ्य, पर्यावरण, सभी उस तेजाब फैक्ट्री से प्रभावित हो रहे थे।

आदिवासी इलाकों में पूँजीपति वर्ग और सरकार देनों का ही दबदबा रहा है। किसी न किसी प्रकार से इन भोले-भाले आदिवासियों का शोषण ही होता है। इस समुदायों की प्रमुख समस्या इनका आर्थिक शोषण है। आदिवासी समाज का एक सत्य या गुण यह भी है कि ये कभी भीख नहीं माँगते और ना ही चोरी करते हैं। और ना ही अपनी इज्जत बेचते हैं। ये तो कठोर परिश्रमी स्वाभाव के होते हैं। किंतु अब इनकी मजबूरियों का फायदा उठाने वाले लोग इनके बीच प्रवेश कर गये हैं। इनका आर्थिक, सामाजिक सभी रूपों से शोषण हो रहा है। बाह्य परिवेश का ज्ञान न होने से, अनपढ़ होने के कारण ये सभी बाहरी लोगों का आसानी से शिकार हो जाते हैं। अर्थोपार्जन का निश्चित साधन न होने से संथाल जाति दो वक्त की रोटी के लिए संघर्ष करती आज भी नजर आती है। कोयला खदानों में काम करने वाला यह समाज बहुत ही दयनीय स्थिति में जीवन निर्वाह करने को विवश है।

इनकी व्यथा भी बड़ी अजीब है यदि यह ईमानदारी से कोई काम करना भी चाहें तो इन्हें पुलिस, ठेकेदारों, गुंडों सभी के अत्याचार का शिकार होना पड़ता है। 'धार' उपन्यास में गरीबी, शोषण से तंग आकर प्रेमालुला, भाई मंगर द्वारा पत्र लिखवाता है—"धंधा-पानी हिंया पे ठीक नही। अब हमरा गाँव भिखगंगा हो गया है, ...हिंया भीख और पुलिस का दलाली छोड़ के कोई धंधा नही। .....चोरी से कोयला काटने का लेकिन पकड़ाए तो खैर नही। कोई नहीं बचाने आएगा।"[3] कोयला खदानों में कड़ी मेहनत कर खून पसीना बहाने वाले ये आदिवासी कोई टाटा, बिरला नहीं बनना चाहते ये केवल परिश्रम से अपना जीवन निर्वाह करना चाहते हैं।

आदिवासियों का जीवन तो सदैव ही संघर्ष पूर्ण रहा है। इनके इस संघर्षपूर्ण जीवन के संदर्भ में खगेन्द्र ठाकुर लिखते हैं—"उनके संघर्ष की जटिलता के पीछे पूँजीपतियों और सरकारी कुटिलता काम करती रहती है।"[4] इन भ्रष्ट नीतियों के कारण आदिवासियों को अपने ही जल, जंगल और जमीन से विस्थापित होना पड़ता है। पूंजीपति वर्ग धन कमाने की लालसा में अपने निजी स्वार्थहित के लिए आदिवासियों की जमीन ही नहीं अपितु उनके जीवन को भी बर्बाद करते हैं। कारखाने में काम करने के लिए वे अपने ही जैसे उच्च वर्गों को नहीं लाते, वे तो आदिवासियों के ही जमीनों को खरीदकर उन्हें ही वहाँ काम पर रखते हैं। आर्थिक रूप से कमजोर लोग अपनी विवशता के कारण इच्छा ना होते हुए भी उनसे

अपनी जमीन का सौदा कर लेते हैं। इससे उनकी जमीन बंजर तो होती ही है साथ ही साथ उस फैक्ट्री से निकलने वाले जहरीले धुँए, पानी से आस-पास रहने वाले जीव-जंतु, पेड़-पौधे सभी पर इसका दुष्प्रभाव दिखलाई देता है। मैना के शब्दों में लेखक कहता है—"हमको याद आता, जब हम बच्चा था, खेती से चार-छै महीना का काम चल जाता, आज एक दिन का भी नई। खेत-खतार, पेड, रूख, कुआँ, तालाब हम और हमारा बाल-बच्चा तक आज तेजाब में गल रहा है, भूख में जल रहा है।"[5]

तेजाब फैक्ट्री से निकलने वाले दूषित पानी के कारण गाँव के तालाब, कुंए सभी जल स्रोत प्रदूषित हो चुके थे। पीने के लिए स्वच्छ पानी नहीं मिलने पर मैना गाँव से शहर की ओर जाने वाली पाइप लाइन को तोड़ती है। "हथौड़ा उठा लाई और दोनों हाथों से उसने पाइप के ज्वाइंट पर दे मारा। देखते ही देखते फव्वारे की शक्ल में पानी का स्रोत खुल गया। तालियाँ बज उठीं। सबने चुल्लू भर-भर पानी पिया।"[6] पूँजीपति वर्ग इनके मेहनत का सही मूल्य इन्हें नहीं देते। वे इनका शारिरीक व आर्थिक शोषण करते हैं। कारखाने में काम करने वाला मजदूर अपना दर्द इस कथन द्वारा व्यक्त करता है—"चार-चार महीना का तनख्वाह रोक के रखा, पूरा बांसगड़ा में जहर घोल दिया, सबको लंगड़ा, लूला, अपाहिज और रोगी बना दिया।"[7] उपन्यासकार संजीव ने कोयला खदानों से सटकर बसे बांसगड़ा गाँव के लोगों की उपेक्षित, शोषित, गरीबी, अशिक्षा से भरे जीवन का संवेदनापूर्ण चित्रण किया है।

पुलिस का काम समाजिक व्यवस्था को सुचारू रूप से चलाने में सहयोग करते हैं। किंतु इन आदिवासी इलाकों में इनकी भूमिका दोहरे चरित्र वाली दिखाई देती है। 'धार' उपन्यास में आदिवासी अपने जीविकोपार्जन के लिए अवैध कोयला निकालते हैं। उन्हें इस कोयले को ले जाने के लिए भी पुलिस वालों को रिश्वत देना पड़ता है। कमीशन की पूरी रकम नहीं देने पर पुलिस के जवान मंगर की निर्दयतापूर्वक पिटाई करते हैं। मंगर को पिटते देख मैना पुलिस से कहती है—"पैसा तो पहुँचाया था साहेब।"[8] यह जवाब सुनकर पुलिस मैना पर भड़क उठती है—"पकड़कर बंद कर दे हरामजादी को ? पैसा दिखाती है। कितना पैसा है ? ..... कम से कम सौ पूरा कर।"[9] रिश्वत का पैसा देने के लिए मंगर पुलिस के डर से नहीं जाता। भयंकर रात के समय मैना अकेले ही पुलिस थाना निकल जाती है तभी उसे महसूस होता है—"इत्ती रात को अकेले थाना जाना मरघट जाने से भी ज्यादा भयावना है।"[10] इस कथन से ही स्पष्ट होता है कि वहाँ के लोग किस प्रकार से पुलिस से पीड़ित हैं। एक तरफ तो पुलिस बड़े बड़े कोल माफियाओं से मोटी रकम लेकर ट्रक के ट्रक कोयला पार करवाती है तो दूसरी तरफ अपने जीवन यापन के लिए यदि आदिवासी थोड़ा कोयला भी निकाल ले तो उनके साथ दुर्व्यवहार करती है।

अशिक्षा, अज्ञानता के कारण आज भी आदिवासी समाज अंधविश्वास के कुचक्र में फंसा हुआ है। प्रकृति पर इन्हें पूर्ण विश्वास है यही प्रकृति ही इनकी शक्ति है किंतु कुछ बाहरी लोगों ने इनके विश्वास, इनकी आस्था का गलत फायदा उठाया है। 'धार' उपन्यास में मैना और उसकी माँ के मनहूस होने से अशुभ घटनाएँ घटित होती हैं। लेखक ने इस घटनाक्रम को इस प्रकार दर्ज किया है—"बांसगड़ा में सुबह से कनफुसियाँ चल रही हैं। .....कल शंकर की दो भेड़ें गायब हो गई थीं। उसने जान गुरू (ओझा) से विचरवाया तो जान गुरू का सगुन बोला कि भेड़ मैना की कुइयाँ में है ! वहीं थीं। दोनों भेड़ों के गले में दाँत धँसा के खून किया गया था। पंचानन ओझा से गुनी हियाँ दूसरा आदमी है नहीं, जो बताया रत्ती-रत्ती सही निकला।"[11] मैना व उसकी माँ को इन सबका जिम्मेदार ठहराया जाना इस बात का प्रमाण है कि लोग किस हद तक अंधविश्वास से घिरे हुए हैं।

ये आदिवासी अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए तो संघर्ष कर ही रहे हैं, साथ ही अशिक्षा रूपी अंधकार से भी संघर्ष कर रहे हैं। मैना इसका साक्षात उदारहण है। लेखक ने मैना को स्वाभीमान, चेतना से भरपूर संघर्षशील नारी के रूप में प्रस्तुत किया है। वह अन्याय अत्याचार के खिलाफ लड़ती है। मैना का यह संघर्ष व्यक्तिगत स्वार्थ नहीं है वह अपने आदिवासी भाई-बहनों के अधिकारों के लिए लडती है। मैना को ओझा जब डायन घोषित करता है तब मैना उसका असली रूप पहचान कर ओझा की गर्दन पकड़ते हुए कहती है— "ओझा, खा जाहिर थान का कसम! खा मारॉ बुरू का कसम। खा बधना देवी का कसम कि तू घूस नहीं खाता है, सच बोल रआ है।"[12] आदिवासियों का शोषण करने वालों की कमी नही हैं। खदान मालिक, ठेकेदार, कारखाना मालिक, पुलिस, भ्रष्ट अफसर, माफिया दलाल आदि सभी से अपने जल, जंगल जमीन की रक्षा आदिवासियों के लिए चुनौतीपूर्ण है। आदिवासी नेता शर्मा के वक्तव्य से 'धार' की सार्थकता स्पष्ट होती है—"तो साथियों, यह धार ही हमारी शक्ति है और धार का भोथरा होना ही मौत है। यहाँ ही नहीं, जहाँ-जहाँ भी साम्यवादी सरकारें है, यह उपमा लागू होती है। ..... चारों तरफ भेड़िये गुर्रा रहे है। वे हमें खा जाने पर आमदा हैं। लेकिन क्या हम उनके नापाक इरादे पूरे होने देंगे ? नहीं। हर्गिज नहीं। इसलिए हमें धार की जरूरत है, ससत सान से ताजा होती धार। चाहे हमें कोई भी कुर्बानी क्यों न देनी पड़े।"[13]

कोयला अंचल के संथाल आदिवासियों पर किये अत्याचारों का उल्लेख लेखक ने अपने उपन्यास 'धार' में संवेदना पूर्वक, यर्थाथता के साथ इस प्रकार किया है कि हम सोचने के लिए मजबूर होते हैं कि सच में प्रकृति प्रेमी आदिवासी किस दर्द और पीड़ा का सामना कर रहे हैं। अमानवीयता का यह रूप यहाँ अनेक जगह दिखाई देता है। सरकार की तरफ

से यहाँ ठेकेदारों को काम करवाने के लिए ठेका दिया जाता है। जिससे मजदूरों को आसानी से काम मिल जाता है। ठेकेदार कम पैसे देकर मजदूरों से काम करवाता है। गरीबी में जी रहे यहाँ के मजदूर आदिवासी पेट पालने के लिए ठेकेदारों के पास किसी भी प्रकार के खतरे से भरे काम करने के लिए तैयार हो जाते हैं।

"धार" उपन्यास में ठेकेदार आदिवासियों से अवैध कोयला खनन करवाता है। संथाल आदिवासी फोकल पर कोयला खनन करते वक्त एक दिन जमीन के धसने से मिटटी का एक ढेर गिर जाता है और वह उसमें फंस जाता है। वह स्वयं को बचाने के लिए ठेकेदार को गुहार लगाता है तब ठेकेदार उसे ढेर में फँसा देख कहता है—"अरे मार रे। अभी जिन्दा ही है साला! मार के भर दे नून सब जगह।"[14] इस कथन से ही स्पष्ट होता है कि ठेकेदार कितने निर्दयी, स्वार्थी, शोषणकारी प्रवृत्ति के होते हैं। आदिवासी उनके लिए इंसान नहीं सिर्फ काम करने की एक मशीन है जिसके खराब होने से उन्हें काई मतलब नहीं। वह उन्हें बेकार समझ फेंक देते हैं।

उपन्यासकार संजीव ने "धार" उपन्यास में आदिवासियों के शोषण, अत्याचार, उनके संघर्ष के साथ-साथ मैना के माध्यम से स्त्री अस्मिता की छवि को भी उभारा है। आदिवासी स्त्री जहाँ जल, जंगल और जमीन के लिए संघर्ष कर रही है, वहाँ उसे अपनी अस्मिता को बचाने के लिए भी संघर्ष करना पड़ रहा है। नारी को भोग की वस्तु समझने वाले उन पर गिद्ध की नजर लगाये बैठे हैं कि कब मौका मिले और वह उन्हें नोच खायें। लेखक ने मैना के माध्यम से एक संघर्षशील नारी के चरित्र को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। मैना के तेजाब कारखाना के विरोध करने पर उसे जेल भेज दिया जाता है। वहाँ पर जेलर उसके साथ बलात्कार करता है साथ ही वहाँ पर अन्य मर्दों ने भी उसका दैहिक शोषण किया। इन सभी परेशानियों के बाद भी मैना हार नहीं मानती वह संथाल परगना के आदिवासियों के शोषण के खिलाफ संघर्ष करती है।

निष्कर्षतः संजीव ने "धार" उपन्यास में आदिवासियों के संघर्षशील जीवन को यथार्थपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। उपन्यासकार की आदिवासियों के प्रति गहरी संवेदनशीलता मन को छू जाती है। शोषण, अत्याचार के विरूद्ध आदिवासियों का प्रचंड रूप मैना के रूप में देखने को मिलता है। वह दिन भी दूर नहीं जब आदिवासी अपने इन संघर्षों से अपने हक की लड़ाई में सफल होंगे। यह जल, जंगल, जमीन के संघर्ष के साथ ही उनके अस्तित्व की भी लड़ाई है। प्रकृति से जुड़े ये लोग स्वयं के साथ इस प्रकृति के भी रक्षक हैं।

संदर्भ :

1. मणेर, शहाजहान, समाजिक यथार्थ और कथाकार संजीव. जयपुर : श्रुति पब्लिकेशन, 2009 पृ. 25
2. संजीव. धार. दिल्लीः राधाकृष्ण प्रकाशन, दूसरा संस्करण 2011, पृ.22
3. वही, पृ.41
4. ठाकुर, खगेन्द्र. उपन्यास की महान परम्परा, नई दिल्ली : स्वराज प्रकाशन, 2012 पृ. 254
5. संजीव, धार. दिल्लीः राधाकृष्ण प्रकाशन, दूसरा संस्करण 2011, पृ. 54
6. वही, पृ. 56
7. वही, पृ. 58
8. वही, पृ. 100
9. वही, पृ. 100
10. वही, पृ. 101
11. वही, पृ. 106
12. वही, पृ. 118
13. वही, पृ. 157
14. वही, पृ. 175

■

अज्ञेय के काव्य में प्रकृति

ज्योति कमल
शोध छात्रा, हिन्दी
राजीव गांधी शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
अम्बिकापुर, सरगुजा (छ.ग.)

अज्ञेय का कवि-व्यक्तित्व बहु आयामी है तथा अपने सृजन में वे नये प्रयोग करते रहे थे। अज्ञेय ने अलग-अलग विधाओं में लिखा। काव्य में कवि की कलपनाशीलता का आकाश अनंत है। कवि को यायावरी जीवन मिला था उन्होंने जीवन का अनेक हिस्सा अकेले गुजारा था। यही कारण होगा की कवि की कविताएँ कभी यथार्थ का हाथ नहीं छोड़ पाती। उनकी काव्य यात्रा ''चिंता'' संकलन से शुरू होती है। अपने अनुभव और समय की माँग से प्रेरित होकर उन्होंने प्रयोगवादी कविता लिखना आरंभ किया। प्रयोगवादी कविता यात्रा ''तार सप्तक'' के साथ सुदृढ़ होती चली जाती है।

भारतीय वांगमय में प्रकृति रची-बसी है। अज्ञेय की कविताएँ छायावाद से अभिप्रेरित होती हुई प्रगतिवाद और फिर प्रयोगवाद की एक लंबी यात्रा करती हैं। उनके काव्य में रहस्य है, स्वप्न है, संभावना है जो इस संसार के कार्य-व्यापार से प्रभावित होती है तो कहीं उस विराट को प्राप्त करना चाहती है जो अन्चीन्हा है।

''अज्ञेय की कविताओं में प्रेम और सौन्दर्य का छायावादी स्पर्श है, परन्तु बाद की कविताओं में बौद्धिकता का नियंत्रण इतना जबरदस्त है कि उनकी कविता छायावादी कमजोरी से दूर हो गई है।''[1]

कविता का काल कोई भी हो वह प्रकृति प्रेम के बिना अपूर्ण है, रंगहीन है। अज्ञेय, सुमित्रानंदन पंत से प्रभावित थे। प्रकृति की सुंदरता देखकर कवि अज्ञेय का मन भी पुलकित हो उठता है। वे भी अपलक इसे देखते रहते हैं—

''उषा अनागत पर प्राची में
जगमग तारा एकाकी
चेत उठा है शिथिल समीरण

मैं अनिमिष हो देख रहा हूँ
यह रचना छविमान।''[2]

उनकी कविता में झींगुरों का स्वर भी है—

''झुककर नरसल ने सरसी में
अपनी लघुवंषी धो ली
झिल्ली के प्लुत एक स्वर में
संसृति की सांय सांय बोली।''[3]

डॉ. रामविलास शर्मा ने लिखा है कि, ''इस रहस्यवाद के अनुकूल और वैसा ही सुरक्षित, अज्ञेय का प्रकृति प्रेम नैसर्गिक है, खेतों-खलिहानों से दूर साधारणतः उनका मन ऐसे प्राकृतिक दृश्यों में रमता है जो सामान्य हिन्दी पाठकों के लिए असाधारण होते हैं।''[4]

आँगन के पार द्वार, संकलन में 1959 से 1961 तक की रचनाएँ सम्मिलित हैं। इसका प्रकाशन सन् 1961 में हुआ। इस संग्रह में दूसरा प्रमुख शीर्षक है 'चक्रान्तशिला' और तीसरा शीर्षक 'असाध्यवीणा' है। असाध्यवीणा कविता बाहरी संसार से ज्ञान की ओर मुड़ने की प्रक्रिया है। बौद्ध धर्म में इसे तथता कहा गया है। जिसका अर्थ है आत्मा को परम सत्ता में विलीन कर देना।

कविता की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है—

''मुझे स्मरण है
उझक क्षितिज से
किरण भोर की पहली
जब तकती है ओंस-बूंद की
उस क्षण की सहसा चौंकी-सी सिहरन।
और दुपहरी में जब
घास-फूल अनदेखे खिल जाते हैं
मौमाखियाँ, असंख्य झूमती करती है गुंजार-
उस लम्बे विलमें क्षण का तन्द्रालस ठहराव।''[5]

अज्ञेय ने अपने काव्य-कला कौशल से सर्वदा चकित किया है। कितनी नावों में कितनी बार संग्रह में अज्ञेय ने संवेदना को एक नया संस्कार दिया है—

''यह सूरज का जपा-फूल
नैवैद्य चला
सागर हाथों

अम्बा तिमिरामयी को
रूको साँस भर
फिर मैं यह पूजा क्षण
तुमको दे दूँगा।''[6]

उनकी काव्य सम्पदा में गीत, प्रबन्ध तथा मुक्तक सभी तरह के काव्यरूप मिलते हैं। उनकी कविताओं में उनका चिन्तक तथा दार्शनिक व्यक्तित्व पूरी तरह हावी है।

अज्ञेय ने अपने काव्य के असीम आकाश में युगों से उपेक्षित स्त्री को पुरूष के जीवन में प्रतिष्ठित पद पर स्थापित किया है। अज्ञेय लिखते हैं—

पुरुष? तर्क का कठपुतला भर
स्त्री असीम अन्तः निर्झर।[7]

अज्ञेय के चिन्तन में नारी का स्थान सर्वदा उच्च रहा है। इनकी रचनाओं में नारी को बड़ा सम्मानित स्थान प्राप्त है। अज्ञेय का सर्वात्मभाव कहीं केवल मानव जाति से तादातम्य स्थापित करता है और कहीं सभी प्राणियों से। धरती जोतने वाला किसान, कोयले की खान में काम करने वाला मजदूर, कचरा ढोने वाला, पूड़ी बेचने वाला, घर पर सोने वाला दरिद्र, गोताखोर, रिक्शाचालक, विमान चालक, सरकारी कर्मचारी आदि मानव रूपों में कवि अपनी ही आत्मा की अभिव्यक्ति देखता है।

अज्ञेय को सदैव अस्तित्ववादी कहकर उनकी अवहेलना की चेष्टा की गई है। यह सत्य है कि अज्ञेय पर अस्तित्ववाद का प्रभाव सर्वाधिक है। व्यष्टि को वे महत्व देते हैं परंतु समष्टि और समग्रता में व्यक्ति की स्वाभाविकता को नष्ट नहीं होने देना चाहते।

''अस्तित्ववाद अमूर्त धारणा के विरूद्ध मूर्त जीवन व्यापार का विद्रोह है, परोक्ष विचार के प्रति प्रत्यक्ष अनुभव को समष्टि भावना या संस्था के प्रति व्यक्ति चेतना का भौतिक अथवा आध्यात्मिक नियमों के विरुद्ध मानव की स्वतंत्र निर्वाचन क्षमता का, ''सामान्य के प्रति'' विशेष का विद्रोह है।''[8]

अज्ञेय जड़ प्रकृति में चेतना का आरोपण करते हैं। प्रणय के भाव को व्यक्त करने हेतु प्रकृति और पुरूष के मिलन दृश्य को कुछ इस प्रकार व्यक्त किया है—

''जब पपीहे ने पुकारा
मुझे दीखा।
दो पंखुरियाँ
झरी लाल गुलाब की, तकती पियासी
पिया से ऊपर झुके उस फूल का
ओठ ज्यों ओठों तले।।''[9]

कवि अज्ञेय दर्शन के गहन अध्येता थे। इसी प्रवृत्ति के कारण उनका व्यक्तित्व परिष्कृत होता गया। एक समय उपरांत वे अहं का विसर्जन कर समर्पण की ओर बढ़ चले—

''पर उस स्पन्दित सन्नाटे में
मौन प्रियंवद साध रहा था वीणा
नहीं स्वयं अपने को शोध रहा था
सघन निविड़ में वह अपने को
सौंप रहा था उसी किरीटी तरू को।''[10]

फ्रायड का मनोविश्लेषण सिद्धांत मानव मन के कई रहस्यों को उजागर करता है। सृष्टि का संचालन जिस मूल संवेग से होता है उसे काम कहते हैं। उसे पुरानी मान्यताओं के अनुसार अपराध माना गया है। जबकि यह भावना प्राकृतिक रूप से सभी जीवों में जन्म से ही उपस्थित है उसे आदर्श और संस्कार की दुहाई देकर साहित्य में खुलकर स्वीकार नहीं किया जाता। अज्ञेय ने इन वर्जनाओं को तोड़ते हुए उसे खुले हृदय से स्वीकार किया है—

खग-युगल ! करो सम्पन्न प्रणय
क्षण के जीवन में हो तन्मय
हो अखिल अवनि हो निभृत निलय।
हाय तुम्हारी नैसर्गिकता। मानव नियम निराला है।
वह तो अपने से ही अपना प्रणय छिपाने वाला है।।''[11]

अज्ञेय ने काव्य में प्रतीकों को एक नई पहचान दी है। इनकी प्रतीक योजना बेजोड़ है। उन्होंने पुराने प्रतीकों का प्रयोग तो किया है परंतु उसे नये संदर्भ में प्रस्तुत किया है—

उदाहरणार्थ - 'आकाश' का प्रयोग-

''यह ऊपर आकाश नहीं है;
रूपहीन आलोक मात्र। हम अंचल पंख
तिरते जाते हैं
भारमुक्त
नीचे यह ताजी धुनी रूई की उजली
बादल सेज बिछी है
स्वप्न मृसृण
या यहाँ हमीं अपना सपना है।''[12]

परम्परागत प्रतीकों में अज्ञेय ने पक्षी संसार को लिया है। अज्ञेय की कविता में 'वन-पाखावत', 'चिड़िया', 'बन-पाखी' ये सब मानव चेतना को परिभाषित करने वाले प्रतीक हैं। उनकी कविता-पूर्वा, पहले मैं सन्नाटा बुनता हूँ, आँगन के पार द्वार, अरी ओ करूणा प्रभामय, इन्द्रधनुष रौंदे हुए, में नए-नए प्रतीकों के प्रयोग को देखा जा सकता है।

अज्ञेय की कविताओं में आशा है और आस्था भी। कहीं टूटता बिखरता कवि फिर स्वयं को जोड़ता है—

''साँझ। बुझता क्षितिज।
मन की टूट-टूट पछाड़ खाती लहर।
काली उमड़ती परछाइयाँ
तब एक
तारा भर गया आकाश की गहराइयाँ।।''[13]

इनकी कविता में 'हारिल' पक्षी सतत् अभ्यास, निरंतर परिश्रम, लक्ष्य प्राप्ति की चाह और उद्यमशीलता का प्रतीक है।

''बैठो रहो पुकारो गाओ,
मेरा वैसा धर्म नहीं है,
मैं हारिल हूँ, बैठे रहना
मेरे कुल का कर्म नहीं है।।''[14]

प्रकृति संबंधी बिम्ब का प्रयोग इनकी कविताओं की एक विशेषता है। किसी भाव या विचार की पृष्ठभूमि में प्रकृति के नाना रूपों के बिम्ब अज्ञेय के काव्य में आते हैं। अनेक कविताएँ प्रकृति के खण्ड एवं विश्रृंखल बिम्ब से युक्त हैं। आकाश, क्षितिज, सूर्य, चन्द्र, तारे, बादल, इन्द्रधनुष, वन, पर्वत, नदी, सागर, तालाब, खेत, खलिहान, दलदल, सरोवर, झील, धूप, किरण, शैवाल आदि प्रकृति के अनेक रूपों के खण्ड अज्ञेय के काव्य में देखे जा सकते हैं।

ध्वनि-बिम्बों की दृष्टि से 'असाध्यवीणा' का विशेष महत्व है। उदाहरणार्थ- अन्न की सोंधी खुदबुद, नयी वधू की सहमी सी पायल ध्वनि, नौंका पर लहरों की अविराम थपक, बहते जल की छुल-छुल, संधा गोधूलि की टुनटुन, प्रलय का डमरू नाद आदि।

प्रकृति के बिम्बों से कवि अपने मनोभावों का बिम्ब अंकित करता है—

''साँझ बुझता क्षितिज
मन की टूट टूट पछाड़ खाती लहर।
काली उमड़ती परछाइयाँ।''[15]

डॉ. केदार के मतानुसार—"अज्ञेय भाषा के धनी हैं। गद्य व पद्य दोनों शैलियों में उनकी भाषा बड़ी प्रौढ़ और प्रांजल होती है। पुराने शब्दों की, संगति में नए शब्दों के अथवा शब्दों के प्रयोग अज्ञेय की भाषा की विशेषता है।"[16]

नियमित छंदों को नये तरीके से प्रस्तुत करते हैं। उनकी कविता में बरवै, कवित्त, हरिगीतिका, रोला, मालिनी आदि छंदों के अलावा गीतिका का प्रयोग दिखाई पड़ता है।

बरवै छन्द का उदाहरण—

धुँधली है साँझ, किन्तु अतिशय मोहमयी,
बदली है छाई, कहीं तारा नहीं दीखता।

लोक धुन की उपस्थिति भी इनकी कविता में देखी जा सकती है। 'पानी बरसा' की कुछ पंक्तियाँ—

"ओ पिया पानी बरसा।
ओ पिया पानी बरसा।
ओठ को ओठ, वक्ष को वक्ष-
ओ पिया, पानी।
मेरा हिया तरसा
ओ पिया पानी बरसा।"[17]

आरम्भिक कविताओं के बाद अज्ञेय ने मुक्त छन्द का प्रयोग किया है और अज्ञेय की सर्वाधिक कविताएँ इसी छन्द में है।

उन्होंने प्रतीक , बिम्ब और छन्द के प्रयोग के साथ ही मुहावरे का प्रयोग भी विविधता के साथ किया है—

"हरे-भरे है खेत
मगर खलिहान नहीं
बहुत महंतों का मान
मगर दो मुट्ठी धान नहीं।"[18]

'अज्ञेय' विलक्षण प्रतिभावान कवि हैं। एक प्रकार से वह हिन्दी साहित्य का एक युग थे। अज्ञेय के काव्य पर भारतीय और पाश्चात्य दोनों दर्शन का प्रभाव परिलक्षित होता है। उन्होंने भावाभिव्यक्ति हेतु नए शिल्प का अन्वेषण किया, नवीन उपमान योजना व नई शिल्प शक्ति की खोज की। अज्ञेय की संवेदना एक गहरे आध्यात्मिक बोध से भरी है। पूरी प्रकृति उनके लिए सम्पूर्ण गतिशील मानवीय चेतना का प्रतीक हो जाती है। अज्ञेय के काव्य में गति है, मूल्यवादी दृष्टि, भारतीय व पाश्चात्य दर्शन का समायोजन और जीवन की अभिव्यक्ति है, जो हमेशा प्रेरित करती रहेगी।

संदर्भ :

1. शर्मा, डॉ. मीता : अज्ञेय का काव्य, जीवन-सत्य और दर्शन, संस्करण : प्रथम, 2010, पंचशील प्रकाशन, पेज-77
2. अज्ञेय : इत्यलम्, कविता।
3. वही।
4. शर्मा, रामविलास : नयी कविता और अस्तित्ववाद, प्रथम संस्करण, पृ. 77-78
5. अज्ञेय : आँगन के पार द्वार।
6. अज्ञेय : अरी ओ करूणा प्रभामय, पृ. 63
7. बाहर थी तब राका छिटकी : अज्ञेय, कविता कोश
8. डॉ. नगेन्द्र, नयी समीक्षा नये सन्दर्भ, पृ. 46
9. अज्ञेय : पूर्वा, पृ.12
10. अज्ञेय : आँगन के पार द्वार, पृ. 37
11. अज्ञेय : पूर्वा, पृ. 82
12. अज्ञेय : इन्द्रधनुष रौंदे हुए ये, पृ. 61
13. अज्ञेय : बावरा अहेरी, पृ. 22
14. अज्ञेय : पूर्वा, पृ. 119
15. अज्ञेय : अरी ओ करूणा प्रभामय, पृ. 62
16. शर्मा, डॉ. केदार : अज्ञेय साहित्यः प्रयोग और मूल्यांकन, पृ. 216
17. अज्ञेय : इत्यलम्, पृ. 204-205
18. अज्ञेय : अरी ओ करूणा प्रभामय, पृ. 41

■

मंगलेश डबराल की कविताओं में जल, जंगल और ज़मीन

श्रीमती रामेश्वरी दास
साहित्य एवं भाषा-अध्ययनशाला
पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय, रायपुर (छ.ग.)

हिंदी ही नहीं अनेक भाषा-भाषियों में प्रकृति को केंद्र में रखकर कविताएँ रची जाती रही हैं। भूमण्डलीकरण के दुष्प्रभाव आज प्रकृति कैसे भोग रही है, इससे समाज अनभिज्ञ नहीं है। समकालीन रचनाकार प्रकृति के मनोरम दृश्य के स्थान पर आज पर्यावरण संकट को लेखनी का विषय बना रहे हैं, जिसमें जल, जंगल और ज़मीन से जुड़ी कितनी ही समस्याएँ हैं जिसे हम महसूस कर सकते हैं। जल, जंगल और ज़मीन प्रकृति के प्राण हैं और इस अस्तित्व को बचाए रखने की प्रक्रिया निरंतर जारी है।

मंगलेश डबराल इन्हीं रचनाकारों में से एक हैं, जिनकी कविताएँ जल, जंगल और ज़मीन के इर्द-गिर्द घूमती हैं। कवि अपने जीवन में जमीन से बिछड़ने की पीड़ा और जंगल से वहाँ के निवासियों को विस्थापित करने के षड़यंत्र को महसूस करते हैं और इसे अपने कविता के माध्यम से व्यक्त करने का प्रयास करते हैं। अपनी ज़मीन से कटकर विस्थापित होने की पीड़ा को कवि 'बची हुई जगहें' कविता में इस तरह व्यक्त करते हैं—

''चीजें खो जाती हैं लेकिन जगहें बनी रहती हैं
हम कहीं और चले जाते हैं अपने घरों, लोगों, अपने पानी और पेड़ों से दूर
मैं जहाँ से एक पत्थर की तरह खिसक कर चला आया
उस पहाड़ में भी एक छोटी सी जगह बची होगी
इस बीच मेरा शहर एक विशालकाय बाँध के पानी में डूब गया।''[1]

इस प्रकार कवि अपने पहाड़ को याद करते हैं, जिसमें उनका छोटा शहर बसा हुआ था, वह बाँध के कारण डूब गया और वे कहीं और चले आए। कवि कहते हैं जीवन में समय के गुजर जाने के बाद भी एक जगह बची रहती है और दुनिया में जो घटित घटनाएँ हैं उनकी

यादें वहीं बसी होंगी। विकास के इस दौर में हम प्रकृति के कितने खिलाफ़ खड़े हैं, नित नए प्रयोग के लिए हम मूल निवासियों को उनकी ज़मीन से खदेड़ने का संकल्प लिए बैठे हैं। 'आदिवासी' कविता के माध्यम से कवि कहते हैं—

''वह कभी उदास और कभी डरा हुआ दिखता है
उसके आसपास पेड़ बिना पत्तों के है और मिट्टी बिना घास की
यह साफ़ है कि उसमें कुछ छीन लिया गया है
उसे अपने अरण्य से दूर ले जाया जा रहा है
पानी से भरी हुई टिहरी से नयी टिहरी की ओर-
जहाँ पानी खत्म हो गया है।''[2]

प्रकृति के संरक्षण में अपना पूरा जीवन निर्भयता से व्यतीत करने वाला एक बड़ा जन-समुदाय है, आदिवासी जन-समुदाय। आदिवासी जीवन प्रकृति पर निर्भर है और प्रकृति इन पर, जैसे ये एक-दूसरे के साथ-साथ चलते हों और एक-दूसरे के सहायक भी। भूमण्डलीकरण का दौर इन पर पैनी निगाह रखता है और इन्हें उनके अरण्य उनके अध्यात्म से दूर अजनबी इलाकों में जाकर बसने पर मजबूर करता है। जंगल जो कभी सघन पेड़ों से भरा हुआ था, वह तपते मैदान में तब्दील होते जा रहा है। कवि पहाड़ के एक-एक पत्थर को याद करते हैं, वृक्ष के हरेपन को याद करते हैं, उसके पत्ते, डाल पर बैठी चिड़िया सभी को याद करते हैं।

कवि पूर्वजों, उनकी यादें, उस समय के वातावरण को 'पत्थरों की कहानी' कविता में कुछ इस तरह व्यक्त कर रहे हैं-

''पत्थरों के बीच आवाजें हैं बहुत पहले की
जब हमारे पुरखे यहाँ आये थे
पुराने जंगलों का सन्नाटा
और पशुओं की दहाड़ है पत्थरों में
बहुत से पेड़ जो नष्ट हो गये
उनकी जड़ें छिपी हैं इनमें।''[3]

कितनी कष्टदायक स्थिति है कि हम अपनी स्मृतियों में पूर्वजों को याद करने के साथ प्रकृति के मनोरम दृश्यों को भी पूर्वजों की ही भाँति याद करते हैं। अब वे भी अपने बचे-खुचे अस्तित्व को बचाने का प्रयास कर रहे हैं। जिस तादाद में लोगों की संख्या बढ़ रही है, उसी तादाद में घटती भी जा रही हैं। पेड़-पौधे के घटने के साथ लगातार घटती ऑक्सीजन की मात्रा को लेकर कवि सचेत है—

''अक्सर पढ़ने में आता है
दुनिया में ऑक्सीजन कम हो रही है
कभी ऐसे सामने दिखाई दे जाता है कि वह—
कितनी तेज़ी से घट रही है।
एक ताकतवर आदमी के पास जाता हूँ
तो तत्काल ऑक्सीजन की ज़रूरत महसूस होती है।''[4]

कवि मंगलेश भविष्य में आने वाले संकट की ओर इशारा करते नज़र आते हैं। कवि के अनुसार हम उपभोक्तावादी प्रवृत्ति के घेरे में हैं और इसका भुगतान प्रकृति को करना पड़ रहा है। प्राकृतिक संसाधनों का दोहन हमारे विकास की पहली सीढ़ी बन चुकी है। हमने ईंटों और पत्थरों से बनी ईमारतों को खड़ा करने में न जाने कितने पेड़ काट दिए, कितनी चिड़ियों को बेघर कर दिया, कितनी नदियाँ रेत में बदल दी, कितने घास से भरे ज़मीन सूनी सड़कों में बदल गए।

अब हमें जीवित रहने के लिए ऑक्सीजन की आवश्यकता है और वो हमें पर्यावरण से ही मिलेगी। इसे विनोद कुमार शुक्ल अपनी कविता 'बचाकर रख लेनी चाहिए हवा' में इस प्रकार व्यक्त करते हैं—

''बचाकर रख लेनी चाहिए हवा
साँस लेने के लिए
दूर नल से पानी लाते हैं
वैसे ही नालियों, दुर्गन्ध से दूर जाकर
एक सावुत घड़े में शुद्ध
हवा लेनी चाहिए।''[5]

इस प्रकार साहित्य में मंगलेश डबराल और उनके समकालीन कई साहित्यकार अपनी लेखनी की धार पर्यावरण की ओर मोड़ चुके हैं। औद्योगिकीकरण का यह दौर मनुष्य को एक ओर विकासशीलता के चमकीले स्वप्न दिखाता है, वहीं उसके दुष्परिणाम को भोगने के लिए छोड़ देता है। निरंतर बढ़ते जा रहे ईमारतों, भवनों का निर्माण, ज़हरीली गैसों का हवाओं में मिलना, पेड़ को काटकर फर्नीचरों के कलाकृतियों का निर्माण आदि।

ऐसे समय में टूटते-बिखरते शांति निकेतन को देख कवि 'नष्ट नीड़' कविता में कवि कहते हैं—

''लोग कहते हैं शांति निकेतन टूट रहा है
जगह-जगह कंटीले तार बन रहे हैं

चहारदीवारियाँ उठती हैं पलस्तर गिरता है
जब पहली कारें आयीं
जब नयी काट की जूते आये जब घास रौंदी गयी जब धूल उठी
जो टूटना शुरू हुई यह जगह।''[6]

सभ्यता के नाम पर पूरी दुनिया का संतुलन बिगाड़ते हुए दिखते हैं। आजकल रक्षक कहलाने वाले सबसे बड़े भक्षक होते हैं। हमें सतर्क रहने की आवश्यकता है। ऐसे प्रोजेक्ट के नाम पर पर्यावरण को पूरा-का-पूरा निगल जाने वाले लोगों से प्रकृति को बचाने की जरूरत है। कवि की इसी चिंता में अपनी चिंता व्यक्त करते कुंवर नारायण 'एक वृक्ष की हत्या' कविता में कहते हैं—

''बचाना है
नदियों को नाला हो जाने से
हवा को धुँआ हो जाने से
खाने को ज़हर हो जाने से
बचाना है जंगल को मरूस्थल हो जाने से
बचाना है मनुष्य को जंगली हो जाने से।''[7]

कवियों की लेखनी में पर्यावरण की छटपटाहट स्पष्ट झलकती है। मदन कश्यप भी अपनी कविता 'पृथ्वी दिवस' में जल, जंगल और ज़मीन को नष्ट होने से बचाने का आह्वान करते हैं—

''बचाओ
सबसे पहले उन रक्षकों से बचाओ
जो अपनी हवश के लिए
बचाए रखना चाहते हैं पृथ्वी को
बम बरसाकर धुएँ की चिंता करते हैं
जंगल काटकर भू-स्खलन पर शोध करते हैं
सागर के सीने में भरते हैं ज़हर
नदियों में कचड़े, खेतों में विषैले रसायन
सबसे पहले उन लुटेरों से बचाओ।''[8]

कवियों की इसी तारतम्य में अपना सुर मिलाने का प्रयास करते हैं कवि लीलाधर जगूड़ी, जिनकी कविता 'वृक्षहत्या' में संवाद-शैली के माध्यम से पेड़ के कट जाने से बेघर होते चिड़ियों की पीड़ा की कथा सुनाई पड़ रही है, वे कहते हैं—

''उसने उस वृक्ष को गाँजा और कहा
यह एक तोरण एक मंच
और एक सिंहासन के लिए काफी है
कुल्हाड़ियों के जुलूस से पहले
जब वह उसे गाँज रहा था
पक्षी आए
और बुरी तरह चिनचिनाने लगे
उसने कहा—पक्षियों का कलरव
पक्षियों का समूह गान सुनो
मैंने कहा
ये अपने घोसलों के लिए रो रहे हैं
ये इस साल के
फूल
फल
और पत्ते
और देख रहे हैं इस करवट लेते पेड़ के अंदर
जबकि तुम लकड़ी देख रहे हो।''[9]

कवि मंगलेश और उसके सरीखे सभी साहित्यकार इस मूक प्रकृति की चीत्कार, उसके खंडित स्वरूप और निरंतर बढ़ रही वेदना को महसूस कर रहे हैं, कभी चिड़ियों के भीतर की आवाज़ बनकर, कभी पत्थर के भीतर की आवाज़, कभी नदी और कभी पेड़ की आवाज़ बनकर अपनी व्यथा सुना रहे हैं। कवि 'पेड़' कविता में पेड़ के जीर्ण होकर ठूँठ बन जाने की कथा को बड़े मार्मिक ढंग से व्यक्त कर रहे हैं—

''एक पेड़ था शिरीष का नील का या छातिम का
इस घर में पहले वही रहता था
जैसे वही हो इसका मूल निवासी गृह स्वामी
कई बार वह सूखा फिर हरा हुआ
बीमार पड़ा तो अपने पत्तों में अपने घाव छिपाता रहा
अभी तुम जिस ठूंठ पर बैठे सुस्ताते हो
वह यही पेड़ है
जो कभी ठाठ से रहता था घर के भीतर।''[10]

बाज़ारवाद का जो नया दौर चल रहा है, जिसमें आज का मनुष्य अपना सब कुछ त्यागने को तत्पर है। वह अपनी ज़मीन से दूर जाकर शहरों में बस गया है, पुरानी वस्तुओं के स्थान पर उसे मशीनों का प्रयोग ज्यादा सरल और उपयोगी लगने लगा है। सघन पेड़ की छाँव के बदले ईंट-पत्थरों के घरों में रहना पसंद करता है।

इस परिवेश में रहकर हम नित नई समस्याओं को निमंत्रण दे रहे हैं। कवि मंगलेश अपनी कविताओं में तेवर के साथ नहीं बल्कि मार्मिक स्वर के साथ पुराने गुज़रे वक्त को याद करते हैं और वही मर्म, वही संवेदना, वही पीड़ा का अनुभव करें।

कवि अपनी कविता 'संभव' में छोटी किंतु सार तत्व की कल्पना करते हुए कहते हैं-

''मैं चाहता था वहाँ एक पेड़
हवा और रात
मैं चाहता था एक नदी
एक आदमी
थकान दूर करने के लिए
हाथ-पैर धोता हुआ।''[11]

कवि मंगलेश निरंतर ही बीती बातों और सुंदर स्मृतियों को दोहराया करते हैं, ताकि हम अपने भीतर मनुष्यता को कायम रखें, प्रकृति से मिलने वाले उन प्रत्येक वस्तुओं के प्रति सादर कोमलता का भाव हो, हम प्रकृति के उन सभी वरदानों के लिए धन्यवाद ज्ञापित करें, हमारा यही भाव प्रकृति को संतुलित कर सकता है, हम इसके निरंतर दोहन को कम कर सकते हैं। कवि कुमार अम्बुज की कविता 'कटे हुए मगर बेबस खेत को देखकर' में इसे महसूस कर सकते हैं—

''हां यही हो रही थी मेरी प्रतीक्षा
कि इस वक्त
बेहद जरूरत है इस ज़मीन को
थोड़े-से प्यार की
थोड़े-से धन्यवाद की।''[12]

इस प्रकार समकालीन रचनाकारों और मंगलेश डबराल की कविताओं में प्रकृति चिंता और चिंतन का विषय बना है। कवि मंगलेश जहाँ 'मैं भूल नहीं जाना चाहता घर का रास्ता', 'मैं पत्थर की तरह लुढ़क कर चला आया', 'उस नदी से शुरू होते थे दिन', 'तुम्हारा प्यार एक पेड़ है' जैसे न जाने कितने वाक्य हैं, जिनमें जीवन के सारे पहलुओं को प्रकृति से जोड़ते हुए रचनाएँ करने में समर्थ हैं, क्योंकि यह शाश्वत सत्य है कि हमारा जीवन प्रकृति पर आश्रित है। वह हमसे और हम प्रकृति से पूरा-पूरा प्रभावित होते हैं।

कवि 'यहाँ थी वह नदी' नामक कविता में अपना बचपन, घर और उसके साथ वहाँ समीप बहती नदी का ज़िक्र करते हैं—

"बचपन की उस नदी में
हम अपने चेहरे देखते थे हिलते हुए
उसके किनारे थे हमारे घर
हमेशा उफनती
अपने तटों और पत्थरों को प्यार करती
उस नदी से शुरू होते थे दिन
उसकी आवाज़
तमाम खिड़कियों पर सुनायी देती थी
लहरें दरवाजों को थपथपाती थीं
बुलाती हुई लगातार।"[13]

निष्कर्षतः हम यह न भूलें कि प्रकृति हमारे लिए पूजनीय हैं और इसे अक्षुण्ण बनाए रखना हमारा कर्तव्य भी। हमें अपने भीतर अपनी संवेदनाओं को बनाए रखने की आवश्यकता है, कवि बीते लोगों को, उनकी जीवन-शैली को, पुराने पेड़ों, पत्थरों, जंगलों आदि को स्मृतियों में छिपा रखे हैं और कविताओं के माध्यम से संदेश दे रहे हैं। प्रकृति के निकट जाने को और जल की शीतलता और निर्मलता को बनाए रखने को और ज़मीन की नमी बचाए रखने को, ताकि बची रहे हमारे जीवन में थोड़ी शीतलता, थोड़ी निर्मलता, थोड़ी सघनता और थोड़ी नमी।

संदर्भ :

1. डबराल, मंगलेश. नये युग में शत्रु. नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 2013, पृ. 18.
2. वही, पृ. 16.
3. डबराल, मंगलेश. घर का रास्ता. नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, तृतीय संस्करण, 2017, पृ. 35.
4. डबराल, मंगलेश. नये युग में शत्रु. नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 2013, पृ. 12.
5. त्रिपाठी, अरविन्द (संपा.). विनोद कुमार शुक्ल प्रतिनिधि कविताएँ. नयी र् दिल्ली : राजकमल पेपर बैक्स, दूसरा संस्करण, 2016, पृ. 123.
6. डबराल, मंगलेश. नये युग में शत्रु. नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 2013, पृ. 116.

7. अग्रवाल, पुरुषोत्तम (संपा.). कुँवर नारायण प्रतिनिधि कविताएँ. नयी दिल्ली : राजकमल पेपर बैक्स, संस्करण 2008, पृ. 207.
8. कश्यप, मदन. कवि ने कहा. नयी दिल्ली : किताबघर प्रकाशन, द्वितीय पेपर बैक्स संस्करण, 20090, पृ. 105.
9. जगूड़ी, लीलाधरा. रात अब भी मौजूद है. नयी दिल्ली : वाणी प्रकाशन, तीसरा संस्करण, 2003, पृ. 65.
10. डबराल, मंगलेश. नये युग में शत्रु. नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 2013, पृ. 113-114.
11. डबराल, मंगलेश. घर का रास्ता. नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, तृतीय संस्करण, 2017, पृ. 42.
12. अम्बुज, कुमार. प्रतिनिधि कविताएँ. नयी दिल्ली : राजकमल पेपर बैक्स, तीसरा संस्करण, 2020, पृ. 31.
13. डबराल, मंगलेश. पहाड़ पर लालटेन. नयी दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन, 2014, पृ. 15.

■

गांधीवादी दर्शन और पर्यावरण संरक्षण

श्रीमती निशा शर्मा
सहायक प्राध्यापक, राजनीति विज्ञान विभाग,
शास. जे. योगानन्दम छत्तीसगढ़ महाविद्यालय,
रायपुर, छ.ग.

''पृथ्वी के पास हमारी जरूरतों के लिए पर्याप्त संसाधन हैं लेकिन हमारे लालच के लिए नहीं।'' ..... एम.के. गांधी

गांधीजी ने अपने जीवन में नैसर्गिक सिद्धांतों को अपनाया तथा प्रकृति के प्रतिकूल किसी भी अवधारणा को अनुचित ठहराया। खादी, अहिंसा, सफाई व स्वच्छता का उनका कार्यक्रम काफी रचनात्मक था। 1972 में स्टाकहोम सम्मेलन या 1992 के रियो पृथ्वी शिखर सम्मेलन जैसे सभी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन गांधीजी द्वारा पर्यावरण एवं इसके प्रभावों के बारे में उठाई गयी चिन्ताओं की तुलना में बहुत बाद में बुलाए गए थे। गांधीजी ने औद्योगिकीकरण को पर्यावरण विनाश का सबसे महत्वपूर्ण कारण बताया।

औद्योगिक क्रान्ति, उसकी कोख में जन्मा केन्द्रित पूंजी साधन, उद्योगवाद, विश्व युद्धों की त्रासदियां, विकास के नाम पर नव-स्वाधीन देशों में विकसित देशों के नाटकीय कार्यक्रम व परियोजनाओं का कार्यान्वयन आदि द्वारा कृषीय ढांचें का बेरहमी से औपनिवेशीकरण किया गया। गांधीजी का चिन्तन था कि ग्रामीण परिवेश के अनुरूप सरल प्रौद्योगिकीय सौन्दर्य ही मानवीय अस्तित्व के लिए उपयुक्त है।

गांधीजी का पर्यावरण दर्शन अहिंसा, स्वदेशी, सर्वोदय, शारीरिक श्रम, लघु व कुटीर उद्योग, ग्रामीण अर्थव्यवस्था, कृषिप्रधान जीवन, गौ-संरक्षण, बुनियादी तालीम, शौचालयों का निर्माण आदि मौलिक चिन्तन विभिन्न प्रकार से न केवल तात्कालीन मानव समाज एवं पर्यावरण को विशुद्ध रखने का प्रयास किया अपितु वर्तमान पर्यावरणीय समस्याओं के संदर्भ में भी मार्गदर्शन करने की क्षमता बनाये रखता है।

''मुझे प्रकृति के अलावा किसी प्रेरणा की आवश्यकता नहीं है। उसने मुझे अभी तक कभी असफल नहीं किया है। वह मुझे चकित करती है, मुझे विस्मित करती है, मुझे परमानन्द में भेजती है।'' ..... महात्मा गांधी

पर्यावरण शब्द का निर्माण परि एवं आवरण, दो शब्दों के योग से बना है। परि का अर्थ है—चारों ओर तथा आवरण शब्द का अर्थ है—ढका हुआ। इस प्रकार पर्यावरण शब्द का अर्थ है—चारों तरफ से ढकने वाला। इसके अन्तर्गत जल, ऋतुएँ, अग्नि, पर्वत, जीवजन्तु, वनस्पति, ग्रह-नक्षत्र, आकाश, दिशाएँ आदि सभी सम्मिलित हैं।

गांधी जी ने आज से 113 वर्षों पूर्व 1909 में कहा था कि ''पश्चिमी यूरोपियन देशों द्वारा अपनी सम्पन्नता और समृद्धि के लिए जो अंतहीन दौड़ लगायी जा रही है, वह भविष्य में इस धरती, पर्यावरण और प्रकृति द्वारा लाखों सालों से सहेजकर रखे गए प्राकृतिक संसाधनों के लिए अकथनीय खतरा बन जाएगा।''

गांधी जी प्रकृति के जरूरत से ज्यादा दोहन के भी धुर विरोधी थे। उनका मानना था कि हमें प्रकृति से आवश्यकतानुसार ही लेना चाहिए, उससे अधिक लेकर प्रकृति की बर्बादी नहीं करनी चाहिए।

गांधी जी का आश्रम संकल्प (जिन्हें गांधी जी के ग्यारह संकल्पों के रूप में जाना जाता है) ही वे सिद्धान्त हैं जिन्होंने गांधी की पर्यावरण संबंधी विचारधारा की नींव रखी।

हरित क्रान्ति, गहन पर्यावरण आन्दोलन, स्वदेशी विचार भी आधुनिक सभ्यता, औद्योगिकीकरण और शहरीकरण की निन्दा करते हैं। उनका कृषि और कुटीर उद्योगों पर आधारित एक ग्रामीण सामाजिक व्यवस्था प्राकृतिक संसाधनों का समझदारी भरे उपयोग पर आधारित है, न कि प्रकृति, नदियों व जंगलों की सुन्दरता के विनाश पर।

गांधी जी और नगरीकरण के दोष

गांधी जी के अनुसार बड़े पैमाने पर नगरीकरण, न केवल बेरोजगारी की ओर ले जाएगा बल्कि पर्यावरण का विनाश भी करेगा। हिन्द स्वराज में गांधी जी ने उन खतरों के बारे में चेतावनी दी जिनका आज समूचा विश्व सामना कर रहा है।

गांधीवादी दर्शन सतत् विकास के लक्ष्य को हासिल करने में भी महत्वपूर्ण है क्योंकि उन्होंने बड़े पैमाने पर उत्पादन के बजाए मानव द्वारा उत्पादन पर जोर दिया। शहरीकरण के संबंध में गांधी जी ने कहा—''यह गाँवों व ग्रामीणों के लिए एक धीमी लेकिन निश्चित मौत है।''

गांधी जी एवं सर्वोदय

सर्वोदय का अर्थ है 'सभी की प्रगति' यह सिद्धांत उन्होंने जॉन रस्किन की पुस्तक 'अंटू दिस लास्ट' से लिया। सर्वोदय ऐसे वर्गविहीन, जाति विहीन व शोषणमुक्त समाज की स्थापना करना चाहता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समूह को अपने सर्वांगीण विकास का साधन और अवसर मिले।

सर्वोदय की अवधारणा भी एक तरह से पर्यावरण नैतिकता व सतत् विकास के समान है जिसमें प्रकृति व अन्य जीवित प्राणियों के साथ सामंजस्यपूर्ण अस्तित्व को सुनिश्चित करने के लिए मनुष्य द्वारा विकसित किया जा सकता है। जिससे विश्व में लोक-कल्यणकारी भावना का प्रसार संभव हो सकेगा।

सत्य और अहिंसा और जैव संरक्षण

गांधी जी जैन धर्म से प्रभावित थे जो प्रकृति को एक जीवित इकाई के रूप में देखता है और मनुष्य को विविध जीवन रूपों का सम्मान करके खुद को लगातार शुद्ध करने के लिए प्रेरित करता है। गांधी ने शाकाहारी भोजन को सर्वश्रेष्ठ माना जो प्रकृति व मनुष्य दोनों के संरक्षण के लिए अति-आवश्यक है।

सत्य और अहिंसा का विचार व्यक्ति और समाज के लालच को कम करने के लिए उपयोगी हो सकता है। अहिंसा में गांधी जी ने सभी जीवित प्राणियों को शामिल किया जिसमें मनुष्य, पेड़-पौधे, जानवर सभी शामिल हैं। उन्होंने जीवों की शारीरिक व मानसिक दोनों ही पवित्रता पर जोर दिया। उनके अनुसार जब तक मानव एक-दूसरे के प्रति हिंसात्मक रूख अपनाएगा तो हम इस धरती के वनों और वन्य जीवों के प्रति भी हिंसक रूप अपनाते रहेंगे, जिससे वन और वन्य जीव दोनों ही विलुप्ति के कगार पर आ जाएँगे।

गांधी जी व सादा जीवन

मनुष्य की अशुभ मनोवृत्तियां, कर्त्तव्य विमुखता, स्वार्थी मनोवृत्ति, अवसरवादिता, भ्रष्ट आचरण से प्राप्त आय, असीमित इंद्रिय भोग, कुवासना व मनोविकारों से समाज के नागरिक पीड़ित होते हैं तो वह प्रकृति के प्रति क्रूर व हिंसक होकर उससे प्रतिक्षण लेता ही रहता है परिणामस्वरूप पर्यावरण शुद्धता व प्राकृतिक संतुलन भंग हो जाता है। उन्होंने समाज को संयम, सरलता, सादा जीवन और प्रकृति के प्रति प्रेमभाव रखने का संदेश दिया। गांधी के अनुसार व्यक्ति के संपूर्ण विकास के लिए उसको हाथों से काम करना बड़ा जरूरी है। गांधी जी के इस सिद्धांत में आधुनिक जीवन की समस्याओं का समाधान निहित है।

खादी व ग्राम उद्योग

औद्योगीकरण की समस्याओं से लड़ने के लिए गांधी जी ने खादी वस्त्र को प्राथमिकता दी, जिससे उत्पादन का विकेन्द्रीकरण तथा जीवन की आवश्यक वस्तुओं का समान वितरण निहित है। इससे ग्राम अपनी आवश्यकतानुसार उत्पादन करेगा जिससे ग्राम उद्योगों का विकास संभव हो सकेगा। चरखे को उन्होंने व्यावसायिक शांति का प्रतीक बताया। यदि हम केवल इस एक उद्योग को पुनः जीवित कर सके तो अन्य उद्योग स्वयं ही पुनः जीवित हो जायेंगे।

स्वच्छता व सफाई

गांधी जी पर्यावरण हेतु साफ-सफाई के कट्टर समर्थक थे। उन्होंने बताया कि सफाई का मतलब केवल आसपास का कूड़ा-करकट निकालकर बाहर डाल देना नहीं है बल्कि जिसे हम कूड़ा-करकट समझते हैं उसे साधारण सी प्रक्रिया द्वारा उत्तम खाद में परिवर्तित कर सकते हैं जिससे रासायनिक खाद और कीटनाशकों जैसे हानिकारक चीजों के उपयोग से बचा जा सकता है। स्वच्छता के लिए ही उन्होंने शौचालयों के निर्माण पर जोर दिया।

गांधी जी एवं पर्यावरण संरक्षण

गांधी जी की ऐतिहासिक दाण्डी यात्रा द्वारा प्राकृतिक संसाधनों पर आम लोगों के अधिकारों पर जोर दिया। नमक कानून तोड़कर व आम लोगों को नमक बनाने का अधिकार देकर उन्हें सशक्त बनाने का काम किया जो टिकाऊ विकास का केन्द्रीय मुद्दा है।

भारत में पर्यावरण के समर्थक चंडी प्रसाद भट्ट, सुंदर लाल बहुगुणा, बाबा आमटे व मेधा पाटकर गांधी जी से ही प्रेरित थे।

पानी की कमी के विषय में गांधी जी ने वनों की कटाई का विरोध किया तथा खाली भूमि में पेड़ लगाने की सलाह सभी रियासतों में दी।

वर्षा जल के संचय पर भी उन्होंने जोर दिया। 1947 में दिल्ली में प्रार्थना में बोलते समय उन्होंने वर्षा जल के प्रयोग की वकालत की तथा इससे फसलों की सिंचाई पर जोर दिया। किसानों पर 2006 में प्रस्तुत अपनी रिपोर्ट में स्वामीनाथन आयोग ने भी सिंचाई की समस्या को हल करने के लिए बारिश के पानी के उपयोग की सिफारिश की।

वायु प्रदूषण पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने कहा था कि उचित उपचार और उपायों के जरिए वायु प्रदूषण को रोकना स्थिरता व टिकाऊ विकास के लिए आवश्यक है। महात्मा गांधी ने 1913 में दक्षिण अफ्रिका में अपने पहले सत्याग्रह आन्दोलन के समय ही यह महसूस किया कि आधुनिक समाज में स्वच्छ हवा पहुँचाने में लागत आएगी। अपने लेख ''टू हेल्थ'' में भी उन्होंने साफ हवा की जरूरत पर रोशनी डाली।

एक पुस्तक सर्विसिंग द सेन्चुरी-फेसिंग क्लाउड कैओस में चार सिद्धांतों - अहिंसा, स्थायित्व, सम्मान और न्याय को इस सदी व धरती को बचाने के लिए जरूरी बताया है। ये सिद्धांत गांधी जी के जीवन के केन्द्र रहे।

अप्रैल 2007 के द टाईम्स के अंक में दुनिया को ग्लोबल वार्मिंग से बचाने के 51 उपायों में एक कम उपभोग, ज्यादा साझेदारी और सरल जीवन है। जो गांधी जी के रास्तों अपनाने के लिए सुझाये गये हैं।

उपर्युक्त तथ्य पृथ्वी को बचाने के लिए गांधी जी की मौलिक सोच, चिंतन व दर्शन में काफी महत्वपूर्ण व गहरे हैं। रामधारी सिंह 'दिनकर' ने गांधी जी के विषय में कहा—

"एक देश में बांध संकुचित करो न इसको
गांधी का कर्त्तव्य क्षेत्र, दिक् नहीं, काल है।
गांधी है कल्पना जगत् के अगले युग की
गांधी मानवता का अगला उद्विकास है।

संदर्भ :

1. एम. के. गांधी—गांधी की आत्मकथा : सत्य के साथ मेरे प्रयोग.
2. शर्मा, जे.पी., एन.के. शर्मा तथा श्रीकांत दुबे, पर्यावरण अध्ययन, लक्ष्मी पब्लिकेशन्स नई दिल्ली.
3. डॉ. उपेन्द्र प्रसाद, गांधीवादी समाजवाद, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली (2001).
4. जैन, रमेश, पर्यावरण मीडिया एवं कारण, सबलाइन पब्लिकेशन्स, जयपुर 2001).
5. रामचंद्र गुहा, "महात्मा गांधी और भारत में पर्यावरण आन्दोलन" अर्नें कलैंड और जेरार्ड पर्सून (संस्करण).

■

तुलसीदास के काव्य में प्रकृति चित्रण

नेहा विश्वकर्मा
शोधार्थी
राजीव गाँधी शा. स्ना. महाविद्यालय
अम्बिकापुर, छत्तीसगढ़

प्रकृति ने मानव जगत को एक ऐसे आवरण से घेरा है जहाँ वह जन्म से मृत्यु तक का सफर तय करता है,ऐसे वातावरण में मनुष्य अपना जीवन यापन करता है जहाँ उसकी हर मुलभुत आवश्यकताएँ पूरी होती है,साथ साथ लक्ष्यों को पूरा करने में यह प्रकृति भूमिका निभाती है। फादर कामिल बुल्के के अनुसार "पर्यावरण का अर्थ (Environs) घेरना, (Ment) वातावरण अर्थात अड़ोस-पड़ोस परिसर।"[1]

प्रकृति से मानव का अस्तित्व है,लगातार वह शिक्षित होने के साथ ही अपना सर्वांगीण विकास करता है। विजयदान देथा के शब्दों में—"प्रकृति मनुष्य की सबसे बड़ी यूनिवर्सिटी है। इस यूनिवर्सिटी से मनुष्य ने कितना सीखा है कितना सीखता चला जा रहा है और कितना सीखेगा—इसका न तो कोई पार है और न इसकी कोई सीमान्त रेखा ही।"[2]

प्रकृति से जुड़ा हर मनुष्य एक सकारात्मक उर्जा को अपनी ओर आकर्षित करता है। हमारी प्रकृति ने कई ऋषि मुनियों को अपने शुद्ध और शांत वातावण में तप और साधना करने हेतु सकारात्मक उर्जा प्रदान किया, प्रकृति के रूप में पशु व पक्षी नदी,पेड़, गुफायें, चाँद, सूर्य आदि ने मानव को अलौकिक शक्ति से जुड़ने का अवसर दिया है नदियों के तट पर किया गया तप अनेक प्रकार से पुण्य प्रदान करने वाला फलदायी बताया गया है,ऋषि मुनियों ने साधना और तपस्या हेतु पेड़ को मुख्य रूप से चुना।

परन्तु वर्तमान समय में प्रकृति बिखर चुकी है नदियाँ लगातार दूषित हो रही है, पेड़ो के कटाव ने पर्यावरण को चिंता का विषय बना दिया है। बेमौसम बरसात अत्यधिक ताप विभिन्न आपदायें व बीमारियों ने मानव जीवन को बेहाल कर दिया है,जो नदियाँ ऋषियों की तपस्या का मुख्य स्थल हुआ करती थीं वही आज गन्दगी से भरी हुई हैं, जो पेड़ साधना हेतु मुख्य थे वही पेड़ लगातार कटते जा रहे है आज की परिस्थिति इतनी गंभीर हो चुकी

है कि मानव कहीं भी सुरक्षित नहीं है असंतुलित वातावरण, बीमारी और आपदाओं की ओर धकेल रहा है।

अब यह प्रकृति हमें सकारात्मक उर्जा प्रदान करने में असमर्थ है। आज के साहित्य लेखन में प्रकृति लुप्त सी हो चुकी है, जो रस हमे प्रकृति देती है वह अब कविताओं कहानियों में नहीं मिलती है। आज मानव फिर से उस हरे भरे जगत में जाना चाहता है जहाँ के पेड़, नदियाँ, पर्वत, फूल, पक्षी आदि पूजनीय होने के साथ साथ आनंदित करने वाले हैं,सुख देने वाले हैं। बरगद पीपल नीम आँवला जैसे वृक्ष हिन्दू धर्म में मुख्य रूप से पूजे जाते हैं, प्रकृति अपनी सकारात्मक प्रवाह से मानव जगत को शांत व शुद्ध वातावरण प्रदान करती है। पग-पग पर उपदेशक की तरह और उद्दीपक की तरह भूमिका निभाती है।

ऐसी प्रकृति का सौंदर्य सिर्फ तुलसीकृत मानस में मिलता है, इसकी गोद में सूर्य का ताप आवश्यकतानुरूप हुआ करता है, वर्षा भी आवश्यकता अनुसार ही होती है, मिट्टी की सौंधी सौंधी खुशबु, समय के साथ साथ ऋतु परिवर्तन, नदियों का जलस्तर, आपदाओं की न्यूनता रहती है, सभी स्वस्थ और खुशहाल जीवन व्यतीत करते हैं यह एक ऐसा जगत है जहाँ पर्यावरण हर प्रकार से संतुलित और सामान्य है।

राम सहित सीता लक्ष्मण द्वारा 14 वर्षों का वनवास प्रकृति की गोद में बीता ,समय समय पर प्रकृति ने उन्हें आनंद और सुख प्रदान किया। राम सहित सीता, लक्ष्मण ने पथिक वेश में वाल्मीकि जी के आश्रम जाते हुए जो कुछ भी देखा वह आन्दित करने वाला है जिसे नीचे दी हुई पंक्ति से समझा जा सकता है—

1 प्रकृति का सुखदायक व आनंददायक रूप—

देखत वन सर शैल सुहाये। वाल्मीकि आश्रम प्रभु आये।।

रामदीख मुनि वास सुहावन। सुन्दर गिरि कानन जल पावन।।[3]

राम, वाल्मीकि जी के आश्रम पहुँचते हुए परिलक्षित प्रकृति की सुंदरता और उसके सौंदर्य को देखते हैं और आश्रम पहुँचकर वहाँ के सुन्दर पर्वत, पवित्र जल को देखते हैं,इस प्रकार तुलसी ने मानस में पर्वत, वन जल का उल्लेख किया है।

सरनि सरोज विटप वन फूले। गुंजत मधुप रस भूले।।

खग मृग विपुल कुलाहल करहिं। रहित बैर प्रमुदित मन चरहिं।।[4]

तालाब में खिलते हुए कमल, वन में वृक्ष फूल रहे है, फूलों पर भौरों की गुंजन जो कि रस में भूले हुए है। खग और मृग कोलाहल करते हुए बैर रहित होकर प्रसन्नता से फिर रहे है यह सब राम को प्रसन्न करते हैं।

इस प्रकार तुलसी ने मानस में प्रकृति का चित्रण सुन्दर ढंग से किया है जहाँ की प्रकृति राम को आनंदित करती है, वह फलते-फूलते हुए, फूलों में भौरों की गुंजार, पक्षियों की कोलाहल की आवाज, सरोवर में खिले पुष्प ने प्रकृति को आनंदित करने वाला बनाया है ऐसी प्रकृति सिर्फ तुलसी के रामचरित मानस में ही मिलती है—

2 प्रकृति का समायोजन-

नीलकंठ कलकंठ शुक चातक चक चकोर।

भांति भांति बोलहिं विहंग श्रवण सुखद चितचोर।।[5]

तुलसीदास ने मानस में पाँच प्रकार के पक्षी के साथ तीन ऋतुओं का अद्भुत समायोजन करके प्रकृति का मनमोहन रूप से चित्रण किया है, ये पाँच पक्षी शरद,ग्रीष्म,वर्षा इन तीन ऋतुओं को भोगने वाले है यह पाँच पक्षी जो कि अपने ऋतु अनुसार सदा ही उसमें वास करके प्रकृति के बीच ऋतुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

नव पल्लव फल सुमन सुहाए। निज संपत्ति सुर रुख लजाये।।

चातक कोकिल कीर चकोरा। कूजत विहंग नाचत कल मोरा।।[6]

एक तरफ नए नए पत्ते,फल फूल से पेड़ व पौधे सुशोभित है इन लदे हुए फलों और पुष्पों से सजे हुए पौंधों को तुलसी ने राम,जानकी की निजी संपत्ति कहकर प्रकृति को परिभाषित किया है, विभिन्न पक्षी जो कि चित को चुराने वाले वचन बोलते हैं, नीलकंठ कोयल तोता चकोर के साथ-साथ अन्य पक्षी भी विहंग करते हुए मीठे वचन बोलते हैं और अपने वचन से कानों को सुख प्रदान करते हैं।

तुलसी ने इस पंक्ति के द्वारा अनेक पक्षी के साथ ही साथ बदलते हुए ऋतुओं को प्रस्तुत किया है,इनके काव्य में प्रकृति इतनी फलती–फूलती हुइ है जो वर्तमान समय में देख पाना दुर्लभ है।

3 प्रकृति पालक के रूप में—

खग मृग परिजन नगर वन, वल्कल विमल दुकूल।

नाथ साथ सूरदास सम, पर्णशाला सुखमूल।। दोहा 74

कंद मूल फल अमिय अहारू, अवध सौंध शत सरिस पहारू।।[7]

सीता जी ने राम से कहा कि वनवास के दौरान खग-मृग परिवार होंगे, वन ही नगर के समान होगा, राम का साथ सुखदायक पर्णशाला होगा, कंद-मूल फल-फूल ही अमृत के समान आहार होगा और ऊँचे-ऊँचे पहाड़ अवध की तरह होगी, इस प्रकार ये प्रकृति ही हमें सब कुछ प्रदान करेगी।

4 प्रकृति के माध्यम से भावों,विचारों का उद्घाटन-

"हे खग मृग हे मधुकर श्रेनी।

तुम देखी सीता मृगनयनी।।"[8]

इस पंक्ति में तुलसी ने प्रकृति द्वारा पात्रों के दुःख, पीड़ा व भावों को प्रगट करते हुए चित्रित किया है, जहाँ राम, सीता के वियोग में व्याकुल होकर प्रकृति के विभिन्न खग मृग से अपने प्रिय के विषय में पूछते हैं और कहते हैं कि हे पक्षियो! हे पशुओ! हे भौंरों की पंक्तियों! तुमने कहीं मृगनयनी सीता को देखा है।

इस प्रकार प्रकृति के द्वारा अपने दुःख को प्रगट करते हुए बताया गया है,जहाँ पर सभी पक्षी-पशु, भौंरें इस घटना में उनके दुःख में उनका यह भाव समझते हैं।

"घन घमंड नभ गरजत घोरा।

प्रिया हीन डरपत मन मोरा।।"9

जो वर्षा संयोग की अवस्था में प्रिया के पास रहने मात्र से कितनी उल्लसित हो जाती है, वही वर्षा ऋतु वियोग की अवस्था में उद्वेग से भर जाती है। इस प्रकार से तुलसी नें प्रकृति के द्वारा मन के भावों और विचारों को प्रस्तुत किया है,यहां पर प्रकृति एक उद्दीपक की तरह पात्रों के भावों को उद्दीप्त भी करती है।

सुरेंद्रनाथ सिंह' के शब्दों में—"तुलसी ने प्रकृति के जिस उद्दीपनकारी रूप का चित्रण किया है उसमें मौलिकता न होकर परंपरागत शैली का ही निर्वहन है लेकिन उनका वैशिष्ट्य इस बात में है कि उन्होंने प्रकृति के अतिशयोक्तिपूर्ण और भड़कीले चित्रों का अंकन नहीं किया बल्कि सीधे-सादे ढंग से पात्रों की भावनाओं को स्पष्ट करने के लिए पृष्ठभूमि के रूप में उनका संयोजन किया है। उनका प्रयोजन है प्रकृति के माध्यम से पात्र की आंतरिक स्थिति का प्रकाशन करना जिसमें उन्हें पूरी सफलता मिली है।"[10]

5 प्रकृति का उद्दीपक व उपदेशिका रूप-

"पीपर पात सरिस मन डोला।"[11]

तुलसी की यह पंक्ति उद्दीपक का परिचायक है जहाँ तुलसी ने राजा दशरथ के मन को इस रूप में दर्शाया है। कैकयी के वचन को सुनकर राजा दशरथ का मन पीपल के पत्ते की तरह काँप उठता है—

"दामिनि दमक रह घन माहीं। खलकै प्रीति जथा थिर नाहीं।।

बरषहिं जलद भूमि नियराये। यथा नवहिं बुध विद्या पाये।।

भूमि परत भा ढावर पानी जिमि जीवहिं माया लपटानी।।"[12]

इस पंक्ति में तुलसी ने प्रकृति को उपदेशक की तरह चित्रित किया है जहाँ पर प्रकृति के माध्यम से उन्होंने अपनी बात प्रस्तुत किया है। वास्तव में प्रकृति चित्रण तथा उसके माध्यम से नैतिक उपदेश का सुंदर चित्रण रामचरित मानस में वर्षा ऋतु तथा शरद ऋतु वर्णन के समय हुआ है।

निष्कर्ष—इस प्रकार स्पष्ट है कि भक्तिकालीन कवि तुलसीदास ने रामचरित मानस में राम को आदर्श बनाकर प्रकृति के कण-कण को उपदेशक, उद्दीपक, आलम्बन रूप में प्रस्तुत किया है,तुलसी के पात्र जब प्रसन्न होते हैं, तब प्रकृति भी प्रसन्न होती है जब वह दुखी होते हैं तब प्रकृति भी दुखी होती है।

दृष्टव्य है कि तुलसी ने अपने मानस में प्रकृति रूपी जटायु पक्षी, वानरों की सेना,पम्पा सरोवर, पंचवटी, संजीवनी बूटी, चित्रकूट पर्वत, मैनाक पर्वत, पुष्प वाटिका, वाल्मीकि जी का सुन्दर आश्रम, शबरी के बेर आदि का उल्लेख किया है जहाँ सब कुछ मंगलदायक, सुखदायक है।

संदर्भ :

1. फादर कामिल बुल्के, अंग्रेजी हिन्दी कोश, प्रंसग 214
2. साहित्य और समाज—विजयदान देथा पृष्ठ सं.39
3. वही अयोध्याकांड पृ.सं. 121
4. वही अयोध्याकांड पृ.सं. 121
5. वही अयोध्याकांड पृ.सं. 131-132
6. बालकांड 240 पं.ज्वालाप्रसादजीमिश्रकृत संजीवनी टीका,रामायण,मुद्रक व प्रकाशक-खेमराज श्रीकृष्णदास,स्टीम प्रेस,बम्बइ,संवत् 2013, शके 1878
7. 450 अयोध्याकांड पं.ज्वालाप्रसादजीमिश्रकृत संजीवनी टीका,रामायण,मुद्रक व प्रकाशक—खेमराज श्रीकृष्णदास,स्टीम प्रेस,बम्बइ,संवत् 2013, शके 1878
8. रामचरितमानस—गोस्वामी तुलसीदास, अयोध्याकांड पृष्ठ 221, गीता प्रेस गोरखपुर
9. रामचरितमानस - गोस्वामी तुलसीदास, बालकाण्ड, पृष्ठ 107 गीता प्रेस गोरखपुर
10. तुलसी—प्रो. उदयभानु सिंह में सुरेंद्रनाथ सिंह का लेख पृष्ठ क्र. 105 राधाकृष्ण मूल्यांकन माला।
11. रामचरित मानस -किष्किंधाकांड 13-3

■

Ecopoetry and Sustainable Development

Dr. Nidhi Mishra
Assistant Professor, English
Govind Sarang Govt Law College
Bhatapara, Chhattisgarh

Ecopoetry and Sustainable Development both are deeply related to each other. Ecopoetry develops awareness among people about Sustainable Development through its nature poetry. Ecopoetry and Ecopoetics is a part of Eco literature which has come to vogue in the decades of 1970s and have further accelerated and branched out in 21st century. Eco literature basically puts nature in centre and creates literary themes around it. It recognizes the fact that humans are the cause of nature, environment and wild habitat. In its literary work it laments the gradual destruction of environment and eco system of earth and aims to bring awareness among people to this fact. Thus, as the name suggests, Ecopoetry too is concerned with nature destruction, manmade hazards and to bring awareness among the people to save the earth.

The Beginning of Ecopoetry

Ecopoetry has its beginningin Ecocriticism movement. Infact, Ecopoetry is an offshoot of Ecocriticism movement. Ecocriticism rejects anthropocentric view of world that 'man' is the center of the whole world and other elements revolves around it. Ecocriticism states that 'man' is merely a part of greater universe in which every element revolves around the Nature. Thus, Nature is the most integral and

Chief force of the Earth which sustains every element on the earth. The term 'Ecocricticism' was first coined by William Reuckert. in the year 1978, he published a landmark book called "Literature and Ecology: An Experiment in Criticism". Notably, Ecocriticism as a literary theory and criticism was first used by Glotfelty and Fromm. They defined the term Ecocriticism as "study of the relationship between literature and the physical environment" (Glotfelty and Fromm, 1996: xviii). Lawrence Buell with his work, The Environmental Imagination: Thoreau, Nature Writing, and the Formation of American Culture (1995) was then regarded as the center of contemporary ecocritical thinking.

In the past, Nature has always been a topic of discussion for poets. In the famous masterpiece poems of nature poets like John Keats, Wordsworth, Samuel T Coleridge, Robert Frost and many more we have seen romanticism and pantheistic theories and views of the poets. They have often rejoiced, celebrated, and worshipped nature as the observer. Interestingly, Ecopoetics does not assume the role of observer but would like to get entangled in the relationship with the nature. It sympathizes and empathizes with nature and atrocities that human have been inflicting on it since centuries in the name of development.

Ecopoetry : Addressing Environmental Issues

Earlier poets while creating bucolic settings and vivid imageries gave a glimpse of nature to their readers of its beauty. This may be also due to the fact that development pace, industrialization and subsequent environment destruction was not at that much of accelerated pace. However, recently, the postmodern and contemporary poets are fully aware of the destruction of environment due to development resulting in global warming, loss of flora fauna and other environmental hazards. Ecopoetics aims to address these issues through its literary works. For example, Ecopoet Charles Olson in his Eco poem "*The*

Kingfishers" talks about profound emptiness of human civilization due to destruction of nature:-

"The message is […]
is the birth of the air,
is the birth of water,
is a state between the origin and the end,
between birth and the beginning of another fetid nest is
change,
presents no more than itself." (*The Kingfishers,* Part I, Section 4: lines 22-32)

Then there is a highly remarkable poem by Niall Campbell, *The Day The Whales Beached* which does exactly this. The whales in the poem suffer untimely death inflicted by the selfish the humans. Unfortunately, unknown to humans the whales' deaths is actually the catastrophe of the humans' themselves. Ecopoet like Ed Roberson who had witnessed destruction of wilderness and wild life in Alaska predicts of apocalyptic future writes in his Ecopoetry "*Be Careful"* (1970) :-

"I must be careful
about such things as these.
the thin-grained oak.
the quiet grizzlies scared
into the hills
by the constant tracks squeezing
in behind them closer in the snow.
(Roberson in " *Be Careful* "1970)

Roberson after many decades return to the same place and pens down his experiences for his readers to make them aware of the accelerated environmental destruction, "watched ice was speed made invisible, / now — it's days, and a few feet further away" (*To See the Earth Before the End of the World, 2010).* Ecopoets have also criticised major developmental projects like Dam Building, cutting of forests for factories in developing and ' Third World Countries'. Ecopoet Robert Hass often writes about Rivers. in his poem Ezra Pound's Propositions (2007) poignantly reflects problems related to construction of Colossal Dams on Rivers resulting in displacement, destruction of forest and wild habitat. To quote Hass,

Here is more or less how it works:
The World Bank arranges the credit and the dam
Floods three hundred villages, and the villagers find their way
To the city where their daughters melt into the teeming streets,
And the dam's great turbines, beautifully tooled
In Lund or Dresden or Detroit, financed
By Lazard Frères in Paris or the Morgan Bank in New York,
Enabled by judicious gifts from Bechtel of San Francisco
Or Halliburton of Houston to the local political elite,
Spun by the force of rushing water,
Have become hives of shimmering silver
And, down river, they throw that bluish throb of light
Across her cheekbones and her lovely skin.

Thus, Ecopoet like warriors are trying to address as many as environmental issues and highlight them. Right from, destruction of environment, global warming, senseless killing, poaching of wild life, extinction of species, pollution of water resources to scarcity of food and poverty, Ecopoet are emphasizing these problems. They are jolting their readers to the fact that not much time is left . Their readers like world citizens should take front stage and save their only planet.

Conclusion

Ecopoetics reflects complex relationship between environment and humans and places man and culture within its ambit. It makes aware us aware of the ongoing onslaught on nature and subsequent. Teaching of Ecopoetry is very important in modern literature juxtaposition with old school poetry. Students who are representatives of future generation should be fully aware of consequences of destruction of the environment and take cognizance of the fact that we have only one earth to live.

Reference

Bate, J. (2000). *The Song of the Earth*, Cambridge, Mass., Harvard University Press.

Buell, L., Heise U., K., &Thornbar, K, (2011). Introduction: Literature and Environment. *The Annual Review of Environment and Resources*, No 36. 417-440, Literature and Environment |

Campbell, N. (2016). When the Whales Beached. In *First Nights: Poems* (pp. 26-26). Princeton: Princeton University Press. https://doi.org/10.1515/9781400883370-026

Glotfelty, C., & Fromm, E., eds. (1996). *The Ecocriticism Reader: Landmarks in Literary Ecology*., Athens: University of Georgia Press.

Hass, Robert. Ezra Pound's Propositions. https://www.google.com/url?q=https://www.internationalrivers.org/news/river-poems/&sa=U&ved=2ahUKEwjAq8bf7cj4AhXxTWwGHfz9Au8QFnoECAgQAg&usg=AOvVaw3kY8ZChc4Zn4hXMdppz4dX. Accessed on 25 June 2022.

Olson, C., (1949), *The Kingfishers, The Kingfishers by Charles Olson* | Poetry Foundation The Kingfishers by Charles Olson | Poetry Foundation. Accessed on 24 June 2022.

Ozdag, U. (2014). ÇevreciEleþtiriyeGiriþ: Doða, Kültür, Edebiyat. Ankara: ÜrünYayýnlarý, http:// yunus.hacettepe.edu.tr/~ozdag/Cevreci_Elestiriye_ Giris_Ufuk_Ozdag.pdf [Accessed Date: 25 June 2022]

Ozdag, U. (2005). EdebiyatveToprakEtiði: Amerikan DoðaYazýnýndaLeopold'cuDüþünce. Ankara: ÜrünYayýnlarý, http://yunus.hacettepe.edu. tr/~ozdag/Edebiyat_ve_Toprak_Etigi_Ufuk_Ozdag. pdf [Accessed Date: 25 June 2022].

Roberson, Ed. (1970). Be Careful. https://www.google.com/url?q=https://www.poetryfoundation.org/poems/89467/be-careful&sa=U&ved=2ahUKEwinv7vr7Mj4AhWsSmwGHTeYAEEQFnoECAEQAg&usg=AOvVaw3Rl0xkCaQ75jyRtHL6goC0. Accessed on 25 June 2022.

■

Conservation of some Medicinal Plants in Balrampur, C.G.

Laxmi Singh
PhD Research Scholar, Department of Botany,
Kalinga University Raipur
E-Mail : laxmisingh7712671@gmail.com
9340079120
Dr. Deepa Biswas
Associate Professor Head of Botany department
Kalinga University Raipur (C.G.)

The District Balrampur—Ramanujganj is located in the northern part of Chhattisgarh state in central India. It was carved out of the erstwhile Surguja district and came into existence on 17th January, 2012. The district shares its boundaries with the states of Uttar Pradesh, Jharkhand, and Madhya Pradesh and is spread out over a total land area of about 60.16 lakh hectares. The hilly and thickly forested terrains of the Satpuda hill ranges cover a large part of the district. Paddy and maize are the primary crops grown by farmers, while groundnut, wheat and gram are also grown in some irrigated parts of the district.In our Balrampur area plants are very useful source of various bioactive compounds which have direct or indirect use in the treatment of various human ailments. From the time immemorial, human civilizations have been exploring and using various plants and plant products to cure the deadly diseases.In view of extremely rich bio-cultural diversity. In the state and dependence of forest divellers for their health requirements

on medicinal plants the Government has declared chattisgarh "Herbal state" in July 2001.Chhattisgarh Forest Accordingly the Policy has specially provided for evolving a feasible mechanism for in *situ eksitu* and conservation, domestication, Propagation non- destructive harvest of medicinal plants with the active help and support from local people including traditional healers and vaidyas.

Balrampur is rich in its diverse natural plant resources. Most of the raw material from plants is extracted from wild resources for preparation of herbal formulations and the same are being used in health care systems. Due to the overexploitation of medicinal plants, a major part of phytodiversity is under threat, and to fill this lacuna conservation of medicinal and aromatic plants is one of the major step.Tribes of Balrampur play an important role in the environmental protection.This work concentrates on conservation of some traditional medicinal knowledge plants along with their therapeutic uses by local people of Balrampur district .The paper also reports the conservation method of some medicinal plantin Balrampur .This paper describes the significant role of ethnic people who have conserved the biodiversity in and around localities of their natural habitat since the beginnings of civilization. Plants are conserved by these ethnic and indigenous people that serve as a source of wild edible food in the form of roots, tubers, rhizomes, seeds, fruits and as agricultural and horticultural plants.

Methodology

Conservation of medicinal plant related field work was conducted in several tribal rich villages of our Balrampur district. Data on uses were recorded in the field from experienced people.Only information provided by the tribal people for these species was recorded. The Ethnomedicinal information was obtained from knowledgeable person, experienced people, medicine men and local inhabitants of the village, who have knowledge of plants for health and livelihood security at past time ,and current time also. The First hand information was

recorded during the field visits to the study area. Field work was done as per planned schedule of field visit. Information collected through questionnaire and personal interview on the spot was the basic source of the knowledge in the present study.Open questionnaire approaches was not possible to get relevant knowledge hence an informal conservation was adopted.All the informants were selected based on their knowledge. Plants are conserved in abandoned sites of shifting agriculture by tribals and also in sacred groves as in situ conservation of biodiversity and ecological restoration.Almost all medicinal plant species are commonly available in the area in last ten years but at present time many people are not aware about their importance. Some species are facing threats due to various reasons and require immediate attention for their conservation aspect.

A list of some medicinal plant -

S. N.	Botanical Name	Vernacular Name	Family	Medicinal Use in
1	*Adina cardifolia*	Karam	Rubiaceae	Chronic cough, Jaundice, Stomachache Fodder
2	*Andrographis paniculata*	Bhai-neem	Acanthaceae	Cancer, Diabetes, High Bp, Ulcer, Leorosy, Colic
3	*Anogeissus* latifolia	Dhaoura	Combretaceae	UTI infection ,Skin,liver, Epileptic Diseases,Fever,
4	*Argemone Mexicana*	Satyanshi	Papaveraceae	Tumors, Warts, Skin diseases, Leprosy, Maleria
5	*Asparagus racemose*	Satwar	Asparagaceae	Dysoesia, Constipation, Stomach spams, Ulcer
6	*Azadirachta indica*	Neem	Meliaceae	Treat Acne, Nourishes Skin, Treat Fungle
7	*Bambusa bambos*	Bass	Poaceae	Antiinflammatory, Astringent, Laxative
8	*Bauhinia variegate*	Koinar	Fabaceae	Antifungal, Antibacterial, pain, Swelling reducing
9	*Bombax ceiba*	Semal	Malvaceae	Reduse stomachache treat pimple and skin eruption
10	*Butea monosperma*	Parsa	Fabaceae	Fodder, Resin, Timber, Medicine and Dye

11	*Calotropis procera*	Aak	Asclepiadaceae	Skin disease, diarrhoea, jaundice
12	*Carissa carandas*	Karonda	Apocynaceae	Diarrhea, Constipation, Epilepsy, Maleria, Cough,
13	*Carissa carandas*	Karonda	Apocynaceae	Acidity, Indigestion, Skin diseases, Infected wounds
14	*Celastrus paniculatus*	Khajur	Celastraceae	Sciatica,Ascites, Appetite, Amenorrhea, Leucodrma
15	*Centella asiatica*	Beng sag	Apiaceae	Heal wound, Improve mental clarity, leprosy
16	*Chlorophytum borivillianum*	Safed Musli	Asparagaceae	Diabetes and Arthritis
17	*Cynodon dactylon*	Dub ghas	Poaceae	Stones, Snake bite ,Cancer Cough, Sores, Headache
18	*Cyperus rotundus*	Mathaghas	Cyperaceae	Diarrhea,Stomachache Maleria, Pyresis, Cough
19	*Datura stramonium*	Dhatura	Solanaceae	Dandruff, Intestinal pain,Toothache,Fever
20	*Dioscoria bulbifera*	Gaith kanda	Dioscoreaceae	Dysentery, Syphilis, Ulcer, Cough, Leprosy, Diabetes,
21	*Euphorbia hirta*	Doodhi	Euphorbiaceae	Asthama,Dysentery, Pimples,Digestive problem
22	*Ficus religiosa*	Peepl	Moraceae	Cough,Asthama,Diarrhoea, Migraine, Gastric problem
23	*Jatropha curcas*	Arandi	Euphorbiaceae	Toothach ,cough ,dycentry, diarrhea
24	*Macaranga peltala*	Dang Kanda	Dioscareacea	Haemoptysis, Cough, Fever, Dysentery
25	*Madhuca longifolia*	Mahua	Sapotaceae	In weakness, Emaciation, removing intestinal worm
26	*Phyllantus niruri*	Bhumi Aomla	Phyllanthaceae	Diabetes,Ulcers,Inflammation,
27	*Shorea robusta*	Sal (sarai)	Diptero-carpaceae	Treat wound,Ulcers,leprosy cough gonorrhea
28	*Swertia chirayita*	Chirayata	Gentianaceae	Maleria,liver disorder and diabetes
29	*Terminalia chebula*	Harra	Combretaceae	Mild laxative, Prokinetic agent, Stomachic,
30	*Withania somnifera*	Ashwagandha	Solanaceae	Reduce swelling, Lower Bp,Immune system

Result and Discussion

In present study 30 plants were found which belongs to 22 families. Above medicinal plant are conserve in their natural habitat by sacraed groves, Sarana dham, home garden and Semarsot sancturies. Balrampur district is mainly inhabited by different tribal communities whose main occupation is agriculture and collection of forest products. The socio economic data of the proposed study will be useful for the Government and non- Government bodies for the improvement of the condition and conservation of the Medicinal plants.

Conclusion

For medicinal plants with limited abundance and slow growth, destructive harvesting ,high rate of human population generally results in resource exhaustion and even species extinction .Therefore, the sustainable use of medicinal plants should be considered, and good harvesting practices must be formulated.Medicinal plants are globally valuable sources of herbal products, and they are disappearing at a high speed in future.Plant conservation is a broad group of activities which aim to prevent plants from becoming extinct. It includes the direct conservation of wild populations, collections of plants with gardens, educational programmes, invasive species control, recovery and restoration work, research programmmes, conservation related training.In this way triblal community of our Balrampur district protect patch of Sal tree by local pepple through their religious and cultural beliefs. People of Balrampur district play a very significant role in environmental protection.They are sensitive ,receptive,take care any advice, suggestion generously.

Acknowledgement

Authors very thankful to "Chhattisgarh vigyan sabha" team members,specially respected professor Dr. M.L. Nayak sir,Ranu Rathore mam, Vaidya Awasthi sir,Arjun shrivas sir,Dinesh sir and local respondens who share their medicinal plant knowledge with author very friendly.Authors also thankful to Khyati Chandra Om, Manoj Paikra and Mahendra Paikra for the exclusive photography and technical support

References

* Ethenobotanical Survey of Balrampur District with special reference to plants used by Koraku Tribes Ignace Kindo and S.John Britto[2015]
* Study of Ethno-Medicinal plants among the tribals of Sarguja region(C.G.) Anit Kumar Chatterjee[2014]
* Ethnobotanical survey of sarguja district with special raference plants used by uraon tribe in treatment ofrespiratory diseases, Swati Srivastava,V.K.Kanungo [2013]
* Assesment of knowledge of medicinal plants and their use in tribal region of Jashpur district of Chhattisgarh, India, V.K.Painkra,M.K.Jhariya,A.Raj[2015]
* An Ethenobotanical study of Medicinal Plants of Shivpuri District With Special Reference to Plants Used For Natal Health Care, By Poorti Chaturvedi .
* Herbaceous plants used by the tribes the treatment of human and animal diseases in the forest of Chaturgarh.
* Ethenopharmaecobotanical study on the medicinal plants used by herballist in Sulaymaniyah Province , Kurdistan, Iraq. Hiwa M. Ahmad.
* "Ethenobotanical Studies Of Murbad Tahasil , District Thane (Maharashtra)" By Surise Vilas Maruti .
* Ethenobotanical Studies Of Angiosperms of Aravally Hills , District Banaskantha, Gujarat State ,By Shri H.M. ANT
* Floristic And Ethenobotany of Dahanu Forest Division In Maharashtra State, ,By V . Badari Nath.
* Medicinal Plants Research in Pakistan Zabta K Shinwari.

* Medicinal Plants of Rural India : A Review of Use by Indian Folks .
* District Balrampur , Government of C.G. Anokha Balrampur / India Retrieved 27 January 2021.
* Balrampur District profile C
* Balrampur District C.G. State Government Archived from the original
* 2011 Census of India , Population by Mother Tongue
* Ethenobotanical Study of Medicinal Plants Used to Treat Human Diseases in Berbere District , Bale Zone of Oromia Regional State , South East Ethiopia.
* Studies On Medicinal Plant Wealth of Mirzapur District in Uttar Pradesh with special Reference to
* Conservation of Endangered And Vulnerable Species . By Neelam Singh.
* Studies on Medicinal Plants in Traditional Healing Arts Of South India , S. .Pandarasivan (Reg. No. 2165)
* Deogudi sacred grove. A tribal concept of conservation of plants in Bastar district C.G.
* Bio-diversity and conservation of medicinal and aromatic plants,Lakshman Chandra DeICAR-NRC for Orchids, India
* Conservation and sustainable use of medicinal plants: problems, progress, and prospects, Shi-Lin Chen, Hua Yu, [...], and Andre,Steinmetz
* The role of ethnic and indigenous people of india and their culter in the conservation of biodiversity, Rajiv Rai[1] and Vijendra Nath

■

पर्यावरण असंतुलन : 'जहाँ बाँस फूलते हैं' उपन्यास के सन्दर्भ में

लक्ष्मी के. एस.
शोधार्थी, हिन्दी विभाग,
श्री शंकराचार्य संस्कृत विश्वविद्यालय, कालडी, केरल

पृथ्वी पर मानव अथवा समस्त प्राणि जगत जिस वातावरण में जन्म लेते हैं, पलते-बढ़ते हैं या विकास प्राप्त करते हैं, हम उसे ही पर्यावरण या प्रकृति कहते हैं। जन सामान्य के लिए जो प्रकृति है, उसे विज्ञान की भाषा में पर्यावरण कहा जाता है। पर्यावरण का अर्थ परी + आवरण यानी हमारे चारों ओर जो भी वस्तुएँ हैं, जो हमारे जीवन को प्रभावित करती है, वे सभी पर्यावरण बनाती हैं। इसके अंतर्गत हमारे चारों ओर का परिवेश अर्थात वनस्पति प्राकृतिक पदार्थ, जीव-जगत आदि सब कुछ आते हैं। इन सब के बीच परस्पर सामंजस्य तथा संतुलन की स्थिति पर्यावरण को संतुलित रखने में सहायता करती है। इनमें प्रकृति के साथ मनुष्य का अटूट संबंध चिरकाल से रहा है। आरंभ में तो मनुष्य अपनी आवश्यकता के अनुसार जीवनयापन करता था, लेकिन आधुनिकता के प्रवेश से ही प्रकृति और मनुष्य की बीच की आत्मीयता टूटने लगी। इसका मुख्य कारण मनुष्य की बाज़ारवादी, पूँजीवादी, भौतिकवादी तथा उपभोक्तावादी मानसिकता है। इस स्वार्थपरक मानसिकता की ओर अग्रसर होने वाले मनुष्य प्रकृति पर प्रहार करने या आक्रमण करने लगें। इसके फलस्वरूप वनों का नाश करना, पेड़ों को काटना, जानवरों को मारना, बड़े-बड़े कारखानों का निर्माण करना, नदियों के जल को जहरीला करना, वायु, मिट्टी आदि को प्रदूषित करना, भू-संतुलन को बिगाड़ना आदि के कारण आज पर्यावरण संतुलन बिगड़ गया है। मानव अपने विकास के लिए पर्यावरण के सारे संसाधनों का उपयोग करता है, लेकिन इन संसाधनों का उपयोग हम किस रूप में करते हैं? कितनी गहराई से करते हैं? और कहाँ-कहाँ करते हैं? यह समाज में कितने उपयोगी सिद्ध होंगे? यह सारे प्रश्न पर्यावरण असंतुलन से जुड़े हुए हैं। सच कहें तो मनुष्य प्राकृतिक संसाधनों को अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति का साधन बना रहा है।

आवश्यकता से अधिक इन संसाधनों के दोहन से पर्यावरण असंतुलन की स्थिति पैदा हो रही है। अपने अल्पकालीन लाभ के लिए मानव प्राकृतिक संपदाओं का दोहन करता रहा है, उसनें कभी नहीं सोचा कि इससे वातावरण में अवांछनीय परिवर्तन आ जाएगा। ग्लोबल वॉर्मिंग, ग्रीन हाउस प्रभाव, गत वर्षों में तेजाबी वर्षा, विश्व का तापमान, ओजोन परत का अधःपतन, विस्तृत मरुस्थलीकरण तथा अनेक प्रजातियों का विलुप्तीकरण जैसी भयावह समस्याओं का पूरे विश्व को सामना करना पड़ता है। यह प्रकृति के साथ-साथ सर्व चराचरों के अस्तित्व को नजर अंदाज करते हुए सिर्फ अपनी प्रगति के प्रति चिंतित मानव के हस्तक्षेप से पर्यावरण संतुलन बिगड़ रहा है। अतः आज के संकट की घड़ी में पर्यावरण असंतुलन का मूल्यांकन बहुत ही जरूरी है, ताकि इसका लाभ समाज को मिल सके।

'पर्यावरण संतुलन' आज के समय में प्रासंगिक है और इसकी साहित्य जगत में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका है। सच कहें तो यह आज के सभी मानवीय मुद्दों में एक बहुचर्चित तथा समस्या प्रधान विषय है। यह वैज्ञानिक स्तर पर ही नहीं, बल्कि साहित्यिक जगत में भी चर्चित हो रहा है, और यह विषय हिंदी साहित्य में प्रासंगिक है। इसका पुनर्पाठ करने की सख्त ज़रूरत है। समकालीन हिंदी साहित्य में पर्यावरण का असंतुलन पर काफी चर्चा हो रही है। हिंदी की रचनाओं में लगभग सन् 1980 ई. से ही पर्यावरण की चर्चा शुरु हो गई थी। इसके फलस्वरूप मानव जाति के अस्तित्व पर प्रभाव डालने वाले प्रबल समस्या के रुप में साहित्य में पर्यावरण विज्ञान का उदय हुआ है। पर्यावरण विज्ञान में 'पर्यावरण संतुलन' की भूमिका विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि 'पर्यावरण संतुलन' विभिन्न जैविक-अजैविक प्राणियों एवं उनके प्राकृतिक वातावरण के बीच के संबंधों का वर्णन करते हैं और प्रकृति की इन सारी गतिविधियाँ एवं सबके अस्तित्व इस पर्यावरण संतुलन पर आधारित है। लेकिन आज विश्व पर्यावरण असंतुलन के प्रभाव से बहुत अधिक जूझ रहा है।

इस संदर्भ में इस पर्यावरण असंतुलन की ओर लोगों को ध्यान आकृष्ट करना तथा लोगों में पर्यावरण सजगता जगाने वाले साहित्यिक कृतियों का आज के समय में महत्वपूर्ण स्थान है। विश्व भर में आज इस तरह की कई रचनाएँ लिखी जा रही हैं। जिनके केंद्र में पर्यावरण और इससे जुड़ी समस्याएँ भी है। अपने समय से गहरे संस्पर्श के कारण समकालीन हिंदी उपन्यासों में मुख्य विषय के रूप में पर्यावरण असंतुलन का उभर आना सहज और स्वाभाविक ही है।

हिंदी साहित्य में प्रकृति को केंद्र में रखकर कई उपन्यास लिखे गए हैं। लेकिन समकालीन हिंदी उपन्यासों में प्रकृति और प्रकृति पर मानव अत्याचार और इसके फलस्वरूप उत्पन्न पर्यावरण असंतुलन को भी विषय के रूप में देखा जा सकता है। इसी संदर्भ में

पर्यावरण असंतुलन का अध्ययन और उसका प्रचार महत्वपूर्ण बन जाता है क्योंकि यह साहित्य एवं सामाजिक जीवन में बहुत प्रभाव डाल रहा है। इससे प्रेरित समकालीन युग के कई सजग उपन्यासकार पर्यावरण असंतुलन पर चिंतित हुए। वीरेंद्र जैन का 'डूब', संजीव का 'धार', मनमोहन पाठक का 'गगन घटा गहरानी', श्री प्रकाश मिश्र का 'जहाँ बाँस फूलते हैं', रणेन्द्र का 'ग्लोबल गाँव के देवता' आदि उपन्यासों में प्रकृति सम्पदा का शोषण और इससे उत्पन्न मानव सभ्यता की क्षतिग्रस्तता पर विचार करते हुए प्रतिरोध की जरूरत पर जोर दे रहे हैं। इन उपन्यसकारों में प्रकृति तथा आदिवासी के संबध को अच्छी तरह पहचानने वाले लेखक हैं श्री प्रकाश मिश्र। आदिवासी जनजीवन और उसके संघर्षों को उनके उपन्यास में मुख्य विषय के रूप में देखा जा सकता है। इसके साथ पर्यावरण संवेदना इनकी कृतियों में कूट-कूट कर भरी है। आदिवासी तथा पर्यावरण के अंतर्संबंध पर लिखे हुए उनके दो उपन्यास 'जहाँ बाँस फूलते हैं' (1996) और 'रुप तिल्ली की कथा' (2006) बहुत चर्चित एवं उल्लेखनीय हैं। इन दोनों उपन्यासों में श्री प्रकाश मिश्र ने पर्यावरण का चित्रण बड़ी सूक्ष्मता से चित्रित किया है। वे जिस दृश्य का चित्रण करते हैं वे पाठक के सामने चित्र की तरह उभरने लगते हैं। पर्यावरण सजगता उनके उपन्यास की मुख्य विशेषता है।

पर्यावरण और मिज़ोरम के संघर्ष को केंद्र में रखते हुए श्री प्रकाश मिश्र ने उपन्यास लिखा है 'जहाँ बाँस फूलते हैं' (1996ई.)। यह उपन्यास पर्यावरण असंतुलन की दृष्टि से भी विशेष चर्चित है। इस उपन्यास में श्री प्रकाश मिश्र ने पर्यावरण संरक्षण पर अधिक बल देते हुए उत्तर पूर्व की मिज़ो जनजाति के जीवन संघर्ष के आधार पर उनकी अस्मिता, स्वतंत्रता, सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं स्त्री शोषण की प्रक्रिया को प्रतिबद्धता और सहभागीदारिता के स्तर पर उद्घाटित किया जाता है। साथ ही वहाँ का इतिहास, भूगोल, संस्कृति, भाषा, जीवन चर्या, खानपान, प्रकृति, जंगल, पहाड़ व पशु-पक्षियों के जीवन की सार्थक प्रस्तुति व उपस्थिति उसे सार्थक एवं मूल्यवान स्वरूप प्रदान करती है। प्रस्तुत उपन्यास की कथा मिज़ोरम के छोटे-से डोपा गाँव पर आधारित है। सैंतीस अध्याय में विभक्त रचना की विषयवस्तु मिज़ो विद्रोह है। इस विद्रोह को स्पष्ट करते हुए इस उपन्यास के लेखक श्री प्रकाश मिश्र लिखते हैं ''यह उपन्यास ऐतिहासिक नहीं है। कहीं इक्का-दुक्का वास्तविक व्यक्तियों के नाम आए भी है, तो कथा को विश्वसनीय बनाने के लिए। अगर किसी के जीवन के टुकड़े से कोई अंश इत्तफाक रखना मिलेगा तो सिर्फ इसलिए कि कल्पना की दीवार कहीं-न-कहीं यथार्थ की बुनियाद पर ही बनती है। फिर भी यह उपन्यास आम पाठकों को पूर्वोत्तर भारत की समस्या को समझने की खासी सामग्री देगा।''[1]

पर्यावरण की दृष्टि से देखा जाए तो, प्रस्तुत उपन्यास में श्री प्रकाश मिश्र ने मिज़ोरम के प्राकृतिक वातावरण का चित्रण बड़े मनोयोग के साथ प्रस्तुत किया है। इस उपन्यास में वहाँ की पहाड़ियों की ऊँचाई, काटने का तीखापन, नदी का बहाव, आसमान की चमक, पानी का स्वाद, पेड़ों की छाव, लहराती फसल की खुशबू, भूख से एठते आदमी की आवाज, शिकारी की चालाकी, पशुओं का बर्ताव, नाचते पाँव, हवा की छुअन, धूप की गर्मी ये सारी चीजें कहीं-न-कहीं हमें नजर आती हैं। प्रस्तुत उपन्यास की मुख्य कथा मिज़ो विद्रोह से संबधित है लेकिन श्री प्रकाश मिश्र ने मिज़ो विद्रोह की इस कथा को केवल आदिवासी संघर्ष तक सीमित न रखकर पर्यावरण अंसतुलन को भी उजागर करते हैं। इस उपन्यास में दो तरह के पर्यावरण असंतुलन का चित्र दिखाई पड़ता है—एक तो प्रकृतिजन्य दूसरी मानवजन्य।

प्रकृति जन्य असंतुलन

प्रकृति जन्य असंतुलन का मुख्य कारण बाँस में फूल खिलना और इसके फलस्वरूप अकाल एवं जानवरों की संख्या में वृद्धि था। यह मिज़ोरम के समूचे पर्यावरण व जीव मंडल पर बेहद प्रतिकूल प्रभाव डालता है। मिज़ोरम का प्रमुख उत्पाद बाँस है। बाँस मिज़ोरम के जीवन और संस्कृति का अभिन्न अंग है और इसका इस्तेमाल धार्मिक अनुष्ठानों, कला और संगीत में भी किया जाता है। भौगोलिक क्षेत्रफल की तुलना करें तो मिज़ोरम में बाँस का सबसे बड़ा जंगल है। यहाँ तीन तरह के बाँस पाए जाते हैं और इनमें सामूहिक पुष्पन के दो अलग-अलग चक्र चल रहे हैं। मौजूदा सामूहिक पुष्पन को मिज़ो भाषा में 'मौतम' कहा जाता है। जबकि सन 2012 ई. में संभावित सामूहिक पुष्पन को 'थिंगतम' नाम से जाना गया। 'मौतम' के दौरान नीला कैना बम्बूसायडीज, लाजिरा पेयस प्रजातियों में पुष्पन संभावित है। मिज़ोरम में बाँस का फूल खिलना अकाल, विनाश और अपशकुन का प्रतीक माना जाता है। इसके लिए मिज़ो भाषा में 'माउटम' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

वास्तव में इस उपन्यास की मुख्य कथा माउटम नामक घटना से संबंधित है। इस घटना के अनुसार मिज़ोरम में हर 50 साल की अवधि के बाद बाँस फूलते हैं जिन्हें वहाँ के चूहे खाकर बहुत अधिक बच्चे पैदा करते हैं और मिज़ोरम में अकाल की स्थिति बन जाती है। मिज़ो जनजीवन पर आधारित प्रस्तुत उपन्यास में माउटम घटना को केन्द्र में रखकर 1968 ई. में 'लाल डेग विद्रोह' को बडी तीव्रता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इस उपन्यास के नामकरण का भी एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य है 'ये फूल बिरल आते हैं, लेकिन जब आते हैं तो प्रकृति नया असुतंलन पैदा करती है। चूहे इन फूलों को खाते हैं जिससे उनकी प्रजनन शक्ति असामान्य ढंग से बढ़ जाती है। लाखों की संख्या में पैदा हुए चूहे खेतों की फसल, घरों में रखा अनाज, फल, सब्जियों समेत जो सामने आता है, सब चटकर जाते हैं। साल

बीतते-बीतते अकाल पड़ जाता है। आदिवासी बड़े-बूढ़ों का कहना था कि अगले तीन साल में इस इलाके में ज्यादातर बाँस की कोठियों में फूल आएगा उससे पहले सारे बाँस यदि जला नहीं दिए जाते तो तबाही तय है।''[2] वास्तव में बाँस में पुष्पन अभी भी रहस्य बना हुआ है। क्योंकि बाँस में फूल आने की कोई निश्चित समयावधि नही होती। पारम्पारिक ज्ञान व वैज्ञानिक शोधों से ये तथ्य सामने आये हैं कि बाँस की विभिन्न प्रजातियों में विभिन्न समयन्तनराल में फूल आते हैं और यह समयावधि 40 से लेकर 90 वर्ष तक की हो सकती है। 'पूर्वोत्तर में ज़मीन पर जो कुछ भी है उसमें सबसे अधिक बाँस और सुपारी दिखाई देते हैं। बाँस यहाँ की जिंदगी में शरीर में खून ले जाने वाली धमिनयों की तरह शामिल है। मेघालय में सिंचाई की नालियों की तरह, मिज़ोरम के सुदर गाँव में बरसाती पानी को घर तक लाने वाली पाइप लाइन, नागालैंड में चाकू की तरह और कई इलाकों में तो थाली-कटोरी की भी तरह इस्तेमाल किया जाता है। उसके फूल के विध्वंस की ताकत भयानक है। यह बजती हुई बाँसुरी के अचानक किसी स्तर पर, गर्दन उतारने वाली तलवार में बदल जाने जैसा अजूबा लगता है।'[3] कुछ का कहना है कि केला, बिच्छी, केकड़ा, बाँस अपने जन्मे चारो नाश। अर्थात केला एक बार फल देता है। मादा बिच्छु को उसके बच्चे जन्मते खा लेते, उसी तरह बाँस का खिलना या बाँस में फूल आना उसके अंत का सूचक है। कुछ मिज़ो लोगों ने बताया कि जब बाँस की उम्र पूरी हो जाती है तो उसमें फल फूल आ जाते हैं। जब बाँस फूल देना आरंभ करता है तो उसकी पूरी की पूरी समष्टि में एक साथ पुष्प नहीं होता है। बाँस खिलने के बाद नष्ट होना शुरू हो जाता है और इन फूलों में बने बीज जो बहुत पौष्टिक होते हैं, चूहे के लिए सर्वोत्तम आहार है, नतीजतन चूहों की संख्या में अचानक वृद्धि होती है। बाँस के बीज खाकर ये चूहे घरों में, खलिहानों में, खेतों में घुसने लगते हैं। लोगों का अनाज खाते हैं, पानी की सप्लाई में इन चूहों की लाशें बहने लगती है जिससे लोग खाने-पीने के लिए तरस जाते हैं, साथ ही इन चूहों द्वारा तमाम तरह की बीमारियाँ भी मानव घरों तक पहुँचती है। ऐसी हालत में इन इलाकों में अकाल व दुर्भाक्ष के दिन आ जाते हैं। ऐसे हालत के कारण ही मिज़ोरम के सम्पूर्ण जीव मण्डल में अंसतुलन की स्थिति बन जाती है। यह एक सच्चाई है कि इस उपन्यास में प्रकृति जन्य असंतुलन के कारण उत्पन्न बाँस में फूल खिलना और इसके फलस्वरूप उत्पन्न विविध समस्याओं के कारण मिज़ोरम के पूरे जीव मंडल पर नकारात्मक प्रभाव डाला है। प्राकृतिक जन्य असंतुलन होने के मुख्य कारणों में अकाल एवं जानवरों की संख्या में वृद्धि पड़ना है।

अकाल

अकाल एक प्राकृतिक आपदा है। यह मूल रूप से दो कारणों से उत्पन्न होता है। एक कृत्रिम है तो दूसरा प्राकृतिक। इस उपन्यास में प्राकृतिक कारणों से अकाल की स्थिति

पैदा हो गई है। प्रस्तुत उपन्यास में बाँस के फूलने की परिघटना को अकाल की सूचना से जोड़कर देखा जा सकता है क्योंकि मिज़ोरम में जब बाँस फूलते हैं जिन्हें वहाँ के चूहे खाकर बहुत अधिक चूहे पैदा करते हैं और मिज़ोरम में अकाल की स्थिति बन जाती है। इस बाँस के फूल को अकाल के प्रतीक के रूप में प्राचीन काल से माना जाता है। प्राचीन काल से यह मान्यता थी कि बाँस में फूल आना, हल्की बारिश और लंबे समय तक गर्मी का प्रतीक है। इसी कारण मिज़ो लोगों के जीवन में अकाल एक भयावह पर्यावरण की समस्या की तरह है। क्योंकि मिज़ोरम एक कृषि प्रधान प्रदेश है और मिज़ोरम की अधिकतर फसलें वर्षा आधारित होती है। वर्षों बरसात न हो तो यह फसल नष्ट हो जाती है। इसलिए इस अकाल के कारण मिज़ोरम में कृषि उत्पादन की कमी, पशु संख्या में कमी, चारे की कमी आदि के कारण कृषि तंत्र पर भी विपरीत प्रभाव पड़ता है। इसके साथ स्थायी संपत्तियाँ (भूमि, मकान, जवाहरात) आदि को बचाने की मजबूरी, भुखमरी, रोग तथा कुपोषण से मृत्यु आदि पर प्रतिकूल प्रभाव हो पड़ता है। प्रस्तुत उपन्यास में मुख्य रूप से सूखे बाँस की समस्या ही आती है। अकाल के समय बाँस सूख जाता है। सूख जाने से बाँस का फूल अत्यधिक ज्वलनशील भी होता है। दो बाँसों के आपस में रगड़ने से इनमें भी आग लगने का भी खतरा रहता है। यह अन्य पौधे से सूर्य के प्रकाश को अवरुद्ध करता है। जिससे जंगल के विकास में बाधा उत्पन्न होती है। मुख्य बात यह है कि बाँस में फूल खिलने के कारण उत्पन्न इस अकाल की समस्या का प्रभाव मिज़ोरम की जनता तक सीमित नहीं बल्कि वहाँ के समस्त जीव मंडल पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

जानवरों की संख्या में वृद्धि

प्रस्तुत उपन्यास में प्रकृति जन्य असंतुलन के कारण आने वाली दूसरी समस्या है जानवरों की संख्या में वृद्धि। किसी एक स्थान पर जानवरों की संख्या अधिक हो जाती है, जिस कारण क्षेत्र के वन्य जीवन में विपरीत प्रभाव पड़ता है। वन्य जीवन पर्यावरण संतुलन और प्रकृति की विभिन्न प्रक्रियाओं में स्थिरता प्रदान करने वाले एक महत्वपूर्ण घटक है। यह प्रकृति में पर्यावरण संतुलन को बनाए रखने में मदद करता है। खाद्य श्रृंखला भी बनाए रखते हैं। ये खाद्य श्रृंखला प्रकृति में गतिशील है जो एक पारिस्थितिकी तंत्र के जैविक और अजैविक घटकों को जोड़ती है। एक जीव दूसरे को खाता है या दूसरे द्वारा खाया जाता है। जीवों का एक क्रम जो एक दूसरे को खिलाता है और ऊर्जा का स्थानांतरण एक खाद्य श्रृंखला बनाता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि इन खाद्य श्रृंखला में किसी प्रकार से असंतुलन पैदा हुआ तो पूरे पर्यावरण पर इसका प्रभाव पड़ता है।

'जहाँ बाँस फूलते हैं' उपन्यास में हम यह देखते हैं कि जानवरों की संख्या में वृद्धि होने के कारण पारिस्थितिक तंत्र एवं खाद्य श्रृंखला में असंतुलन की स्थिति पैदा होती है। इसका मुख्य कारण यह था कि मिज़ोरम में बाँस फूलते हैं तो उनमें बाँस के फूलों को चूहे खाते और इनसे बहुत सारे चूहे पैदा होते हैं। यहाँ चूहे की संख्या अधिक वृद्धि होने के कारण खाद्य श्रृंखला में असंतुलन पैदा होता है। इसकी मुख्य समस्या ही है कि जानवरों की अधिक संख्या तब होती है जब एक पारिस्थितंत्र मौजूदा वन्य जीवन का समर्थन करने में असमर्थ होता है क्योंकि किसी विशेष प्रजाति की संख्या बहुत अधिक होती है। इस अधिक आबादी वाली प्रजातियों की प्राकृतिक गतिविधियों में तनाव के कारण पर्यावरण को प्रभावित करती है। परिणाम स्वरूप पर्यावरण असंतुलन की स्थिति बन जाती है। प्रस्तुत उपन्यास में बाँस के फूल खिलने से चूहे की अधिक संख्या बढ़ती है। ऐसे कारणों से पर्यावरण असंतुलन की स्थिति बन जाती है। यह सिर्फ मिज़ो लोगों की समस्या ही नहीं वहाँ के जीव-जंतुओं एवं वनस्पतियों के लिए भी खतरनाक है।

ये सच है कि बढ़ते हुए जानवरों की संख्या की वजह से पर्यावरण असंतुलित हो रहा है। इस असंतुलन के प्रभाव से हुई अधिकांश समस्याओं का दुष्प्रभाव वन्यजीवों पर ही पड़ता है। जानवरों की संख्या में वृद्धि होने के कारण वन्य जीवों पर पड़ने वाली पहली समस्या के रुप में 'भोजन की कमी' आती है। जब एक ही तरह के बहुत से जानवर एक जैसे खाद्य स्रोत के लिए प्रतिस्पर्धा करते हैं, तो कई भूख से मर जाते हैं। दूसरों को भोजन की तलाश में प्राकृतिक आवास छोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ता है क्योंकि पारिस्थितिक तंत्र में जहाँ मांसाहारी मर जाते हैं या विलुप्त हो जाते हैं शाकाहारी संख्या में बढ़ने लगते हैं। यह अप्राकृतिक संतुलन पारिस्थितिक तंत्र और खाद्य श्रृंखला को नुकसान पहुँचाता है। दूसरी समस्या के रूप में 'रोग' आसन्न होता है। जंगली जानवरों की आबादी में बीमारी का उद्भव और पुनरुत्थान संरक्षण वादियों के लिए एक महत्वपूर्ण विषय माना जाता है, क्योंकि ये रोग प्रभावित आबादी की स्थिरता और कुछ प्रजातियों के दीर्घकालिक अस्तित्व को प्रभावित कर सकते हैं। मुख्य बात यह है कि बीमारियाँ उन जानवरों की अन्य आबादी में भी फैल सकती हैं जो अधिक आबादी वाले नहीं हैं। ये संतुलन को बिगाड़ते हैं और संभावित रूप से नाजुक प्रजातियों को नुकसान पहुँचाते हैं। यह पर्यावरण असंतुल की स्थिति बन जाती है। बढ़ते हुए जानवरों की संख्या के कारण तीसरी समस्या के रूप में 'आवारगर्दों' आते हैं। जब अधिक आबादी वाले जानवर भूख से मर रहे होते हैं, तो उन की सहज जीवित रहने की प्रवृत्ति उन्हें भोजन की तलाश में अप्राकृतिक स्थानों में भटकने का कारण बनती है। कई मामलों में अधिक आबादी वाले जानवर मनुष्यों की आबादी वाले क्षेत्रों में भटक जाते हैं। इसका कारण

यह था कि, उनका प्राकृतिक पारिस्थितिक तंत्र अब उनका समर्थन नहीं कर सकता है। परिणामस्वरूप पर्यावरण संतुलन नष्ट हो जाते हैं। इन सारी समस्याओं के कारण पारिस्थितिक तंत्र क्षतिग्रस्त हो जाते हैं। पारिस्थितिक तंत्र पर्यावरण का अविभाज्य समष्टि है क्योंकि पर्यावरण के सभी घटक आपस में अंतर्क्रिया करते हैं, यह सभी क्रियाएँ पारिस्थितिक तंत्र में संचालित करते हैं। प्रस्तुत उपन्यास में चूहों को बाँसों की भूख होती है, जो बाँस के पौष्टिक बीज उनकी प्रजनन क्षमता को बढ़ा देता हैं और चूहे की संख्या में अचानक वृद्धि हो जाती है। इन अधिक आबादी वाले चूहे के कारण मिज़ोरम की जनता एवं पर्यावरण को नुकसान पहुँचा है। इसलिए देखें तो अधिक जानवरों की संख्या में वृद्धि पारिस्थितिक तंत्र के लिए एक दुष्चक्र है क्योंकि खाद्य श्रृंखला जलमार्ग, भूमि आदि को प्रभावित करती है। इसके अलावा हमारे वातावरण में कार्बन डाइऑक्साइड या मीथेन जैसे बाहरी कारकों का वायुमंडल में प्रवेश होने की वजह से पारिस्थितिक तंत्र के संतुलन को नष्ट कर देता है, जो बदले में इसमें रहने वाले घटकों को भी बहुत प्रभावित करता है। इसका परिणाम ग्लोबल वार्मिंग, पानी की कमी, प्रजातियों का विलुप्त होना आदि है। वास्तव में कहें तो जानवरों की अधिक संख्या तब होती है जब एक पारिस्थितिक तंत्र मौजूदा वन्य जीवों का समर्थन करने में असमर्थ होता है क्योंकि उनकी प्रजाति की संख्या बहुत अधिक होती है। अधिक आबादी वाली प्रजातियों की प्राकृतिक गतिविधियों से तनाव के कारण पर्यावरण प्रभावित होता है। परिणामस्वरूप पर्यावरण असंतुलन पैदा हो जाता है।

मानव जन्य असंतुलन

पर्यावरण या प्रकृति में आये इस असंतुलन का एक कारण बाँस फूलने से संबंधित है, लेकिन दूसरी मुख्य वजह मानव जन्य विकास से पर्यावरण का संतुलन बिगड़ता रहा है। उपन्यास की दृष्टि से देखा जाए तो आदिवासी जनजीवन के संघर्ष की ओर लेखक उन्मुख होने के कारण पर्यावरण असंतुलन की मुख्य समस्या के रूप में मानव आते हैं। आज के जमाने में अधिकांश मानवजन्य समस्या ही झेलनी पड़ रही है। इस उपन्यास में भी यह दिखाई पड़ता है कि मिज़ोरम की मिज़ो जनजाति के जल, जंगल, जमीन के लिए उन पर होने वाले शोषण एवं शोषण के खिलाफ संघर्ष को बड़ी तीव्रता के साथ दिखाया गया है। इस उपन्यास का आरंभ ईसाई लूशइयों के इतवार के उत्सव से होता है और अंत इसके ठीक विपरीत मिज़ो विद्रोह में मारे गए विद्रोहियों के शोक से होता है। इस प्रकार मिज़ो विद्रोह के प्रमुख कारणों में बाँस के फूलने से आया दुर्भिक्ष भी रहा होगा। इसी तरह विकास की योजना बनाई है तो जरूर कुछ-न-कुछ इन मिज़ो जनजातियों का नुकसान होने का संकेत होगा। इसलिए एक जगह श्री प्रकाश मिश्र ने विकास के नाम से क्या समस्या है? उपन्यास के पात्र दोला

द्वारा मिज़ोरम की समस्या का विश्लेषण इस प्रकार किया गया है 'मिज़ोरम पिछड़ा है, गँवार है। दुखी है, दरिद्र है। इसे बदलना चाहिए। इसे बदलना तो वाई भी चाहता है। पर वाई भी दो है। एक तो सरकार है, जो नीति बनाती है: उन्हें वैसा ही छोड़ दो; सिर्फ़ उन्हे लिखाओ-पढ़ाओ और आरक्षण की बदौलत नौकरी दो। सुरक्षा के लिए ज़रूरी हो तो सड़कें बनवा दो। लोग बाक़ई भूखों मरने लगें तो थोड़ा अन्न पहुँचा दो। किन्तु इन्हें छेड़ों नहीं। एक विशाल गणतंत्र की विरासत 'एकता में अनेकता' के उदाहरण स्वरूप इनकी जीवन पद्धति अक्षुण्ण रखो। 'एन्थ्रोपोलोजीकल म्यूज़ियम के पीस' के रूप में। दूसरा, इस नीति को क्रियान्वित करने वाले बाइयों का दल है; जो विकास के लिए मिले पैसे अपनी जेब में रख लेता है, यहाँ का अदरक, चावल, मिट्टी के मोल ले जाकर अपने वतन में सोना बनाता है, यहाँ की सुरा-सुन्दरियों का उपभोग इस तरह करता है कि जैसे मिज़ोरम उसकी ज़मीनदारी हो, उपनिवेश हो और वह इस उपनिवेश का एक मात्र मालिक।'[4] उपन्यास का अंत कुछ इस प्रकार होता है कि मिज़ो विद्रोहियों की पराजय होती हैं, सरकार द्वारा शांति-वार्ता की चर्चा होती है लेकिन वह असफल हो जाती है। बहुत अधिक संख्या में विद्रोही मारे जाते हैं। जो बच जाते हैं वो जंगलो में चले जाते हैं।

विवेच्य उपन्यास में मिज़ो जनजाति एवं पर्यावरण के संघर्षमय वातावरण को चित्रित किया गया है। विकास की ओर अग्रसर होने वाले पूंजीपति लोगों के उपभोक्ता वृत्ति के कारण मिज़ोरम के पूरे जीव मंडल पर असंतुलन की स्थिति पैदा हो जाती है। मिज़ोरम का पहाड़ी पर्वतीय क्षेत्र होने के कारण बाज़ार एवं उपभोक्तावाद को भी बढ़ावा मिलने लगा, जिसकी वजह से वहाँ के प्राकृतिक संसाधनों का अधांधुध दोहन होने लगा। इसका यथार्थ चित्रण श्री प्रकाश मिश्र ज्वलंत समस्या के रूप में पाठकों के सामने प्रस्तुत करते हैं। श्री प्रकाश मिश्र ने इस उपन्यास में मिज़ो जनजाति की समस्याओं जैसे जमीन- जंगल पर अधिकार, नौकरी में जगह, ठेकेदार का शोषण आदि को जाहिर करते हुए उनको मुख्य धारा से जोड़ने की समस्या पर प्रकाश डाला है। एक तरफ वह उनका एन्थ्रोपोलोजीकल म्यूज़ियम बना कर रखना चाहती है तो दूसरी तरफ वह उनके आवास को उजाड़कर वहाँ की प्राकृतिक संपदा लूट कर विदेशियों के हवाले कर देना चाहती है। इससे विस्थापन, पर्यावरण विघटन, प्रदूषण, तथा पर्यावरण असंतुलन आदि समस्याएँ पैदा हो रही है। यह मनुष्य के अस्तित्व के लिए नहीं बल्कि हमारे जीव-जंतुओं और जैव सम्पदाओं के लिए भी खतरनाक है। केरल के विख्यात पारिस्थितिक कार्यकर्ता सी.आर. नीलकंठन ने कहा है—"मिट्टी जीवन की कोख है। मिट्टी के हर कण में पलने वाली खास वनस्पतियाँ हैं। एक ही कोख में भिन्न प्रकार के बीज अंकुरित नहीं होते हैं। लेकिन हम इसी के लिए अब भी प्रयत्नरत हैं।"[5] पर्यावरण और

विकास के बीच में संतुलन अनिवार्य है। अनियोजित विकास परियोजनाओं तथा पूँजीवादी मानवीय गतिविधियों से उत्पन्न पर्यावरणीय अंसतुलन के कारण आज ऐसी स्थिति हो गई है कि मनुष्य को सांस लेने के लिए स्वच्छ हवा, पीने के लिए साफ पानी तथा खाने के लिए शुद्ध भोजन भी नहीं मिल पा रहा है।

निष्कर्ष

श्री प्रकाश मिश्र का प्रस्तुत उपन्यास 'जहाँ बाँस फूलते हैं' में पर्यावरण सजगता के प्रति अधिक ध्यान देते हुए हमारे पर्यावरण बोध को जगाता है। इस उपन्यास की प्रमुख समस्या 'पर्यावरण असंतुलन' है। कैलाश बनवासी जी के शब्दो में, 'प्रकृति का संपूर्ण तंत्र एक मशीन की तरह है। मशीन का हर भाग उसके सुचारु कार्य संचालन के लिए महत्वपूर्ण है। पेड़-पौधे, प्राणी, कीड़े-मकौड़े, पक्षी, हिंसक जीव आदि सभी प्रकृति का महत्वपूर्ण अंग है।'[6] प्रकृति के इन अंगों में किसी एक का संतुलन बिगड़ता है तो प्रकृति का पूरा क्रियाकलाप असंतुलित हो जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो, 'पर्यावरण असंतुलन' किसी भी तरह हो, चाहे प्रकृति जन्य या मानव जन्य इसका प्रभाव पूरी श्रृंखला पर पड़ता है क्योंकि पारिस्थितिक तंत्र में किसी घटक पर मानवीय प्रभाव के कारण उस घटक से प्रभावित जीवन में असंतुलन पैदा होता है। वर्तमान समय में देखा जाए तो, पर्यावरण असंतुलन की समस्या अंतरराष्ट्रीय स्तर पर व्याप्त है। यह केवल भारत की समस्या नहीं, बल्कि पूरे विश्व और मानव जाति की समस्या है। इसलिए इसकी रोकथाम भी मानव से ही संभव है। कोई एक व्यक्ति या संस्था ही पर्यावरण को संतुलित नहीं बनाए रख सकती। हम सभी को मिलकर प्रयास करने होंगे और इसे संतुलित बनाए रखना हम सभी की सामूहिक जिम्मेदारी है। ऐसे संदर्भ में पर्यावरण और पर्यावरणीय अध्ययन और उसका प्रचार महत्वपूर्ण बन जाती है। ताकि लोगों की जागरुकता से ही देश के पर्यावरण को संतुलित बनाया जा सके।

समग्र रूप में कहें तो, श्री प्रकाश मिश्र का प्रस्तुत उपन्यास 'जहाँ बाँस फूलते हैं' में पर्यावरण से संबंधित कई विचारणीय मुद्दों को ईमानदारी के साथ उजागर किया गया है। ये हमें सजग बनाती है कि पृथ्वी का नाश पूरे जीवमण्डल का नाश है। इसलिए मानव जीवन के लिए सामाजिक भौतिक विकास के साथ पर्यावरण संतुलित रूप में अनिवार्य है। इस सच्चाई को आज अधिकाधिक लोग स्वीकार करने लगे हैं कि जब तक प्रकृति और पर्यावरण के प्रति हमारी सोच में परिवर्तन नहीं आता तब तक पर्यावरण असंतुलन की विभीशिका को समाप्त नहीं किया जा सकता है। इसलिए यह हमेशा याद रखना हैं कि, इस सृष्टि संरचना में प्रत्येक चीज़ एक दूसरे के पूरक है एवं एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व केवल कल्पना मात्र है। इसलिए प्रकृति एवं मानव सहित सभी जीवों के बीच पारस्परिकता एवं एकता की

उपस्थिति अनिवार्य है क्योंकि प्रकृति की सारी गतिविधियाँ एवं उसका अस्तित्व पर्यावरण संतुलन पर आधारित है। प्रकृति के साथ सहधर्मिता में ही सबका जीवन सुरक्षित होगा। यह सचेतना समय की माँग है। इसीलिए प्रकृति को सुरक्षित एवं स्वस्थ रखना अनिवार्य है।

मूल ग्रंथ

श्री प्रकाश मिश्र, 'जहाँ बाँस फूलते हैं', यश पब्लिकेशन्स, दिल्ली,
संशोधित संस्करण : 2011

संदर्भ :

1. श्री प्रकाश मिश्र, 'जहाँ बाँस फूलते हैं' प्राक्कथन से
2. डॉ. अहमद एम फिरोज़, वाङमय (त्रैमासिक हिन्दी पत्रिका), आदिवासी विशेषांक भाग-2, 2014, पृ.सं. 154
3. अनिल यादव, 'वह भी कोई देश है महाराज', अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद, 2012, पृ. सं. 47
4. श्री प्रकाश मिश्र, 'जहाँ बाँस फूलते हैं' पृ. सं. 36
5. सी. आर. नीलकंठन, 'पारिस्थितिदर्शनम', (सं.) प्रताप नतायाद्रु, पृ.सं. 237
6. कैलाश बनवासी, 'बाज़ार में रामधन' पृ. सं. 8

■